# गीता में मानव-धर्म तथा भक्ति-ज्ञान समन्वय

# गीतामें मानव-धर्म
# तथा
# भक्ति-ज्ञान समन्वय

•

प्रवचन :

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती जी महाराज

•

संकलन :

श्रीमती सतीशबाला महेन्द्रलाल जेठी

# प्रकाशकीय : आभार

दिल्लीस्थित श्रीलक्ष्मीनारायण ( बिरला ) मन्दिर में गत दो वर्षोंसे परम पूज्य स्वामीजीके प्रवचनका कार्यक्रम श्रीलक्ष्मीनिवास जी बिरला द्वारा आयोजित किया गया। प्रथम वर्ष प्रवचनका विषय था—'गीतामें मानव-धर्म और दूसरे वर्षका 'गीतामें भक्ति-ज्ञान समन्वय'। इन सभी प्रवचनोंका संकलन किया श्रीमती सतोशबाला महेन्द्रलाल जेठोने। अत्यन्त लगन और परिश्रमसे ही यह काम सम्पन्न हो पाता है। पं० श्री देवधर जी शर्माके पाण्डित्यसे परिमार्जित होकर यह और भी निखर आया। इन सबकी परम पूज्य श्री स्वामी जीमें बहुत-बहुत प्रीति है जिसके परिणामस्वरूप इस ग्रन्थका रसास्वादन सर्वसाधारणको कराने में हम सफल हो रहे हैं। इसलिए उन्हें भूरिशः धन्यवाद!

प्रवचनका आयोजन, संकलनकी प्रेरणा, सम्पादन, प्रकाशन और मुद्रण सभीमें श्री लक्ष्मीनिवास जी बिरलाकी महती रुचि, सद्भावना तथा आर्थिक सहयोग हमें प्राप्त हुआ। इसलिए हम उनके आभारी हैं।

—सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट

# नम्र निवेदन

गीताका थोड़ा-सा परिचय मुझे वचपनमें ही प्राप्त हो गया था। घरके धार्मिक वातावरणमें माता-पिता तथा अन्य गुरुजन जब उसकी चर्चा चलाते तब मैं उसको नासमझ होती हुई भी किसी पूर्वजन्मके सस्कारवश वड़े चावसे सुना करती थी।

गीता पढ़नेका सुअवसर तब मिला, जब महात्मा गांधीकी 'अनासक्ति-योग' नामक पुस्तक हाथ लगी। उस समय मैं स्थानीय इन्द्रप्रस्थ कालेजमें एम०ए०-की छात्रा थी। मुझे आध्यात्मिक साहित्यसे बड़ा लगाव था मैं उसका स्वाध्याय करती रहती थी। 'अनासक्ति-योग'में गीतापर गांधीजी जैसे कर्मयोगी महात्माकी टीका मुझे बड़ी मूल्यवान् प्रतीत हुई। उसके बाद गीताके प्रति मेरा इतना आकर्षण बढ़ा कि मैंने लोकमान्य तिलकके 'गीता-रहस्य' सहित अन्य अनेक उपलब्ध हिन्दी-अंग्रेजी गीतानुवादोंका स्वाध्याय कर डाला।

फिर भी न तो गीताकी गहराईमें मेरा प्रवेश हुआ और न उससे मेरे जीवनका नाता जुड़ सका—यह मैं निस्संकोच स्वीकार करती हूँ। इसका एकमात्र कारण मेरा अपना अज्ञान ही है।

इधर कुछ वर्षोंसे पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय सद्गुरुदेव स्वामी श्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराजके गीता, उपनिषद् तथा भागवत-सम्बन्धी प्रवचनोंको सुनने और संग्रहीत करनेका जो सुयोग मुझे मिलता आरहा है, वह 'मूक होइ वाचाल पंगु चढ़इ गिरिवर गहन'की लोकोक्ति सार्थक करनेवाला है। इससे मेरी प्रसन्नताकी सीमा नहीं है। मैं अनुभव करती हूँ कि मुझे यह अलभ्य लाभ साक्षात् भगवान्‌की वाङ्मयी मूर्ति गीतामाताकी अनुकम्पासे ही प्राप्त हो रहा है। उन्होंने ही वात्सल्यवश मेरे सिरपर अपने स्नेहाञ्चलकी शीतल छायाका विस्तार किया है और मुझे अपनी अभयदायिनी गोदमें ले लिया है। मुझे दृढ़ विश्वास है कि अब मेरा गीतामातासे जो प्रीत्यात्मक सम्बन्ध स्थापित हुआ है, वह जीवनके अन्तिम क्षणतक बना रहेगा और गीता-वक्ताका चरणाश्रय प्रदान करेगा। निस्सन्देह ऐसा सुख-सौभाग्य सद्गुरुदेवके अमोघ आशीर्वादका ही परिणाम होता है।

प्रस्तुत संग्रह महाराजश्रीके पिछले दो वर्षोंके प्रवचनोंका है। पहली बारका विषय था 'गीतामें मानव-धर्म' और दूसरी बारका विषय रहा 'गीतामें भक्ति-ज्ञान समन्वय'। दोनों बारके प्रवचन-यज्ञ स्थानीय श्री लक्ष्मीनारायण मन्दिरके विशाल प्राङ्गणमें सम्पन्न हुए और उससे राजधानीके हजारों स्त्री-पुरुषोंने लाभ उठाया।

दोनों प्रवचन-यज्ञोंका आयोजन किया आदरणीय श्री लक्ष्मीनिवासजी बिरलाने, जो विश्वप्रसिद्ध बिरला परिवारके यशस्वी सदस्य हैं, शिक्षाशास्त्री हैं, अपनी भारतीय सभ्यता-संस्कृतिके सम्पोषक हैं, लेखक हैं और सबसे बड़ी बात यह कि अपने अमरकीर्ति स्वनामधन्य पूर्वज श्रीजुगलकिशोरजी बिरलाके पावन पद-चिन्होंका श्रद्धा एवं निष्ठाके साथ अनुसरण कर रहे हैं। उन्हींके सराहनीय सौजन्यसे प्रकाशित होकर यह पुस्तक पाठकोंतक पहुँच रही है। इसके लिए उनके प्रति केवल कृतज्ञता-प्रकाश करना अपर्याप्त है। गीता-वक्ता भगवान्से प्रार्थना है कि उनके द्वारा इस प्रकारके लोकोपकारी धर्मानुष्ठान सतत सम्पन्न होते रहें।

महाराजश्रीके प्रवचनोंको टेप करके लिपिबद्ध करना और फिर उसे मुद्रण-योग्य बनाना आसान काम नहीं है—वह भी मेरी–जैसी अल्पज्ञ गृहस्थाश्रमी महिलाके लिए। किन्तु मेरे पतिदेवका प्रोत्साहन मुझसे यह सब करवा लेता है। हमारी दोनों सुपुत्रियाँ निवेदिता और मदालसा भी इस पुण्यकार्यमें न केवल मेरा उत्साह बढ़ाती हैं, बल्कि कभी-कभी हाथ भी बँटाती हैं।

यदि इस संग्रहके स्वाध्यायसे पाठकोंका कुछ भी ज्ञान-वर्द्धन हुआ तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूँगी। इसमें जो त्रुटियाँ हैं, वह सब मेरी हैं और उनके लिए मैं विज्ञ पाठकोंसे क्षमा-याचना करती हूँ। और, अन्तमें—

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।

गीताजयन्ती
सम्वत् २०३६
१५/२५ पूर्वी पंजाबी बाग
नयी दिल्ली–२६.

—सतीशबाला महेन्द्रलाल जेठी
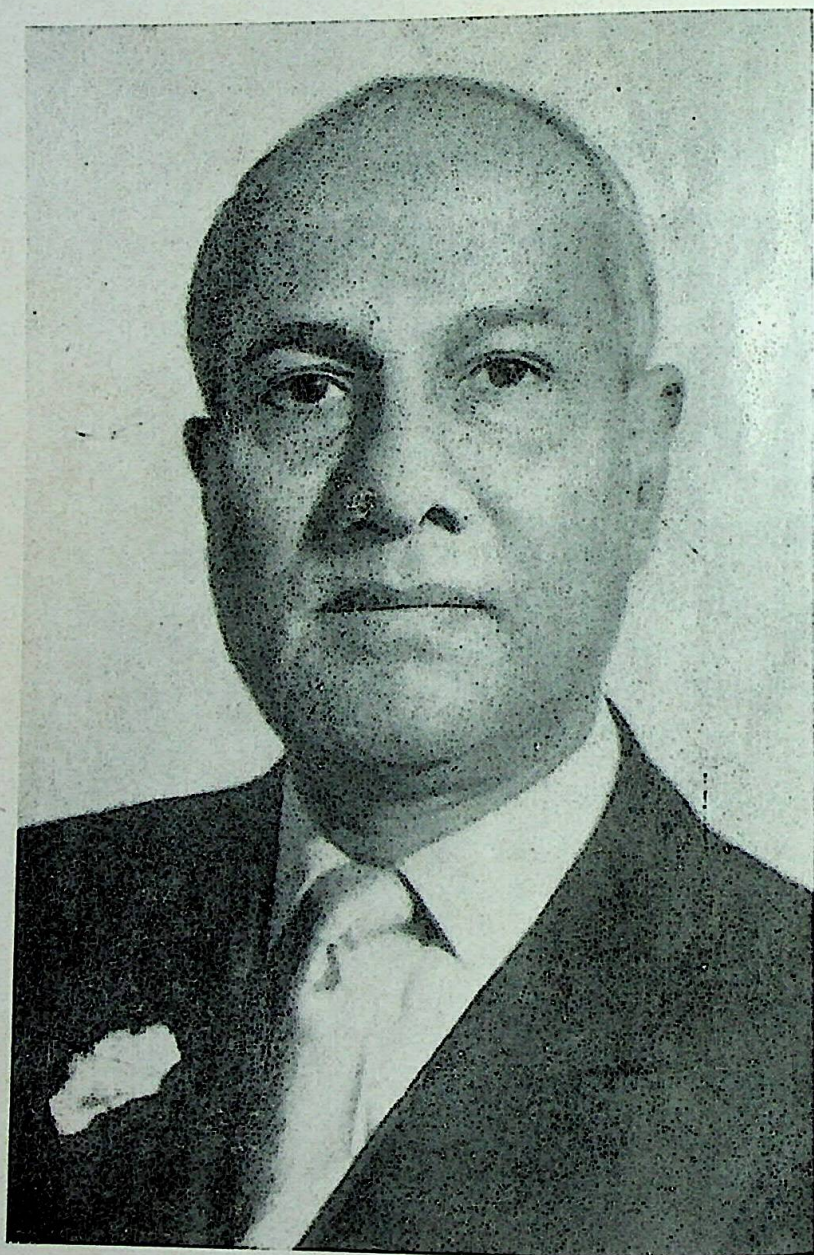
श्री लक्ष्मीनिवास बिरला

## प्रस्तुति

देवियो और सज्जनो !

हम लोग पूज्य स्वामी श्री अखण्डानन्दजीके बहुत आभारी हैं कि उन्होंने कृपा करके गीतामें मानव-धर्म विषय पर प्रवचन करना स्वीकार किया है। हमारा सौभाग्य है कि स्वामीजी महाराज जैसे प्रकाण्ड वक्ता गीतापर हमें कुछ प्रेरक विचार सुनायेंगे।

आध्यात्मिक साहित्यमें भारतवर्षका जो स्थान है, वहाँतक विश्वका कोई देश अबतक पहुँच नहीं पाया है। इसका कारण हमारे ब्रह्मसूत्र और उपनिषद् जैसे अमर साहित्य तो हैं ही उनका निचोड़ गीता भी है। इसलिए उक्त ग्रन्थोंमें भगवद्गीताको सम्मिलित करके 'प्रस्थानत्रयी' नाम दिया गया है। गीताकी महत्ता निम्न श्लोकमें दी गयी है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

सारी उपनिषदें तो गायें हैं। दूध दूहनेवाले गोपाल-नन्दन कृष्ण हैं, अर्जुन बछड़ा है और प्रत्येक जिज्ञासु इस महान् गीतामृत दूधका पान करता है।

वेदान्त वेदका अन्तिम अङ्ग है। केवल ब्रह्मज्ञानका उपदेश करनेके कारण वेदान्तको वेदका अन्त मथितार्थ अथवा निचोड़ बताया गया है। मुख्य उपनिषद् १० हैं और ये सब वेदोंके अंगभूत हैं, श्रुतियाँ हैं।

गीता अध्यात्मका उपदेश तो देती ही है, हमें रोजमर्राका व्यावहारिक ज्ञान सिखाकर हमारे जीवनको सोद्देश्य भी बनाती है। हम गीताके कुछ श्लोकोंको देखें तो इस बातको सरलतासे समझ सकेंगे।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥

कौरव-सेना तो पाण्डवोंसे करीब डेवढ़ी थी, फिर अपर्याप्त कैसे हुई? बात यह है कि वह कई भागोंमें बँटी थी। उसके साथ दूसरी-दूसरी सेनाओंका भी जमाव था। इसके अलावा कौरव-सेनाके वीरोंका संगठन भी ठीक नहीं था। कर्ण भीष्मपितामहके साथ लड़ना नहीं चाहते थे। द्रोणाचार्य कर्णको सूत-पुत्र कहकर हेय दृष्टिसे देखते थे और शल्य पाण्डवोंको विजयी होनेका आशीर्वाद देते थे। इस तरह कौरवसेनामें संगठनकी बड़ी कमी थी। दुर्योधनसे यह बात छिपी न थी। इसलिए उसने अपनी सेनाको अपर्याप्त बताकर सबको ताकीद की कि वे सब मिलकर भीष्मकी रक्षा करें।

बिना संगठनके किसी भी संस्थाका काम ठीक तरहसे नहीं चलता, चाहे वह व्यापारिक हो या जातीय परोपकारकी संस्था हो। कोई भी काम शुरू करनेके पहले संगठन होना आवश्यक है।

कोई भी काम करनेके लिए मनोबलका होना भी जरूरी है। यदि मनोबल न हो तो सफलता मिलना कठिन है। मनोबल पैदा करना नेता या व्यवसायके मालिकका काम है। किसीकी पीठ ठोंककर, अच्छे कामकी सराहना करके, काम करनेवालेकी दिक्कत समझकर उसके पूर्ण सहयोगके बिना कोई भी संगठन नहीं चलता। केवल यह मान लेना कि काम करनेवाला कुर्सीपर बैठा है, यह जरूर काम पूरा करेगा, धोखा है।

दुर्योधनकी तरफसे लड़नेवाले काफी बड़े-बड़े शूर-वीर थे। पर उसने दो चारको छोड़कर औरोंके बारेमें मान लिया कि वे मेरे लिए प्राणोंको त्यागकर लड़ेंगे। इसीको अंग्रेजीमें कहते हैं ( Taken for granted. ) उसने कहा—

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नाना शस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः॥

इसके सिवा अन्य भी अनेक शूरवीर हैं, जो तरह-तरहके शस्त्र चलानेमें निपुण हैं और वे सब मेरे लिए अपने प्राणोंका परित्याग कर देंगे।

इसके विपरीत अर्जुनकी तरफ भी काफी योद्धा जमा हुए थे। पर उनकी क्या दिक्कत हो सकती है और उनका कौन सामना करेगा—यह जानना उसने बहुत जरूरी समझा। उसने हृषीकेश श्रीकृष्णसे प्रार्थना की—

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत॥

हे अच्युत ! मेरे रथको दोनों सेनाओंके बीचमें ले चलकर खड़ा कीजिये।

कोई भी काम करनेके पहले दोनों तरफकी बातें समझ लेना बहुत आवश्यक है। केवल यह मानकर चलना कि काम हो जायेगा, गलत होगा। अर्जुनने तय किया कि दोनों सेनाओंके बीच खड़े होकर देखें कि कौन-कौन किससे लड़ता है ? उसने दोनों तरफकी बात समझनेकी कोशिश की और तभी उसे सफलता मिली।

एक पुरानी कथा है धर्मव्याधकी। यह व्याधका काम करता था—मांस बेचा करता था। पर वह इतना ज्ञानी था कि ऋषि-मुनि भी उससे ज्ञानका उपदेश लेने आते थे। एक मुनिके पूछनेपर उसने बताया कि व्याधका पेशा उसके बाप-दादा करते आये थे। इसलिए स्वधर्म समझकर उसने इसे अपनाया। किन्तु वह हत्याके लिए किसी भी जीवको नहीं मारता था। जितने माँसकी ग्राहककी माँग होती, उतना ही माँस वह लाता और खुद निरामिषभोजी था। अपने माँ-बापकी सेवा करता था और दूकानदारीमें यदि कुछ बचत होती तो उससे दूसरोंकी मदद करता था। यही गीता भी कहती है—

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्मज्यायोह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः॥

अपने धर्मके अनुसार नियत अर्थात् नियमित कर्मको तू कर। कर्म न करनेकी अपेक्षा नियत कर्म करना कहीं अधिक अच्छा है। बिना कर्मके तो शरीरका निर्वाह भी नहीं हो सकता।

कर्म जीवनपर्यन्त कभी बन्द ही नहीं हो सकता। नित्य-कर्म तो मनुष्यको करना ही पड़ता है। फिर यह कहना कि कर्मका त्याग कर दिया है, यह गलत होगा। कोई अपना पेशा बदल सकता है, किन्तु व्यापारीके घरमें एक व्यापारका वातावरण रहता है। उसके पुत्रके लिए व्यापार करना एक जानी हुई बात होगी। व्यापारीका पुत्र शायद ही सफल शिक्षक या डाक्टर बन सके; पर यह तो एक विस्तारकी बात हुई।

जीवनमें दिक्कतें तो आती ही रहती हैं। व्यापारमें भी उतार-चढ़ाव होता ही रहता है। ऐसे समयमें हिम्मत न हारकर दिक्कतोंका सामना करना ही धर्म है। श्रीकृष्ण फिर कहते हैं—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते॥

इसके अतिरिक्त, स्वधर्म यानी अपने कर्तव्यको देखते हुए भी हिम्मत हार बैठना उचित नहीं है। क्षत्रियके लिए धर्म-युद्धसे बढ़कर और कोई कर्तव्य नहीं।

जीवनमें युद्ध तो सतत चलता ही रहता है, चाहे वह वकील हो, डाक्टर हो या व्यापारी, काम जमानेके लिए युद्ध करना ही पड़ता है और ऐसे समयमें हिम्मतसे दिक्कतोंका सामना करना ही कर्तव्य है। जो सामना करनेमें नहीं हिचकिचाता, वही सफलता प्राप्त करता है।

जीवनमें सफलता पानेके लिए अपने आपपर नियन्त्रण करना भी आवश्यक है। जो मनके पीछे दौड़ता है, लोभ और क्रोधपर काबू नहीं रखता उसे धोखा खाना पड़ता है।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥

हे अर्जुन! जो व्यक्ति इन्द्रियोंको नियन्त्रणमें रखता है, मिथ्याचारियोंकी तरह सिर्फ इन्द्रियोंका हठपूर्वक दमन करके मन द्वारा विषयोंका स्मरण नहीं

करता रहता और अनासक्त होकर कर्मेन्द्रियोंको कर्मयोगमें लगाता है, वही विशिष्ट व्यक्ति कहलाता है।

मनपर अनुशासन करना कठिन तो है, लेकिन जीवनमें सफलता प्राप्त करनेके लिए यह आवश्यक है। आगे गीतामें फिर कहा है

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥

हे कौन्तेय! मनुष्य चाहे जितना ही यत्न करे, जितना ही विद्वान् हो, ये प्रवल इन्द्रियाँ बलपूर्वक मनको (विषयोंकी तरफ) खींच लेती हैं।

मनुष्यको जब किसी बातकी आसक्ति हो जाती है और जब काम नहीं बनता तो उसे क्रोध आने लगता है, किन्तु क्रोधमें वह बुद्धि खो बैठता है और भले-बुरेकी पहचान भी।

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

क्रोधसे सम्मोह अर्थात् अविवेक—मूढ भाव पैदा हो जाता हैं, सम्मोहसे स्मृतिमें भ्रम हो जाता है, स्मृतिमें भ्रम हो जानेसे बुद्धिका नाश हो जाता है और बुद्धिके नष्ट हो जानेसे मनुष्यका सर्वनाश हो जाता है।

क्रोध मनुष्यका सबसे बड़ा दुश्मन है। यदि काम न बने, तो ठंढे दिमागसे सोचकर निश्चय करना चाहिए। क्रोधसे और ज्यादा बिगाड़ होना सम्भव है।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयो व्यवसायिनाम्॥

हे कुरुनन्दन! इस कर्म-मार्गमें व्यवसाय-बुद्धि अर्थात् कार्य और अकार्यका निश्चय करनेवाली बुद्धिको एकाग्र रखना पड़ता है। जिनकी बुद्धिमें निश्चय नहीं होता, उनकी बुद्धि अनेक शाखाओंवाली और अनेक प्रकारकी होती है।

व्यवसायका अर्थ है प्रयत्न, व्यवसायात्मिका बुद्धिका अर्थ हुआ प्रयत्नपरक बुद्धि। यदि एकाग्र बुद्धिसे काम न किया जाय तो वह प्रयत्न सफल नहीं होता।

यहाँ एक प्रसंगका उल्लेख करना अनुचित न होगा। जब द्रोणाचार्य अपने शिष्योंकी परीक्षा लेने लगे तो उन्होंने एक पक्षी बनाकर पेड़पर टाँग दिया और

शिष्योंसे कहा कि उसकी आँखपर निशाना लगाओ। दुर्योधन आदि इस परीक्षामें उत्तीर्ण नहीं हुए। जब अर्जुनकी बारी आयी तब गुरुने प्रश्न किया—'अर्जुन, क्या दीखता है?' अर्जुनने बताया, 'पक्षीका सिर'। गुरुने कहा—'और निशाना साधो।' फिर पूछा—'अब क्या देखते हो?' अर्जुनने बताया—'पक्षीकी आँख' और तीर छोड़ दिया। तीर ठीक आँखके निशानेपर लगा। अर्जुनने अपनेको इतना एकाग्र कर लिया कि और कुछ दीखना बन्द हो गया। इससे इतना ही अर्थ लेना चाहिए कि बुद्धि दूसरी तरफ़ डाँवाडोल न हो। जिस कामको करना हो, उस विषयको एकाग्र बुद्धिसे सोचकर निश्चय करना चाहिए।

तस्माद् योगाय युज्जस्व योगः कर्मसु कौशम्।

इसलिए तू योग (कर्मयोग)में जुट जा। योगका नाम है सब कर्मोंको कुशलतासे करना।

स्वधर्ममें लगकर कुशलतासे जो काम करता है वह कर्मयोगी है और फिर अन्तमें—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धुनर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

जहाँ योगेश्वर कृष्ण हैं अर्थात् जहाँ धर्म है और जहाँ धनुषधारी अर्जुन है—केवल अर्जुन नहीं, 'धनुषधारी' अर्थात् कर्ममें रत—कर्म करनेवाला अर्जुन है, वहाँ श्री, विजय और भूति है। यहाँ विजयका अर्थ है कि हमारी वृत्तियाँ हमारे काबूमें हों और गलत काम न करें—श्री-भूति अर्थात् वैभव आता है। यही अचल नीति है, यही निश्चय मत है।

लेकिन यह सब तो हमारा अपना चिन्तन है, जिसको मैंने पूज्य स्वामीजीके सामने प्रस्तावनाके तौरपर प्रस्तुत कर दिया है। पूज्य स्वामीजीसे मैं प्रार्थना करता हूँ कि वे हमें गीतामें बताये हुए धर्मपर, विशेषकर मानव-धर्मपर कर्त्तव्य-कर्म सुझावें; जिससे कि हम लोग अपने जीवनमें सफल बनें और सुयशके रास्ते पर चलें।

—लक्ष्मीनिवास बिरला
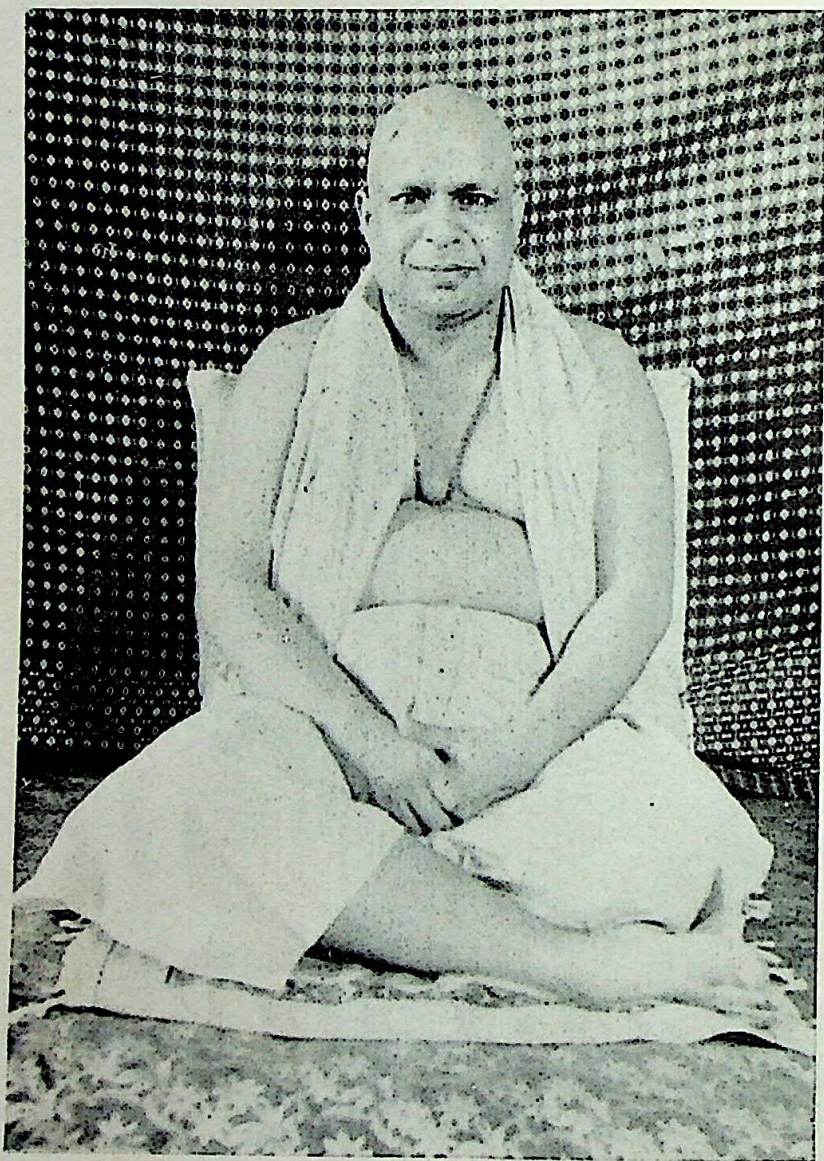
अनन्तश्री
स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती जी महाराज

# गीतामें मानव-धर्म

विश्वं दर्पण - दृश्यमान - नगरी - तुल्यं निजान्तर्गतं
पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया।
यः साक्षात्कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयं
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥

( दक्षिणामूर्तिस्तोत्र-१ )

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रसंग्रहैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥

नर और नारायण दोनों साथ-ही-साथ रहते हैं। नर माने जीव और नारायण माने उसके अन्तर्यामी प्रभु। श्रीशङ्कराचार्यने गीताके 'प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्धयनादी उभावपि'—इस श्लोककी व्याख्या करते हुए कहा है कि यदि जीव नहीं होगा तो ईश्वर किसका ईश्वर रहेगा—'जीवाभावे ईश्वराभावप्रसङ्गः।' प्रजा नहीं होगी तो राजा कैसा? इसलिए जीव और ईश्वर दोनों ही अनादि हैं और सदा एक साथ रहते हैं। इसीसे इनको सखा कहते हैं। सखा माने 'सहैव ख्यायते'—ईश्वरके साथ जीव और जीवके साथ ईश्वर—दोनोंकी ख्याति एक साथ होती है। जहाँ जीव है वहाँ ईश्वर है, जहाँ ईश्वर है वहाँ जीव है। दोनों एक ही चेतनके दो रूप हैं। 'सत्त्वमेकं द्विधा स्थितम्'—महाभारतमें कहा गया है कि एक ही सत्ता नर-नारायण दोनोंके रूपमें प्रकट है। मुण्डकोपनिषद्में कहा गया है कि 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते' (३.१.१) दोनों एक जातिके हैं, दोनों पक्षी हैं, दोनों मिले रहते हैं, दोनोंमें बड़ी मित्रता है और दोनों एक ही वृक्षपर निवास करते हैं। यह है नर-नारायणका स्वरूप और सम्बन्ध। मनुष्यका सखा ईश्वर है, ईश्वरका सखा मनुष्य है। जब जीव रास्ता भूलकर भटकने लगता है, तब ईश्वर उसको सँभाल लेता है। जब जीव ईश्वरकी कृपाका अनुभव नहीं करता तब उसके हृदयमें एक अभावकी अनुभूति होती है, वह व्याकुल हो जाता है, विक्षिप्त हो जाता है और फिर ईश्वर-ईश्वर-ईश्वर पुकारता है।

भगवद्गीता नर-नारायणका संवाद है। नारायण वह जो मनुष्यके हृदयमें निवास करे—'नारम् अयनं यस्य।' नार माने हृदय—'नरस्य इदं नारम् = हृदयः।' मनुष्योंके समूहका, जनताका नाम है नार—'नराणां समूहो नारम्।' वही जिसका निवासस्थान हो, उसे कहेंगे नारायण। नारका दूसरा अर्थ है जल—'आपो नारा इति प्रोक्ताः' (मनु. १.१०) जलके प्रत्येक विन्दुमें एक चेतनता होती है और वही अङ्कुरित होकर वृक्ष-लता, पशु-पक्षी, मनुष्य आदिके रूपमें आती है। वह नारायणका ही रूप है।

तो, नर-नारायण नित्यसखा हैं, किन्तु यहाँ गीतामें नारायणका वर्णन सारथिके रूपमें है। यह अद्भुत है। विश्वमें जितने भी मजहब हैं, जितने भी धर्म हैं, उन सबने नारायणको सिंहासनपर बैठाकर उनकी पूजा की है। वे नारायणको चाहे निराकार मानें चाहे साकार मानें, चाहे खुदा कहें चाहे गॉड कहें, लेकिन उसको जीवसे बहुत दूर बैठाकर उसकी पूजा करते हैं, आरती उतारते हैं। वह जीवसे बहुत बड़ा होता है, जीव उनतक पहुँच नहीं पाता, किन्तु गीताके नारायणमें एक विशेषता है। वे जीवसे बड़े नहीं हैं, जीव रथी है और ईश्वर सारथि है। यहाँ भगवान् जीवके सामने उससे भी छोटे होकर प्रकट होते हैं। वे कहते हैं कि जीव! केवल मैं ही बड़ा नहीं हूँ, तुम भी बड़े हो। एक अद्भुत बात देखो। सब लोग कहते हैं कि जीवन ईश्वरकी आज्ञाके अनुसार चलना चाहिए। परन्तु गीताके प्रारम्भमें आज्ञा देता है अर्जुन और उसका पालन करते हैं परमेश्वर। 'सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत'—अर्जुन कहता है कि कृष्ण, दोनों सेनाओंके बीचमें मेरे रथको स्थापित कर दो। ईश्वर बोलता है कि जो आज्ञा। मैं ईश्वर हूँ तो तुम परम ईश्वर—परमेश्वर हो, तुम रथी हो मैं सारथि हूँ। 'सारयति अश्वान् इति सारथिः'—जो घोड़ोंका संचालन करे उसका नाम होता है सारथि। उसके एक हाथमें घोड़ोंकी बागडोर है और दूसरे हाथमें चाबुक है। बागडोर उनको रोकनेके लिए और चाबुक उन्मार्गगामी होनेपर ताड़ना देनेके लिए। नियन्त्रणकी रज्जु बागडोर है और उनको दण्ड देनेके लिए चाबुक है। उपनिषदोंमें कहा गया है कि मनुष्यके इन्द्रिय घोड़े हैं, शरीर रथ है, जीव रथी है और बुद्धि सारथि है ( मुण्डक उप० १.३.३-४ ) जीव तबतक कुमार्गमें जा सकता है, जबतक अपने रथकी बागडोर भगवान्के हाथोंमें अर्पित नहीं करता। गीताके नरने नारायणके हाथमें अपने रथकी बागडोर अर्पित कर दी। यदि तुम नारायणके हाथमें अपने जीवन-रथके घोड़ोंकी बागडोर अर्पित नहीं करोगे तो वह बागडोर कामके हाथोंमें रहेगी, उनको कामना संचालित करेगी।

अब आप स्वयं देख लो कि आपके जीवनके संचालक सारथि या सहायक राम हैं कि काम है। जिसके जीवनके सारथि राम नहीं हैं, कृष्ण नहीं हैं, उसके जीवनका सारथि काम है। कर्णका सारथि शल्य है।

शल्य माने गाँसी, जो हृदयमें चुभ जाती है। वही कर्णके रथका संचालन कर रहा है और पाण्डवोंके प्रति, अर्जुनके प्रति उसको द्वेष है। इधर अर्जुनका संचालन कर रहे हैं साक्षात् नारायण। दोनोंके अधिकारमें बड़ा फर्क है। दुर्योधन कहता है कि मेरे लिए योद्धा मरते हैं तो सबको मर जाने दो—'मदर्थे त्यक्तजीविता:'। हम राज्य प्राप्त करेंगे, किन्तु अर्जुन कहता है कि—'येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च'—हमें अपने लिए तो कुछ चाहिए ही नहीं; न तो राज्य, न सुख और न भोग। यह सब जिनके लिए चाहिए वे तो मरनेके लिए तैयार हैं। जब वही मर जायेंगे तो मैं अकेला राज्य, सुख, भोग लेकर क्या करूँगा? इस प्रकार अर्जुनकी प्रवृत्ति लोकहितकी दृष्टिसे है और दुर्योधनकी प्रवृत्ति स्वार्थकी दृष्टिसे है। अर्जुन युद्ध करनेके पहले विवेक कर लेना चाहते हैं और दुर्योधन विवेकशून्य होकर केवल अपनी आज्ञाके अनुसार लोगोंको चलाना चाहते हैं—'भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि'—यह सबके लिए आज्ञा ही है। दुर्योधन सबको आज्ञा देते हैं, किन्तु अर्जुन कहते हैं कि मैं देखूँ तो सही, यह कौन-कौन आये हैं। उनको धर्माधर्मका विवेक उदय होता है।

मैं आपको गीताकी एक बात, केवल एक बात, सुनाता हूँ। वेदमें भी धर्मका, उपासनाका, योगका वर्णन है, परन्तु वेदका धर्म यज्ञशाला-प्रधान है। यह मैं कटाक्ष करनेके लिए नहीं, केवल तुलना करनेके लिए बोलता हूँ। वैदिक पद्धतिके अनुसार यज्ञशालामें बैठकर जो देवताओंके लिए हविष्यका हवन होता है अथवा संकल्पपूर्वक, विधि-पूर्वक दान होता है उसमें धर्मकी प्रधानता है। इसी तरह मन्दिरमें या एकान्तमें बैठकर की जानेवाली भगवान्‌की पूजा-उपासनामें भजनकी प्रधानता है और आसन-प्राणायाम आदिके द्वारा किये जानेवाले योगाभ्यासमें समाधिकी प्रधानता है। इन तीनोंसे विलक्षण जो वेदान्त है उनमें तत्त्वकी प्रधानता है। आत्मा क्या है, परमात्मा क्या है—इसका श्रवण करो, मनन करो, निदिध्यासन करो और फिर साक्षात्कार करो, यह वेदान्तकी पद्धति है। किन्तु गीता जिस धर्मका, उपासनाका, योगका अथवा ज्ञानका वर्णन करती है वह यज्ञशाला या एकान्तमें नहीं, लोकव्यवहारमें बैठकर होता है। गीताके धर्मका अनुष्ठान, गीताके कर्मयोगका अनुष्ठान केवल होम नहीं है, केवल व्रत नहीं है, केवल दान नहीं है। गीताका कर्मयोग तो हमारे जीवनके दैनिक कृत्योंमें, कर्त्तव्योंमें

सम्पन्न होता है। संसारका कोई भी मजहब हमारे लोकव्यवहारको इतना अन्तरङ्ग, इतना सूक्ष्म, इतना भगवन्मय बनानेमें समर्थ नहीं है।

अब मैं आपका ध्यान एक दूसरी बातकी ओर खींचता हूँ। लोग कहते हैं कि गीतामें धर्मका वर्णन है, परन्तु श्रीकृष्णने यज्ञ-यागादि रूप सकाम धर्मपर कितना कटाक्ष किया है, यह भी देखिये—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥

मनुष्यको स्वर्ग चाहिए। ऐश्वर्य चाहिए, भोग चाहिए। उसकी कामनाओंका अन्त नहीं है। परन्तु श्रीकृष्ण कहते हैं कि नहीं-नहीं, यह सब कुछ नहीं चाहिए। तुम अपने कर्त्तव्यका ठीक-ठीक पालन करो। इसी तरह समाधिकी बात देखो। गीतामें समाधिसे भी बड़ी एक वस्तु है और वह है समत्व। समाधि अपर योग है और समत्वका व्यवहार परम योग है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

समाधि लगानेवाला योगी योगी है और व्यवहारमें रहकर दूसरेके सुखमें सुखी तथा दूसरेके दुःखमें दुःखी रहनेवाला परम योगी है। दूसरेको सुख देने और दूसरेके दुःखका निवारण करनेके लिए प्रयत्नशील योगीको भगवान् श्रीकृष्णने परम योगी कहा है। जैसे दूसरेका दुःख वैसे ही अपना दुःख और जैसे अपना दुःख वैसे ही दूसरेका दुःख। इसी तरह जैसा अपना सुख वैसा ही दूसरेका सुख और जैसा दूसरेका सुख, वैसा ही अपना सुख। किन्तु केवल ऐसी दृष्टि बनानेसे ही काम नहीं होता। मनुष्य जैसे अपने सुखके लिए प्रयत्न करता है, वैसे ही उसे दूसरोंके दुःखका निवारण करनेके लिए भी प्रयत्न करना चाहिए। यही गीताका परम योग है। आपको किसी भी मजहबी ग्रन्थमें सबके साथ तादात्म्य-वाले योगका वर्णन बहुत कम मिलेगा।

अब देखो गीतामें मानवधर्मकी बात। पहले पूजाकी बात लो। गीताका पुजारी वह है जो पूजा कर रहा है भगवान्‌की, परन्तु मन्दिरमें नहीं, मनमें नहीं। उसकी पूजा न तो मूर्तिपूजा है और न मानसी पूजा है। वह भगवान्‌की पूजा अवश्य है, परन्तु अपने कर्मों द्वारा विलक्षण पूजा है। इसी तरह गीताका आध्यात्मिक व्यक्ति झोपड़ोका, कुटीरका वृक्षमूलका अथवा जंगलका निवासी नहीं है। वह तो कर्मभूमिमें लोक-व्यवहारमें रहकर आध्यात्मिक स्थितिकी चोटीपर पहुँचा हुआ है। इसी प्रकार गीताका ज्ञानी पुरुष भी ज्ञानकी चोटीपर, ज्ञानकी पराकाष्ठा-पर आत्मानुभूतिके शिखरपर पहुँचा हुआ है। परन्तु वह न तो समाधिमें है और न हिमालयमें है। वह तो घरमें है, लोक-व्यवहारमें है। अब देखो इन अवस्थाओंका जहाँ-जहाँ वर्णन है, वहाँ-वहाँ मानव शब्दका प्रयोग है—

> यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
> स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
> मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
> निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥
> ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
> श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः॥

गीतामें मानव वही है, जो भगवान्‌के मतका अनुष्ठान करता है; नहीं तो वह मनुष्य ही नहीं है। भगवान्‌के शब्दोंमें मानव वह है जो कर्मभूमिमें, संघर्षभूमिमें, युद्धभूमिमें रहकर अपने सारे कर्म भगवान्‌को अर्पित करके, वह भी मन ही मन—'अध्यात्मचेतसा और आशा-ममता छोड़कर—'निराशीर्निर्ममो भूत्वा' युद्ध कर रहा है—'युध्यस्व विगतज्वरः।' भगवान् कहते हैं कि यह मेरा मत है। जो मानव इसका अनुष्ठान नहीं करता वह सर्वज्ञान-विमूढ़ है, नष्ट है, अचेताः है।

अब देखो एक मानव तत्त्वज्ञानी भी है—

> यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
> आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥
> नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
> न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

गीतामें मनुष्य शब्दका प्रयोग कई बार आया है। मानुष शब्दका प्रयोग भी कई जगह है। मनुष्य लोक भी है, मानुषीतनु भी है, मानुषरूप भी है। पर अभी हम मानवकी ही चर्चा करते हैं।

पहले यह देखो कि हम पूजा किसकी करें, किसके द्वारा पूजा करें, कौन पूजा करें और पूजा करनेसे क्या प्राप्त होता है। इन सब प्रश्नोंका उत्तर एक ही श्लोकमें देख लो—

यतः प्रवृत्तिभूर्तानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

अद्भुत है गीताका ईश्वर। यह वेदान्तियोंका निर्गुण ब्रह्म नहीं है। आर्यसमाज, ब्रह्मसमाजका निराकार नहीं है। जो कुरान-बाइबिलमें जीवनसे बहुत दूर रहता है, वह नहीं है। जिसने एक बार सृष्टि बनाकर फेंक दी, वह भी नहीं है। यह ईश्वर तो वह है जो सृष्टिका कण-कण बनाकर सृष्टिमें ही रहता है। अतः उसी ईश्वरकी पूजा करनी चाहिए, जो विश्वसे अलग-अलग नहीं है।

अब आप ध्यान दो इस भगवद्वचनपर—'येन सर्वमिदं ततम्, यतः प्रवृत्तिर्भूतानाम्।' भगवान् सबके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे प्रवर्त्तक है, प्रेरक है और जैसे कपड़ेमें सूत होता है, वैसे ही सम्पूर्ण विश्वमें अभिन्ननिमित्तोपादान कारण अर्थात् उपादान कारण और समवाय कारणके रूपमें विद्यमान है और सर्वात्मक है। वह सर्वप्रेरक है अर्थात् चेतन है, अन्तर्यामी है और सर्वात्मक है अर्थात् सदात्मक है। जिस चीजको हम है-है-है बोल सकते हैं, वही भगवान् है।

कहनेका तात्पर्य यह कि ईश्वर केवल व्यापक ही नहीं व्याप्य भी है, केवल जगत्का कारण ही नहीं, कार्य भी है। वही मनुष्य है, वही पशु है, वही पक्षी है, वही धरती है, वही जल है, वही अग्नि है, वही वायु है, वही आकाश है। 'येन सर्वमिदं ततम्'—इसका अर्थ है कि ईश्वर हमारे जीवनसे दूर नहीं, हमारे जीवनमें अनुस्यूत है। हमारे चलनेमें है, हमारे करनेमें है, हमारे बैठनेमें है, हमारे सोनेमें है। यदि कहो कि ईश्वर कहाँ है तो कहाँ नहीं है? ईश्वर कब है तो कब नहीं है? ईश्वर क्या है तो क्या नहीं है? ईश्वर अभी है, यहीं

है और यही है। देश-कालका व्यवधान ईश्वर और हमारे बीचमें कभी होता ही नहीं। हमारे और ईश्वरके बीचमें पर्दा मनका है, भावनाका है, भ्रमका है, हमारे और ईश्वरके बीचमें कोई दूसरी चीज नहीं है। ईश्वरका स्वरूप चेतन भी है प्रेरक भी है। 'धियो यो नः प्रचोदयात् ( ऋग्वेद ३. ६२. १० ) वही प्रेरक है वही प्रकाशक है। 'यतः प्रवृत्ति-र्भूतानाम्'—सम्पूर्ण प्राणियोंकी प्रवृत्ति उसी से हो रही है। विच्छूमें विष वहींसे आता है, सबकी अपनी-अपनी प्रवृत्ति वहींसे होती है। जिसमें प्रवृत्ति होती है, वह कौन है ? 'येन सर्वमिदं ततम्'—वह तो सब है, कपड़ा है, सूत है, घड़ा है, माटी है, औजार है, लोहा है, आभूषण है, सोना है। ऐसा परमेश्वर जिसमें कालका, देशका, वस्तुका व्यवधान नहीं है, जो सर्वत्र, सर्वदेशमें, सर्वकालमें, सर्वरूपमें है, वही आपका उपास्य है। गीतामें जिस उपास्य भगवान्का वर्णन है वह यही है।

अब उसकी पूजा कैसे करें ? कौन-सा चन्दन लगावें ? कौन-सा अक्षत चढ़ावें ? कौन-सा फूल अर्पित करें ? क्या भेंट दें ? श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं कि ऐसे ईश्वरकी पूजा करनेके लिए पुष्प-अक्षत-चन्दन-नैवेद्यकी जरूरत नहीं है; वही फूलके रूपमें खिला है, वही गन्धके रूपमें फैल रहा है, वही अपना सौन्दर्य बिखेर रहा है। वही चन्दनकी लकड़ी बना, वही घिस गया वही सुगन्ध है। वही जलमें रस है—'रसोऽहमप्सु कौन्तेय'। वही प्रकाश है—'प्रभास्मि शशिसूर्ययोः। मनुष्यमें कर्म करनेका जो पौरुष है, वह वही है—'पौरुषं नृषु'। इसकी पूजाके लिए किसी पदार्थकी, द्रव्यकी, दक्षिणाकी आवश्यकता नहीं। उसकी अभ्यर्चा तो अपने कर्मसे करो—'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य।'

अब प्रश्न यह है कि वह कौन-सा कर्म है, जिससे भगवान्की पूजा होती है, क्या स्तुतिपाठ करें, घण्टी बजावें ? नहीं बाबा, जो काम तुम कर रहे हो उसीमें पूजा करो। भागवत धर्मका यही स्वरूप है कि हम जो काम कर रहे हैं, उसीसे भगवान्की पूजा करें। यह कैसे होगा ? यदि कोई आदमो सड़कपर झाड़ू लगा रहा है तो झाड़ू लगानेसे भगवान्की पूजा कैसे होगी ? कोई आदमी खेतोंमें फावड़ा चला रहा है तो फावड़ा चलानेसे भगवान्की पूजा कैसे होगी ? कोई दुकानदार दुकानमें बैठकर चावल-गेहूँ-कपड़ा बेच रहा है तो उसके द्वारा भगवान्की

पूजा कैसे होगी ? एक सैनिक हाथमें बन्दूक लेकर पहरा दे रहा है तो उसके भगवान्‌की पूजा कैसे होगी ? एक विद्वान् शास्त्रज्ञानके द्वारा, विज्ञानके द्वारा, चिन्तनके द्वारा, जगत्‌में जो हित निहित है उसका चिन्तन कर रहा है तो उसके द्वारा भगवान्‌की पूजा कैसे होगी ? कोई ब्रह्मचर्यका, कोई गृहस्थका, कोई वानप्रस्थका और कोई संन्यास-धर्मका पालन कर रहा है, तो भगवान्‌की पूजा कैसे होगी ?

इसका उत्तर है कि आप जो भी कर्म कीजिये—वस्त्र बनाइये, कोयला निकालिये, किसी भी कर्त्तव्य कर्मका, किसी भी धर्मका पालन कीजिये, अपने सुख-स्वार्थके लिए मत कीजिये। उसमें-से व्यक्तिगत सुख-स्वार्थकी भावना छोड़ दीजिये। ऐसा समझिये कि आपके प्रत्येक कर्म अथवा धर्मसे सर्वरूपमें परमेश्वरकी सेवा हो रही है। यदि आपने थोड़ी-सी धरती साफ कर दी, स्वच्छ कर दी तो अनुभव कीजिये कि आपने ईश्वरका पाँव पखारा, ईश्वरका पाँव धोया। क्योंकि यह भूमि भगवान्‌का चरणारविन्द है। भगवान्‌के चरणारविन्दका प्रक्षालनकी सेवा हो गयी। आप अपने कर्त्तव्यका पालन सर्वरूप भगवान्‌को सुख पहुँचानेके लिए, उनके अर्थकी सिद्धिके लिए कीजिये। आप वेद-मन्त्र बोलिये, वैदिक संस्कृतिका विस्तार कीजिये। आप हाथमें बन्दूक लेकर पहरा दीजिये, राष्ट्रकी रक्षा कीजिये, विश्वकी रक्षा कीजिये, उपद्रवी लोगोंको दण्ड दीजिये। परन्तु इस बातको बराबर ध्यानमें रखिये कि आपके कर्म द्वारा सबका भला हो, सबका हित हो, सबमें बैठे हुए ईश्वरकी पूजा हो। आप दुकानपर बैठकर गेहूँ, चावल, दाल, कपड़ा बेचिये, पर इसलिए नहीं कि आपकी तिजोरीमें बहुत सारा धन इकट्ठा हो जाये बल्कि इसलिए कि जिन्हें अन्न-दालकी आवश्यकता है उन्हें अन्न-दाल मिले, जिन्हें कपड़ेकी आवश्यकता है उनको कपड़ा मिले। सर्वरूपमें प्रकट होनेवाले भगवान् जहाँ जिस प्रकारकी सेवाकी अपेक्षा रखते हैं, वहाँ उस प्रकारकी सेवा-पूजाके लिए कर्म बदलनेकी नहीं, कर्मका दृष्टिकोण बदलनेकी आवश्यकता है। आप निरन्तर सजग रहिये कि किसके लिए कर्म कर रहे हैं। आपके कर्मका लक्ष्य क्या है ? 'कस्मै देवाय ?'

> यशो यशस्विनां शुद्धं श्लाघ्या ये गुणिनां गुणाः।
> लोभः स्वल्पोऽपि तान् हन्ति श्वित्रो रूपमिवेप्सितम् ॥

जिस प्रकार सुन्दर-से-सुन्दर शरीरमें जरा-सा कोढ़ होते ही सौन्दर्यका नाश हो जाता है, इसी प्रकार आपके कर्म चाहे कितने अच्छे हों, आपका यश चाहे कितना भी शुद्ध हो और आपके गुण चाहे जितने भी श्लाघ्य हों, परन्तु यदि आपमें लोभ है, व्यक्तिगत सुख-स्वार्थकी भावना है तो आपका कर्म, आपका यश, आपका गुण सब कुछ परिच्छिन्न सीमित क्षेत्रमें आजाता है। इसलिए आप अपनी सेवाके क्षेत्रको असीम बना दीजिये। आपकी सेवा सब कालमें और सब स्थानमें स्थित भगवान्‌की सेवा बने।

आप गीताकी विशेषता देखिये। जहाँ तान्त्रिक उपासना-पद्धतिमें, वैदिक उपासना-पद्धतिमें, स्मार्त्त और पौराणिक उपासना-पद्धतिमें एक विशेष प्रकारके कर्मको भगवान्‌की उपासना मानते हैं, वहाँ गीताका वक्ता न तो ईश्वरको किसी खास जगहपर सीमित करता है और न तो ईश्वरकी पूजाके लिए किसी खास कर्मको निश्चित करता है। वह यह नहीं कहता कि मेरी पूजा अमुक चन्दनसे करो अथवा अमुक सामग्रीसे करो, वह तो यह कहता है कि मेरी पूजाके लिए किसी भी खास वस्तुकी, खास कर्मकी आवश्यकता नहीं है। 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य' तुम जो कुछ करते हो उसीके द्वारा हमारी अर्थात् भगवान्‌की पूजा सम्पन्न करो।

अब प्रश्न उठा कि ऐसी पूजा कौन करे? ब्राह्मण करे, क्षत्रिय करे, वैश्य करे, शूद्र करे, स्त्री करे या पुरुष करे? अधिकारकी बात उठनेपर अनेक भेद हो जाते हैं। अमुक कर्म यज्ञोपवीतधारी कर सकता है, अमुक कर्म यज्ञोपवीतहीन नहीं कर सकता। अमुक कर्म स्त्री करे पुरुष नहीं, अमुक कर्म पुरुष करे स्त्री नहीं। कर्मकाण्डमें ऐसी व्यवस्था मिलती है। किन्तु गीता कहती है कि 'मानवः' उसमें स्त्री-पुरुषका, ब्राह्मण-क्षत्रिय, वैश्य-शूद्रका और शैव-वैष्णव-शाक्तका विभाग नहीं है, निराकारी-साकारीका विभाग नहीं है। अपने कर्मके द्वारा सर्वव्यापी सर्वात्मा भगवान्‌की पूजा करनेके लिए जाति-सम्प्रदाय या मजहबकी अथवा स्त्री-पुरुषके लिङ्गभेदकी जरूरत नहीं है। वर्ण या आश्रमकी आवश्यकता नहीं है, वहाँ अधिकारी-भेद नहीं है। यह पूजा तो 'मानवाः' मनुष्य मात्र कर सकते हैं। इससे क्या होगा? क्या कुछ कम फल मिलेगा? नहीं-नहीं, जो सिद्धि वैदिक धर्मसे अपने सम्प्रदायानुगत

या परम्परागत धर्मसे मिलती है, वही सिद्धि इससे प्राप्त होगी 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।'

देखो, जो मजहबके आचार्य होते हैं उनका दृष्टिकोण दूसरा होता है। आप लोग जानते हैं कि जितने भी मजहब हैं सब आचार्य-प्रधान हैं। आचार्योंकी प्रधानतासे ही मजहब या सम्प्रदाय चलते हैं। उन सबके अलग-अलग मत होते हैं। उन आचार्योंकी अपेक्षा श्रीकृष्णकी क्या विशेषता है, इसपर कभी आपने ध्यान दिया है? आचार्य कहते हैं कि हमारे अनुयायी बनो, हमारे चेले बनो, हमारा मन्त्र लो, हमारा देवता लो, हमारी पूजा-पद्धति लो तब तुम्हारा कल्याण होगा। यह भगवान्‌की वाणी नहीं, एक मनुष्य आचार्यकी वाणी है। एक देवता आचार्यकी वाणी है। भगवान्‌की वाणी तो वह होती है जो भगवान्‌से पैदा हुआ है, जिसमें भगवान् रह रहे हैं, जिसके कण-कणमें, रग-रगमें मन-मनमें, तन-तनमें भगवान् व्याप्त हैं, उन सबके कल्याणके लिए हो। जो वाणी केवल अपने अनुयायियों, अपने शिष्यों, अपने सम्प्रदायके लोगोंके कल्याणके लिए होती है, वह मनुष्यकी ही वाणी होती है। किन्तु भगवान्‌की वाणी 'त्रिगुणभावमयत्वात्' चाहे कोई तमोगुणी हो, रजोगुणी हो, सत्त्वगुणी हो, पशु हो, पक्षी हो सबके लिए होती है। श्रीकृष्णको तो कुत्ता भी नहीं भूला, कुत्ता खानेवाला भी नहीं भूला और उन्होंने कहा कि—

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।

गीता बोलते-बोलते भगवान्‌को याद आयी कि लोग कहीं कुत्तेको नीच न समझें। फिर बोले कि उसकी तो जातिगत नीचता हुई। उनको याद आया कि जो कुत्ता पकाकर खाता है, उस मांसभोजीको लोग जरूर नीच समझेंगे। इसलिए भगवान्‌ने उसकी भी याद की। वे कहते हैं कि श्वानका, श्वभोजीका भी कल्याण हो। उनमें भी समता देखो। यह है भगवान्‌की वाणी। भगवान्‌की वाणीमें सद्भाव है, चिद्भाव है, आनन्दभाव है। दो बातका ध्यान रक्खो—एक तो सबकी भलाई हो, दूसरे सबमें सच्चिदानन्दका प्रकाश हो। इस वाणीको बोलते हैं ईश्वरकी वाणी, भगवान्‌की वाणी। यह आचार्योंकी वाणीसे बिल्कुल विलक्षण होती है, सबकी भलाईके लिए होती है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

: २ :

मेरा विश्वास है कि आप लोग गीता पढ़ते होंगे। हमारे भारतवर्षके एक विद्वान् गये विदेशमें, सम्भवतः जर्मनीमें। वहाँ जिस विद्वान्से मिले, उसने इनसे गीताकी बात शुरू की। हमारे देशके विद्वान् तो बहुत बड़े थे, परन्तु इन्होंने गीता नहीं पढ़ी थी। विदेशी विद्वान्ने बताया कि मैंने नब्बे बार गीताका अध्ययन किया है। किन्तु तुम भारतीय होकर भी गीता नहीं जानते हो, तुम्हारा क्या पाण्डित्य है ?

अतः कोई भारतीय हो और गीता न जानता हो तो यह उसके लिए शर्मकी बात है ! आप गीता पढ़ते हैं तो बहुत अच्छी बात है। कभी-कभी कोई इतनी साधारण बात होती है कि उसपर नजर नहीं जाती। आपका ध्यान इस बातपर गया होगा कि एक अन्धा मनुष्य है जो युद्ध-स्थलपर जाकर न तो युद्ध देख सकता है और न वहाँ कोई विशेष बात होती, तो उसको सुन सकता है। वह अपने अन्धेपनके कारण विवश है वहाँ जानेमें, वहाँकी बात सुननेमें। परन्तु फिर भी गीताका सन्देश पहले उसीके पास पहुँचता है। इसे वक्ताकी करुणा कहो, लेखककी करुणा कहो, भगवती गीताकी करुणा कहो—जो अन्धेको भी अपनेसे वञ्चित नहीं रखना चाहती।

धृतराष्ट्र दोनों प्रकारसे अन्धे थे—उनके पास बाहरकी भी दृष्टि नहीं थी और भीतरकी भी दृष्टि नहीं थी। बाहरकी दृष्टि तो फूटी हुई थी ही, भीतरकी दृष्टि भी अपने परिवारकी, पुत्रोंकी ममताके कारण शून्य हो

गयी थी। वे बाहर-भीतरसे इतने अन्धे हो रहे थे कि ठीक-ठीक न्याय नहीं कर सकते थे। श्रीमद्भागवतमें कई प्रसङ्ग ऐसे आये हैं, जहाँ धृतराष्ट्र अक्रूरजीसे स्वीकार करते हैं कि मैं उचित-अनुचित समझता तो हूँ, कहता भी हूँ, परन्तु मेरी स्थिति ऐसी है कि जो उचित है वह कर नहीं पाता, क्योंकि मेरा हृदय ममतासे आक्रान्त है।

अब आप देखो। यदि आपको गीतामें मानव-धर्म ढूँढ़ना हो तो आप उसको अन्धेतक भी पहुँचाइये। यही गीताका मानवधर्म है कि अन्धेको भी गीता मालूम पड़नी चाहिए। जो लोग ममता-मोहमें फँसे हुए हैं, उनतक भी गीता पहुँचनी चाहिए। क्योंकि स्वयं भगवान् नारायणने इसका गान किया है। प्रेमकी बोलीको ही संगीत कहते हैं, प्रेमकी चालको ही नृत्य कहते हैं। जब आदमी प्रेममें भरकर चलता है तो उसके पाँव थिरकने लगते हैं और जब प्रेममें भरकर बोलता है तो उसकी आवाजमें संगीत आजाता है। यह गीता है। भगवान्के हृदयमें जब अर्जुनके प्रति प्रेमभावका उद्रेक हुआ तब उन्होंने गीताका गान किया। भगवान् कहते हैं कि—'भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्' अर्जुन, तुम मेरे प्यारे भक्त हो, मेरे सखा हो, इसलिए तुमको यह रहस्यकी बात सुनाता हूँ। 'इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्' तुम मेरे इष्ट हो इसलिए तुमको हितकी बात बताता हूँ।

अब देखो जीवके इष्ट भगवान् होते हैं तो भगवान्का इष्ट कौन है? जीव है। जीव भगवान्की प्रसन्नता के लिए पूजा करता है, यजन करता है, यज्ञ करता है, दान करता है। इष्ट शब्दका अर्थ होता है—देवपूजा, संगतिकरण, दान आदि। यह सब जीव करता है ईश्वरके लिए और ईश्वर किसके लिए करता है? जीवके लिए करता है। देखो, ईश्वरने धरती किसके लिए बनायी? अपने लिए कि जीवके लिए? पानी किसके लिए बनाया? अपने लिए या जीवके लिए? सूर्य-चन्द्रमा किसके लिए बनाया? अपने लिए कि जीवके लिए? यह जो हवा चलती है, किसके लिए चलती है? संस्कृतमें 'गन्धवाह' शब्द है। हवा सुगन्धको ला-लाकर पहुँचाती है, गन्धका वाहन करती है, इसलिए उसे 'गन्धवाह' कहते हैं। इसी 'वाह'को पलटनेपर 'हवा' शब्द बना। आप विचार करके देखो कि हवा हमारे साँस लेनेके लिए बनी है या भगवान्के साँस लेनेके लिए बनी है? साँस सबकी अलग-अलग है,

उसमें सुगन्ध-दुर्गन्ध अलग-अलग है, पर वायु सबमें एक है। इसी तरह जीव अलग-अलग हैं, उनके कर्म-संस्कार अलग-अलग हैं, परन्तु परमात्मा सबमें एक है। भगवान्‌ने आकाशकी सृष्टि अपने लिए नहीं, जीवोंके हितके लिए ही की है। क्योंकि जीव उनका भक्त है, सखा है, इष्ट है।

आप भागवत-धर्मको, भगवद्धर्मको देखें। उसमें-से मानव धर्म प्रकाशित होगा। जो परमात्मा वायुमें है वही साँसमें है। जो सूर्यमें है, वही इस मनुष्य शरीरमें है। वह एक है।

तो, अन्धेतक, ममतासे आक्रान्ततक गीता पहुँच जाये, यह भगवान्‌की करुणा है, भगवान्‌का प्रेम है। इसका वर्णन गीताके माहात्म्यमें आया है। आप गीता पढ़ते होंगे जरूर, तभी आप गीता प्रवचन सुननेके लिए यहाँ आये हैं। यदि किसी कारणवश नहीं पढ़ते हों तो जरूर पढ़ना, मेरे विश्वासको झूठा मत करना। भगवान् कहते हैं कि 'गीता मे हृदयं पार्थ।' अर्जुन, यह गीता मेरा हृदय है। इसका अर्थ है कि भगवान्‌ने अर्जुनको गीता नहीं दी है, अपना हृदय दिया है। यह उनका हृदय-दान है। गुरु अपने शिष्यको हृदय नहीं देता, शिष्यके हृदयको अपने व्रतमें स्थापित करता है। विवाहके समय वर वधूके हृदयका स्पर्श करके कहता है कि—

**मम व्रते ते हृदयं ददामि मच्चित्तमनुचित्तं ते अस्तु।**
**मम वाचमेकमनाः जुषस्व॥**

( पारस्कर गृह्यसूत्र १.८.८. )

'प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्'—हमारा और तुम्हारा मन एक हो जाये। तुम मेरी बातपर ध्यान दो, उसके अनुसार चलो।

श्रीकृष्णने वही मन्त्र अर्जुनके प्रति पढ़ते हुए कहा कि अर्जुन, मैं तुम्हें अपने हृदयका दान करता हूँ। वही हृदय व्यासदेवकी कृपासे सञ्जयको प्राप्त हुआ। सञ्जय राग-द्वेषसे मुक्त पुरुष हैं। 'सम्यक् जयति इन्द्रियाणि मनश्च' जो भलीभाँति मनपर, इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त कर ले वह सञ्जय है। राग-द्वेषसे मुक्त पुरुष ही यथार्थ विषयका वर्णन कर सकता है। नहीं तो वह वर्ण्य विषयपर अपने रागका रंग लपेट देगा, अपने द्वेषकी कालिमा चढ़ा देगा। जिसके हृदयमें राग-द्वेष है, वह निर्मल, उज्ज्वल वस्तुको भी अपनी वासनाके रंगमें रंग देगा। सञ्जयने राग-द्वेषपर विजय प्राप्त कर ली है। इसीसे वह गीता सुनकर ज्यों-का-

त्यों सुना सकता है। किन्तु आपका ध्यान इस बातपर गया होगा कि धृतराष्ट्रपर गीता-श्रवणका क्या प्रभाव पड़ा—इसका कोई उल्लेख नहीं है। सारी गीतामें इसकी कोई चर्चा नहीं है कि गीता सुनकर धृतराष्ट्रने उसको किस रूपमें ग्रहण किया ? परन्तु सञ्जयने अपनी ओरसे गीताका सार-सार, तात्पर्यार्थ सुना दिया है। सञ्जयका वचन है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

गीतार्थका ग्रहण शुद्धान्तःकरणमें ही होता है। दुर्योधन अपनी सेना देखकर उसको युद्धकी आज्ञा दे देते हैं, किन्तु अर्जुन पहले तो बीचमें अपने रथको स्थापित करवाते हैं, फिर दोनों ओरकी सेना देखते हैं और देखनेके बाद हानि-लाभका विवेक करते हैं। इस सम्ब्रन्धमें नीतिकारोंने कहा है—

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
(किरातार्जुनीय २.३०)

इसका अर्थ है कि मनुष्योंको कोई भी काम करना हो तो एकाएक बिना सोचे-विचारे नहीं करना चाहिए, क्योंकि अविवेक बड़ी-बड़ी आपत्तियोंको बुला लेता है और जो विवेक करके विचार करके कोई काम करता है, उसके पास सफलता अपने आप आती है तथा उसका वरण करती है, उसको वरमाला पहनाती है।

तो, पहली बात यह बतायी कि अर्जुन समत्वमें स्थित होकर, अपने मनमें पहलेसे कोई पक्ष न रखकर उचित-अनुचितका विवेक करता है और जब युद्धकी बात नहीं जँचती तब 'प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते' दोनों ओरसे हथियार चलनेकी विषम परिस्थितिमें भी वह युद्ध करनेसे इन्कार कर देता है। भले ही अर्जुनके सारथि श्रीकृष्ण हैं, युधिष्ठिर जैसे भाई लड़नेको तैयार हैं और दूसरी ओर भी पितामह द्रोणाचार्य जैसे योद्धा ललकार रहे हैं, लेकिन जब उसके विवेकने युद्धको स्वीकार नहीं किया तो उसने दृढ़तासे कह दिया कि मैं यह युद्ध नहीं करूँगा। आप सोचिये, देखनेमें लगता है कि यह अर्जुनकी कमजोरी है। परन्तु वह कहीं भी विवशताका अनुभव नहीं करता—न श्रीकृष्णकी विवशताका, न युधिष्ठिरकी विवशताका और न धर्मकी विवशताका। श्रीकृष्णने तो उसको डराया भी कि 'निन्दन्तस्तव सामर्थ्यम्' तुम्हारे जो दुश्मन हैं, वे

कहेंगे कि अर्जुनमें शक्ति नहीं है, सामर्थ्य नहीं है इसलिए वह युद्धसे भाग रहा है। इसपर मानो अर्जुन कहता है कि कहने दो, हमें लोगोंके कहनेकी परवाह नहीं है। हमें तो जो उचित प्रतीत हो, वही काम करना चाहिए। यदि लड़ना उचित है तो हम लड़ेंगे अनुचित है तो नहीं लड़ेंगे। परन्तु हम लोगोंकी निन्दासे डरकर औचित्यका परित्याग कर दें, यह हमारे लिए उचित नहीं है।

अब देखो, इस एक ही बातपर तीन दृष्टियाँ। यह अर्जुनकी दृष्टिसे क्या है, श्रीकृष्णकी दृष्टिसे क्या है और सञ्जयकी दृष्टिसे क्या है? केवल एक घटना उपस्थित हुई कि अर्जुन युद्धसे विमुख हो गया। इसपर सञ्जय यह नहीं कहते कि यह अर्जुनका कश्मल है या कार्पण्य है, या उसकी मूर्खता है, क्योंकि उनकी दृष्टि सत्पुरुषकी दृष्टि है। वे यही कहते हैं कि 'तं तथाकृपयाविष्टम्'—अर्जुनके हृदयमें कृपाका आवेश हुआ। उसने सोचा कि इतने लोग मरेंगे, इतनी बड़ी हिंसा होगी, इसलिए उसके हृदयमें लोगोंपर जो कृपाका, दयाका निवास है वह उमड़ी। परन्तु साथ-ही-साथ सञ्जय यह मानते हैं कि यह कृपा अर्जुनका आवेश ही है—'आविष्टम्'। यह कृपा धर्मपर, सत्यपर, यथार्थपर आश्रित नहीं है, आवेशपर आश्रित है। इसलिए यह कृपा निवृत्त हो जायेगी। सञ्जयने इस कृपाका आवेश पहले अध्यायमें बताया और दूसरे अध्यायके प्रारम्भमें भी बताया। आवेश अर्जुनको भी होता है। नरके मनमें आवेश आजाता है। मानव-धर्म यह है कि आप आवेशमें कोई काम न करें। आवेश आता है उतर जाता है। क्रोधके आवेशमें हिंसा करनेका मन होता है। कामके आवेशमें अनाचार करनेका मन होता है। लोभके आवेशमें चोरी-बेइमानी करनेका मन होता है। पर ऐसा नहीं होना चाहिए। इस आवेशको आँधीको जरा सह लेना चाहिए।

तो, सञ्जयके कथनसे उनके हृदयका समत्व प्रकट होता है और अर्जुनके दोषमें भी उनकी गुण-दृष्टि प्रकट होती है। गोस्वामी तुलसी दासजीके शब्दोंमें—'संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि वारि विकार', सन्त रूपी हंस गुण रूप दूधको तो ग्रहण करते हैं किन्तु उसमें जो पानीका विकार होता है उसे छोड़ देते हैं। यही सञ्जयकी दृष्टि है। यही मनुष्यता है, यही मानवता है।

श्रीकृष्ण अर्जुनके भगवान् हैं, हितैषी हैं, गुरु हैं, मित्र हैं, सभी कुछ हैं और अर्जुन बहुत भोला-भाला है। महाभारतके उद्योगपर्वमें जहाँ नामोंकी व्याख्या है, वहाँ नीलकण्ठने 'ऋजु' शब्दसे अर्जुन शब्द बनाया है—'ऋजुत्वात् अर्जुनात्'। इसका अर्थ है भोला-भाला, सीधा-सादा, सरल मनुष्य। वह छली-कपटी नहीं है, दाँव-पेंच नहीं जानता। उसको जो उचित लगा, वह करनेको तैयार है, जो अनुचित लगा उसे छोड़नेको तैयार है। वैसे पाणिनीय व्याकरणके अनुसार 'ऋजु' शब्दसे अर्जुन नहीं बनता, वहाँ तो 'अर्जनात् अर्जुनः' बनता है। 'अर्ज' धातुसे जैसे धनार्जन, उपार्जन शब्द बनते हैं वैसे अर्जुन शब्द बनता है। धनञ्जय, ज्ञानार्जन करनेवाला, दिग्विजय करनेवाला, यह अर्जुन शब्दका अर्थ है।

तो ऐसे भक्तपर भगवान्की, ऐसे शिष्यपर सद्गुरुकी विशेष कृपा होना स्वाभाविक है। जैसे अर्जुन भगवान्को अपना सब कुछ मानता है, वैसे ही भगवान् भी मानते हैं कि अर्जुन अपना आदमी है, अपना मित्र है, अपना सखा है, शरणागत है। अर्जुनने एक लाख अक्षौहिणी सेनाका परित्याग करके निःशस्त्र श्रीकृष्णका वरण किया। श्रीकृष्णने पूछा कि अर्जुन, तुम्हें सेना चाहिए तो अपनी अस्त्र-शस्त्रसहित सारी सेना मैं तुम्हें देता हूँ। अर्जुनने कहा कि मुझे लाख-लाख अक्षौहिणी सेना नहीं चाहिए। केवल एक बुद्धिमान् चाहिए। मुझे लाखों भेंड़ नहीं चाहिए, महज एक गड़ेरिया चाहिए। यह अर्जुनकी बुद्धि है। उसने सारी सेना छोड़ दी केवल श्रीकृष्णको वरण किया। वह भोला-भाला होते हुए भी बुद्धिमान् है, उसका चयन बुद्धिमत्तापूर्ण है।

इसीलिए श्रीकृष्ण अर्जुनको बहुत मानते हैं। उन्होंने सञ्जयसे कहा कि तुम धृतराष्ट्रसे कह देना—'कृष्णो धनञ्जयस्यात्मा कृष्णस्यात्मा धनञ्जयः।' अर्जुनके आत्माका नाम कृष्ण है और कृष्णके आत्माका नाम अर्जुन है। हम दोनों एक हैं। इधर अर्जुनसे कहा कि—'यस्त्वां द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्त्वामनु स मामनु।' अर्जुन, जो तुमसे द्वेष करता है वह मुझसे द्वेष करता है और जो तुम्हारे पीछे चलता है, वह मेरे पीछे चलता है।

वास्तवमें भगवान् और भक्त अलग-अलग नहीं होते, एक ही होते हैं और परस्पर निस्संकोच व्यवहार करते हैं। श्रीकृष्णने अर्जुनको गुरुकी हैसियतसे, मित्रकी हैसियतसे, भगवान्की हैसियतसे, सारथिकी

हैसियतसे डाँटा और कहा कि—'कुतस्त्वा कश्मलमिदम्।' यह है श्रीकृष्णका अपने आश्रित, अपने शिष्य, अपने मित्र अर्जुनके साथ-साधिकार वर्ताव। वे समझते हैं कि यह गलत रास्तेपर जा रहा है, इसलिए उसको डाँट-डपटकर सावधान कर देना चाहिए। श्रीकृष्णने कहा कि ओ अर्जुन, यह कश्मल, यह मैल तुम्हारे मनमें कहाँसे आगया? यह तुम्हारे जैसे वीर पुरुषोंमें नहीं आना चाहिए। क्या तुम इस प्रकारका आचरण परलोकके लिए करना चाहते हो? क्या यशके लिए करना चाहते हो? क्या मोक्षके लिए करना चाहते हो? किन्तु यह तो अनार्यजुष्ट है। इसमें न तो स्वर्ग मिलेगा, न लोकमें कीर्ति होगी और न मोक्ष मिलेगा। यह तो तुम्हारी नपुंसकता है। यह तुम्हारे चित्तकी कमजोरी है, क्लीवता है—'क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थं।'

देखो, श्रीकृष्णके समझानेका ढङ्ग। कहते हैं कि अर्जुन, यह तुम्हारे स्वभाव और स्वरूपके विपरीत है—'नैतत् त्वमुपपद्यते क्षुद्रं हृदय-दौर्वल्यम्।' मनुष्यको कोई भी काम करते समय इस दृष्टिसे विचार करना चाहिए कि जो काम मैं करने जा रहा हूँ, उससे क्या लोकमें कीर्ति मिलेगी? क्या उसके द्वारा धर्मका पालन होकर परलोक बनेगा? क्या उससे अन्तःकरण शुद्ध होकर मोक्ष मिलेगा? मैं जिस ओर जा रहा हूँ, वह केवल मेरे हृदयकी दुर्बलता तो नहीं हैं। यदि दुर्बलता है तो सर्वथा त्याज्य है। इसीलिए श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप।' अर्जुन दुर्बलताका परित्याग करो और युद्धके लिए खड़े हो जाओ। श्रीकृष्णका ऐसा उपदेश इसलिए है कि अर्जुन नर है, मनुष्य है। श्रीकृष्णने अर्जुनको जो उपदेश दिया है, वह मानव-मात्रके लिए उपदेश है, मानव-धर्म है।

इधर अर्जुनने भी अपने मनकी बात नहीं छिपायी। उसके हृदयमें विपक्षियोंके प्रति आदरका भाव है। उसका कहना है कि यदि भीष्म, द्रोण आदि गुरुजन मेरे ऊपर बाण चलाते हैं तब भी मेरा कर्त्तव्य यह है कि उनके द्वारा चलाया हुआ बाण सह लूँ, उनके हाथों पर जाऊँ, मुझे कोई दोष नहीं है। लेकिन मैं उनके साथ प्रतियुद्ध कैसे करूँ? वाकोवाक्य करना, उनकी जबानके साथ अपनी जबान लड़ाना भी मेरे लिए उचित नहीं है, फिर उनके बाणके बदलेमें उनके ऊपर बाण चलाना कैसे उचित हो सकता है? वह भी राज्यके लोभसे? नारायण! भीख माँगकर खा लूँगा—'श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।'

परन्तु मैं इन लोगोंके ऊपर, इनके बाण चलानेपर भी, अपना बाण नहीं चलाऊँगा। वे लोग भले ही युद्ध करें, लेकिन मैं प्रतियुद्ध नहीं करूँगा। 'प्रतियोत्स्यामि' का अर्थ प्रतियुद्ध ही है।

देखो, यह है अर्जुन! उसकी क्रिया तो एक ही है कि वह युद्ध नहीं करना चाहता। इसको लेकर सञ्जय कहते हैं कि उसमें कृपाका आवेश है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि उसके हृदयकी क्षुद्र दुर्बलता है। किन्तु अर्जुन कहता है कि कार्पण्यदोषसे मेरा स्वभाव चञ्चल हो रहा है। यह उसका आत्मनिरीक्षण है, जो बहुत बड़ा मानव-धर्म है। यदि मनुष्यको आत्म-निरीक्षण द्वारा अपनी गलती समझमें आने लगे तो समझना चाहिए कि अब उसका सौभाग्य-सूर्य उदय होनेवाला है और मार्ग मिलनेमें विलम्ब नहीं है। धर्मकी स्थिति यह है कि उसका निवास छातीपर, वक्षःस्थलपर रहता है। इसी तरह अधर्मका निवास पीठपर है। यह पौराणिक व्यवस्था है। मनुष्यको अपना अधर्म नहीं दीखता, किन्तु धर्म दीखता है। अधर्मका दीखना, गलती मालूम पड़ना, बड़ा कठिन है।

अर्जुनको स्पष्ट मालूम पड़ता है कि मेरे अन्दर अज्ञान आगया है और धर्मके सन्बन्धमें मेरा ज्ञान भटक गया है।

'कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः' कार्पण्य माने अज्ञान ही होता है। आप कभी ऐसा अन्तर्निरीक्षण करते हैं? नहीं करते हैं तो करना चाहिए। यही मानवता है, मानव-धर्म है।

मनुष्यका जीवन आत्मनिरीक्षणसे ही प्रारम्भ होता है। शिशुको अपनी गलती नहीं मालूम पड़ती। वह पश्चात्ताप नहीं करता क्योंकि वह अज्ञानी है। किन्तु मनुष्य तो ज्ञानवान् है। असलमें आत्मा शुद्ध-बुद्ध और निर्दोष है। कोई आपसे पूछे कि आप सत्सङ्गमें बैठकर सो रहे हैं? इसपर आप सोते भी होंगे तो झट कहेंगे कि नहीं-नहीं। आप अपनेमें निद्रा-दोष स्वीकार नहीं करेंगे। इसी तरह कोई कहे कि यह गलती आपकी है तो आप अपनी गलतीको भी कबूल नहीं करेंगे। ऐसा क्यों होता है? इसीलिए होता है कि आत्मामें न तो निद्रा है और न कोई मल है। वह निर्मल-निर्दोष आत्मा जब क्रोधसे एक हो जाता है, तब क्रोध निर्दोष मालूम पड़ता है, जब कामसे मिल जाता है तब काम निर्दोष मालूम पड़ता है और जब लोभसे मिल जाता है तब लोभ

निर्दोष मालूम पड़ने लगता है। लेकिन जब आप काम-क्रोध-लोभको छोड़कर अलग हो जाते हैं, असङ्ग हो जाते हैं, तब आपको मालूम पड़ता है कि क्रोधमें आग थी, काममें वातरोग था और लोभमें जुखाम था। मनके जुखामका नाम ही लोभ है। मनमें जब कफ बढ़ता है तब लोभ आता है, जब वातरोग बढ़ता है तब काम आता है और जब पित्त बढ़ता है तब क्रोध आता है। ये मानसिक रोग हैं। आप अपने इन रोगोंको पहचानते हैं? नहीं पहचानते तो पहचानिये। इनको न पहचाननेका कारण यही है कि आप अपनेको उनके साथ मिला देते हैं। क्रोध करनेके दो घण्टे बाद, जब वह शान्त हो जाये, तब आप सोचिये कि आपने अपने मुँहसे जो कहा, वह क्या उचित था? इसी तरह आपने लोभ-मोह-कामके वशीभूत होकर जो किया, वह क्या उचित था? आप काम-क्रोध-लोभ-मोहसे अलग होकर विचार कीजिये कि उनके आवेशमें आपके द्वारा जो कर्म हुआ, उसमें कहाँतक औचित्य था? कहाँतक धर्माधर्म था?

तो, आत्मनिरीक्षण ही सबसे बड़ा मानव-धर्म है। यदि आत्मनिरीक्षण करनेपर भी आपकी समझमें कर्त्तव्याकर्त्तव्य न आता हो तो जो आपसे बड़े हैं, सलाह लीजिये, उनसे पूछिये, वे आपको बतायेंगे। यदि अन्धा किसीके बताये रास्तेपर न चलना चाहे तो यह तो उसकी द्विबल अन्धता है। द्विबलको ही अंग्रेजीमें डबल ( double ) कहते हैं। यदि आपको स्वयं तो सूझे नहीं और अन्य दूसरेसे पूछें नहीं, तो क्या होगा? एक बालक पाठशालामें पढ़ता था। उसके पिताने गुरुजीसे उसका हाल पूछा तो वे बोले क्या बताऊँ? खुद तो समझता नहीं और मेरा बताया मानता नहीं। फिर उसका विकास कैसे हो? इसीलिए अर्जुन श्रीकृष्णसे कहते हैं—'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे।' जो मेरे लिए श्रेयस्कर हो, वह मुझे बताइये। इस प्रकार अपने बड़े-बूढ़ोंकी सलाह लेना, उनके बताये रास्तेपर चलना, उन्होंने इतने वर्षोंतक संसारका जो अनुभव प्राप्त किया है, उससे लाभ उठाना मनुष्यका धर्म है। यदि आप आगमें हाथ डाले बिना यह माननेको तैयार नहीं कि आगसे हाथ जलता है तो क्या होगा? यही होगा कि आप आगमें हाथ डालेंगे और वह जल जायेगा। जहर पीकर यह देखनेकी चेष्टा करना कि इससे आदमी मरता है या नहीं, मौत ही हाथ लगेगी। क्या आप मलका

भोजन करके निश्चित करोगे कि इसका भोजन नहीं करना चाहिए ? इसीलिए, भाई, बुजुर्गोंकी बात मानो, उनका अनुभवोंका फायदा उठाओ। यह मानव-धर्म है।

अब देखो, उपदेशकी वात। उपदेश ग्रहण करनेके लिए भी एक योग्यता चाहिए। अर्जुन कहता है कि—'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।' मैं तुम्हारा शिष्य हूँ, तुम्हारे पाँव पकड़कर बैठा हूँ, अनुशासनके योग्य हूँ, मुझे अनुशिष्ट बनाओ। मैं तुम्हारी शरणमें हूँ, मेरा शासन करो, अनुशासन करो। ठीक है, बहुत बढ़िया बात है। जिससे शिक्षा लेनी हो, उससे थोड़ा छोटा होना पड़ता है। जैसे गंगाजी हिमालयपरसे उतरती हैं तो नीचेकी जमीनपर आती हैं। गंगाजीका स्वभाव है ऊपरसे नीचेकी ओर बहना। वैसे ही ज्ञान-गंगाका भी स्वभाव है। शिष्यको चाहिए कि वह गुरुको थोड़ा अपनेसे ऊपर बैठाकर और स्वयं नीचे बैठकर उसके मस्तिष्कसे जो ज्ञान-गङ्गाका प्रवाह होता है, उसे ग्रहण करे। प्रपन्नका अर्थ है प्रपद—पाँवका पञ्जा पकड़ना। पकड़ लो गुरुके पाँव। गुरुका ज्ञान तुम्हारे अन्दर आजायेगा। परन्तु केवल मन या वाणीसे गुरु या बड़े-बूढ़ोंकी शरणमें जानेपर भी पुराने संस्कार सहसा मिट नहीं जाते, पहलेका निश्चय तुरन्त कट नहीं जाता। उसके लिए बहुत समझने-समझानेकी जरूरत पड़ती है। इसका उदाहरण अर्जुनके प्रसङ्गमें देख लो। उसने एक बार तो कहा कि मैं आपकी शरणमें हूँ किन्तु दूसरी बार यह बोलता है कि मैं लड़ूँगा नहीं—'न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा-तूष्णीं बभूवह।' अरे बाबा, जब तुम्हें अपना ही निश्चय कार्यान्वित करना है कि मैं लड़ूँगा नहीं तो तुम शिष्य क्या हुए ? प्रपन्न क्या हुए—शरणागत क्या हुए ? यह कहना कि महाराज, मैं आपका आज्ञाकारी हूँ, शरणागत हूँ, लेकिन करूँगा वही, जो मेरे मनमें है—शरणागति नहीं है। यह तो उपहासके योग्य शरणागति है। इसीलिए भगवान् श्रीकृष्णने गीताके अन्तमें कहा कि अर्जुन, तुम्हारी प्रारम्भिक शरणागति दूसरी थी, अब यह अन्तिम शरणागति दूसरी है—'मामेकं शरणं व्रज।' सारा विवेक, सारा विचार स्वीकार करनेके बाद आओ अब सब मेरे ऊपर छोड़ दो। अन्तमें अर्जुनने ऐसा ही किया और कहा—'करिष्ये वचनं तव।' अब मैं अपनी जिद नहीं रखूँगा, तुम्हारी आज्ञाके अनुसार चलूँगा।

तो जबतक अहं-भावका निवारण नहीं होगा, तबतक उपदेशकी गङ्गाका अवतरण कैसे होगा ? वह आपको आप्यायित कैसे करेगी ? आप थोड़ा गीताके अन्तरङ्गमें प्रवेश कीजिये ! श्रीकृष्णने अर्जुनके हृदयमें अपनी बात बैठानेके लिए तरह-तरहकी शैलियाँ और युक्तियाँ अपनायीं ! यह भगवान्‌की करुणा है। यदि कोई बात किसीकी समझमें एक प्रकारसे नहीं आती, तो दूसरे-तीसरे प्रकारसे भी उसको समझाना चाहिए। समझनेवाला हार नहीं मानता तो समझानेवाला हार क्यों मानेगा ? वह तो सत्य समझा रहा है, परमार्थ समझा रहा है। यदि एक अज्ञानी अपनी जिदपर इतना दृढ़ है और अज्ञानसे इतना दबा हुआ है तो जो सद्‌गुरु है, करुणाशील है, स्वयं भगवान् है, वह उसकी उपेक्षा क्यों करे, उसको बार-बार समझानेसे पीछे क्यों हटे ?

अब हम आपको गीताकी विशेषता सुनाते हैं। ऐसी विशेषता दुनियाके किसी भी मजहबमें नहीं है ! मजहबी लोग बुद्धिको स्वीकार नहीं करते, किन्तु गीता बुद्धिको स्वीकार करती है ! आप यह नोट कर लो कि ससारका दूसरा कोई भी धर्म-ग्रन्थ बुद्धिका इतना समादर नहीं करता, जितना गीता करती है। वह कहती है कि आत्मज्ञानकी दृष्टिसे भी युद्ध करना ठीक है, कर्मयोगकी दृष्टिसे भी युद्ध करना ठीक है, भगवान्‌के अवतारकी दृष्टिसे भी युद्ध करना ठीक है, फलत्यागकी दृष्टिसे भी युद्ध करना ठीक है। आप एक-एक अध्यायपर दृष्टि डालो। ऐसा लगता है कि भगवान्‌ने हर अध्यायमें नया-नया दृष्टिकोण लेकर अर्जुनको समझाया है। दूसरे अध्यायमें तो दो दृष्टिकोणोंसे समझाया है—'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु' यहाँ सांख्य और योग दोनोंपर बुद्धि है ! श्रीकृष्ण भगवान् होते हुए भी अपना हुकुम नहीं चलाते, समझते हैं ! इसका कारण यही है कि जबतक मनुष्यकी बुद्धि नहीं बदलेगी और वह स्वयं अपनी वासनाओंको मिटाना नहीं चाहेगा, तब-तक उसका कल्याण नहीं होगा ! जब आपकी बुद्धि कहेगी कि यह ठीक नहीं है तो तत्सम्बन्धी आपकी वासनाओंका बल घट जायेगा और जब-तक आपकी बुद्धि उसे बेठीक नहीं समझेगी तबतक तत्सम्बन्धी आपकी वासनाएँ बलवती बनी रहेंगी ! इसलिए आपके मनमें कभी कोई वासना उठे तो उसको दो ओरसे देखो। एक तो बुद्धिके द्वारा उसका समर्थन मत करो और दूसरे कर्मके द्वारा उसका आचरण मत करो। फिर

वासना स्वप्नवत् हो जायेगी। उससे पुनर्जन्म नहीं होगा, नरक-स्वर्ग नहीं मिलेंगे और उसके संस्कार नहीं जमेंगे। वह तो स्वप्नके समान उड़ जायेगी। बुद्धिमें होता है कर्तृत्व और शरीरमें होता है कर्म ! जहाँ कर्तृत्व और कर्म दोनों ही नहीं हुए, वहाँ वासना एकदम स्वप्न सरीखी हो गयी। यह इसका दर्शन-पक्ष है।

तो, गीताके अनुसार चाहिए बुद्धि ! अर्जुनको भी श्रीकृष्णसे यही आपत्ति है कि तुम मेरी बुद्धिको साफ-साफ रास्ता नहीं बताते ! अर्जुन समझता है कि श्रीकृष्ण मेरी बुद्धिमें परिवर्तन चाहते हैं। उपदेश करनेका अर्थ ही है बुद्धिमें परिवर्तन। केवल रहनीमें, आचरणमें परिवर्तन नहीं, बुद्धिमें परिवर्तन ! यह बात मजहबी लोग नहीं मानते। वे तो कहते है कि हमारे आचार्यका, हमारे मौलवीका, हमारे पादरीका हमारी किताबका जो हुकुम है, वह तुम्हें मानना पड़ेगा। किन्तु गीताकी यह विशेषता है कि यह मनुष्यकी बुद्धिको ही सुधारना चाहती है। दूसरे लोग कहते है कि मेरी शरणमें आओ, मेरी आज्ञा मानो, मेरे कहे अनुसार चलो, तुम्हारा कल्याण होगा, तुम्हें स्वर्ग मिलेगा, तुम्हें शान्ति मिलेगी। लेकिन गीता कहती है कि बुद्धिकी शरण लो—'बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः'। अब आप ही बताइये, ऐसा धर्मग्रन्थ दूसरा कौन है, कहाँ है ? दिखाइये तो कोई ऐसा धर्मग्रन्थ, जो बुद्धिका आदर करता हुआ कहता हो—'बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चितः सततं भव।' अपने बुद्धियोगका आश्रय लो और मनको मुझमें लगाओ ! फिर यह आश्वासन देता हो कि—'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।' मतलब यह कि भगवान् मिलेंगे बुद्धियोगसे और भगवान् प्रसन्न होंगे तो देंगे बुद्धियोग। इस प्रकार जब आप गीताकी गहराइयोंमें प्रवेश करेंगे तब आपको उसकी आनेकानेक विशेषताएँ दिखायी देंगी। दूसरे धर्म-ग्रन्थ जहाँ परमेश्वरको इस जगत्से दूर कर देते हैं, वहाँ गीता इस जगत्को भगवद्रूप बना देती है। वह कहती है कि—'सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः।' परमात्मा सर्वरूप है, परमात्मा आत्मरूप है ! वह हमसे दूर नहीं है, इसी जगत्में है, यही है और इसी रूपमें है ! ऐसी गीता भगवतीका हम जितना अध्ययन-अनुसन्धान और आश्रय ग्रहण करें, उतना ही अच्छा है !

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

## : ३ :

मनुष्य जो कर्म करता है, उसके मूलमें उसकी इच्छा होती है। इच्छाके बिना कर्म नहीं हो सकता। इच्छा किसके लिए होती है? जाने हुएके लिए इच्छा होती है, अनजानके लिए इच्छा नहीं होती। यदि कहो कि हमको तो अनजाने ईश्वरके लिए भी इच्छा होती है, तो वह अनजाने रूपमें भी जाना हुआ है, अज्ञातत्वेन ज्ञात है। दर्शनशास्त्रका सामान्य नियम यह है कि जानाति, इच्छति, करोति। मनुष्य जानता है कि यह अच्छा है, यह बुरा है। फिर अच्छेको ग्रहण करना और बुरेको छोड़ना चाहता है! अच्छेको पानेके लिए और बुरेको छोड़नेके लिए कर्म करता है। इस प्रकार ज्ञान, इच्छा और क्रिया, ये तीन चीजें हैं। क्रिया होती है शरीरमें, यह बहिरङ्ग है। इच्छा होती है मनमें, यह अन्तरङ्ग है और ज्ञान होता है बुद्धिमें, यह उससे भी अन्तरङ्ग है। श्रीकृष्ण इन तीनों दृष्टियोंसे मनुष्यका शोधन करना चाहते हैं—उसका ज्ञान शुद्ध हो, उसकी इच्छा शुद्ध हो और उसकी क्रिया शुद्ध हो। ज्ञान-शुद्धिके लिए बुद्धिमें यथार्थका ज्ञान बैठानेके लिए आत्मा क्या है, परमात्मा क्या है, जगत्का स्वरूप क्या है आदिके द्वारा तत्त्वका निरूपण होता है।

इच्छाकी शुद्धिके लिए भगवद्भक्तिका निरूपण होता है। सबमें जो भगवान् हैं, वह चाहने योग्य है। व्यक्तिगत सुख-स्वार्थके लिए पूर्ण दृष्टिको छोड़ देना उचित नहीं है। कर्ममें-से कामनाको निकाल देना चाहिए। इस प्रकार कर्मकी शुद्धिके लिए निष्कामता चाहिए, इच्छाकी शुद्धिके लिए पूर्णता चाहिए और ज्ञानकी शुद्धिके लिए यथार्थ तत्त्वका अनुभव चाहिए। इन तीनोंको गीतामें बुद्धियोग कहते हैं। मजहबी पुस्तकोंमें वेशभूषाकी प्रधानता रहती है। उसके लिए एक वेश चाहिए, खतना कराना चाहिए, बपतिस्मा कराना चाहिए। ऐसे ही और भी समझ लो। किन्तु गीतामें न तो रुद्राक्ष या

तुलसीकी मालाका जिक्र है, न लाल-पीले कपड़ेका जिक्र है और न आड़े-खड़े तिलकका जिक्र है। इसका अर्थ है कि गीता मनुष्यमात्रके लिए है। गीता एक खास फिरकेके लिए, एक पन्थके अनुयायियोंके लिए, एक पादरी, मौलवी अथवा पण्डित-पुरोहितके पीछे चलनेवालोंके लिए नहीं है। गीता मनुष्यमात्रको दृष्टिमें रखकर कही गयी है। वह बताती है कि उत्तम उद्देश्य सामने रखकर काम करो, परन्तु वह उद्देश्य मैं ही पूर्ण कर लूँगा; यह ख्याल मत करो। उद्देश्य अच्छा है तो हम नहीं, हमारे भाई पूरा करेंगे, हमारे भाई नहीं तो हमारी अगली पीढ़ी उसे पूरा करेगी। अंशुमान गङ्गाको नहीं ला सके तो दिलीप लायेंगे! दिलीप गंगा नहीं ला सके तो भगीरथ लावेंगे। उद्देश्य है गङ्गा लाना, चाहे कोई भी लावे। हम अच्छा काम करते हैं, उसके लिए प्रयत्न करते हैं, हमारा उद्देश्य उत्तम है। किन्तु सफलता ? वह समष्टिके हाथमें है, समष्टिके अन्तर्यामी ईश्वरके हाथमें हैं—'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्व योग उच्यते'।

सकाम कर्म दूसरी वस्तु है और सोद्देश्य कर्म दूसरी वस्तु। उद्देश्यके बारेमें पहलेसे सोच-विचार कर लेना चाहिए। हमारा यह उद्देश्य है और इसकी सिद्धिके लिए हमें यह कर्म करना है—इस प्रकार कर्म-साधना करनी चाहिए। देखो, श्रीकृष्णके इन वचनोंमें मनुष्य-जीवनकी कितनी बढ़िया झाँकी प्रस्तुत की गयी है—'सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ, ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि' ( २.३८ )। युद्ध करो, परन्तु सुखदुःख दोनोंको समान कर लो। सुख और दुःख इन दोनों शब्दोंमें भी समता है। 'ख' सुखमें भी है और दुःखमें भी है। 'ख' माने आकाश! वह कभी खुला होता है, चाँदनी छिटकती है, निर्मल होता है, तो सुख मिलता है। किन्तु कभी तूफान आता है, आँधी आती है, वर्षा होती है तो दुःखका अनुभव होता है। परन्तु आकाश आकाश ही रहता है। उसमें सुख-दुःख नहीं होता, वह समान रहता है, सम रहता है। सम माने मानसहित, प्रमाणसहित, परमात्मा, मया सह, मया लक्ष्मया, मया प्रमया, मया शोभया सहितः समः। सबमें एक शोभा है। सुखमें भी एक सौन्दर्य है, दुःखमें भी एक सौन्दर्य है, सम्पत्तिमें भी एक सौन्दर्य है, विपत्तिमें भी एक सौन्दर्य है, जयमें भी एक सौन्दर्य है, पराजयमें भी एक सौन्दर्य है। लाभ-हानि जीवनके

द्वन्द्व हैं। जय-पराजय जीवनके द्वन्द्व हैं, सुख-दुःख जीवनके द्वन्द्व हैं। इसलिए लगे रहो कर्ममें, कोई आपत्ति नहीं है, कोई संकट नहीं है। यदि युद्धसे विमुख हो जाओगे तो तुम्हें कर्त्तव्यच्युतिरूप पाप लगेगा और यदि तुम डटकर अपने कर्तव्यपालनमें संलग्न रहोगे तो पुण्य प्राप्त होगा, यही मनुष्यका धर्म है।

दृढ़ता भी मनुष्यका एक धर्म है। 'आशिष्ठो दृढिष्ठः (तै० उप० २.८.१) मनुष्य आशावान् हो और अपने कर्तव्यपथमें दृढ़ रहे, मनुष्यके लिए यह आवश्यक है। इसी तरह मनुष्य उत्साहमें रहे। 'क्रिया-सिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे' (भोज-प्रबन्ध)। क्रियाकी सिद्धिके लिए बहुत धन नहीं चाहिए, बहुत लोग नहीं चाहिए, बहुत उपकरण नहीं चाहिए। तब क्या चाहिए? सत्त्व चाहिए। सत्त्व माने सत्त्व-गुण? नहीं। अन्तःकरण? नहीं। बल? नहीं। धैर्य? नहीं। सत्त्व माने उत्साह। मनुष्यके जीवनमें उत्साह हो, उद्देश्य-प्राप्तिके प्रति आशा बनी रहे और दृढ़तापूर्वक कर्ममें संलग्नता हो। बस, मनुष्यको जीवनका आनन्द मिलता रहेगा। आप अपने आनन्दको फलमें मत रखिये, अपने पास रखिये। फल बेचारा आपसे दूर हो जाता है, भविष्यमें चला जाता है, स्वर्गमें चला जाता है, अमेरिकामें अथवा अन्य किसी देशमें चला जाता है, दूसरे कालमें चला जाता है और किसी दूसरी वस्तुकी प्राप्तिमें चला जाता है, तो आपका सुख आपसे अलग हो जाता है। आप सुखहीन हो जाते हैं। जरा सोचिये तो सही, आपका सुख कहाँ रहता है? अवश्य ही वह किसी जड़ वस्तुमें, किसी दूर देशमें, किसी दूर कालमें नहीं रहता, वह तो आपके हृदयमें रहता है। उसका अनुभव करनेके लिए जीवनमें समत्वका कौशल आना चाहिए। कौशल माने कुशलता, निपुणता। ऐसी कुशलता, निपुणता होनी चाहिए कि अपना सुख अपनेसे दूर न हो, उसके मिलनेमें देर न हो ओर वह दूसरा न हो। देर होती है कालमें, दूरी होती है देशमें और दूसरा होता है पराया। आप अपने सुखको परायेमें मत रखो, दूर मत रखो, उसमें देर मत करो और सदा-सर्वदा अपने पास रखो।

महापुरुष अपने सुखको, अपने उत्साहको रखते हैं। उत्साह बना हुआ है तो सुख है और उत्साह टूट गया तो दुःख ही दुःख है। मनुष्य उत्साहसे ही सफलता प्राप्त करता है। उपनिषद्का कहना है कि,

'चरैवेति चरैवेति चरन् वै मधुविन्दति' ( एते० ७.७.१३.१७ )। चलते रहो, चलते रहो, जो चलता है उसको शहद मिलती है। जो चलना ही बन्द कर देगा उसको कुछ नहीं मिलेगा। चलनेका भी एक तरीका है, एक रीति है, एक प्रणाली है, एक शैली है। प्रणाली क्या है ? देखो, कभी छोटी-सी नालीमें-से भी निकल जाते हैं, यह नाली ही प्रणाली है। शैली क्या है ? शैलसे, पर्वतसे जो धारा गिरती है, जैसे गंगाजीकी धारा, यमुनाजीकी धारा—यह शैली है। प्रणाली छोटी होती है शैली जरा बड़ी होती है, विस्तीर्ण होती है। जैसे भी हो चले चलो।

> मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
> आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ २.१४
> यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
> समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वायकल्पते ॥ २.१५

यह है गीताका मनुष्य, गीताका मानव-धर्म। जब हम रास्तेमें चलते हैं तो कहीं ठण्डी हवा आती है, कहीं गर्म हवा आती है, कहीं अपने मनका भोजन मिलता है, कहीं नहीं मिलता, कहीं सोनेके लिए अच्छी जगह मिलती है, कहीं नहीं मिलती, कहीं कोई तारीफ करनेवाला मिल जाता है, कहीं चार गाली सुनानेवाला मिल जाता है, यही हैं मात्रास्पर्श—'मीयन्ते इति मात्राः विषयाः। भिन्न-भिन्न प्रकारके विषयोंका स्पर्श होता है—कोई गरम, कोई ठण्डा और कोई गरम-ठण्डा दोनों। कहीं शीत, कहीं उष्ण और कहीं शीतोष्ण। कहीं सुख, कहीं दुःख और कहीं सुख-दुःख दोनों एक साथ। इनमें समत्व है। इसलिए यदि सुख सामने आजाये तो यह मत समझना कि अब सुख आया और हम हमेशा सुखमें ही रहेंगे। सुखमें आसक्ति नहीं होनी चाहिए, बल्कि सुखमें सुखके वियोगका रस आना चाहिए। होवे तो सुख और उसमें ले सुखके वियोगका रस, यह मजा है। इसी तरह आवे तो दुःख, परन्तु मनुष्य दुःखमें दुःखके वियोगका रस ले। 'आगमापायिनः का अर्थ यह कि सुख-दुःख आते-जाते हैं, इसलिए उनके आते समय ही उनका जाना देख लो और उनके जाते समय ही उनका आना देख लो। नजर ऐसी पैनी होनी चाहिए कि प्रत्येक परिस्थितिमें प्रतीत हो कि यह भी नहीं रहेगा। यदि आप दुःखमें घबरायेंगे नहीं, उद्विग्न नहीं होंगे और सुखमें आपको आसक्ति नहीं होगी तो आपका जीवन अपने लक्ष्यकी ओर

बढ़ता रहेगा। 'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः। (कुमारसम्भव १.५९)

यह कालिदासकी वाणी है। उनको केवल कवि नहीं समझना, उनके ग्रन्थोंमें जो मङ्गलाचरण हैं, वे दर्शनशास्त्रके सार हैं। शाकुन्तलके मङ्गलाचरणको देखो। उसको पढ़नेसे प्रतीत होता है कि कालिदास केवल महाकवि ही नहीं, बहुत बड़े विद्वान् हैं, अनुभवी हैं। वे उपर्युक्त श्लोकमें कहते हैं कि संसारमें ऐसा कौन है, जिसको केवल सुख-ही-सुख मिला हो? अथवा केवल दुःख-ही-दुःख मिलता हो? जैसे रथका पहिया कभी ऊपरसे नीचे और नीचेसे ऊपर घूमता रहता है, वैसे ही मनुष्यके जीवनकी दशाएँ भी घूमती रहती हैं। मनुष्यका जीवन क्या है? जीवन है माने जल है, बहता हुआ पानी है। इसी जलके द्वारा मनुष्य जीता है, इसीलिए इसको जीवन कहते हैं। पानीसे ही पैदा होता है और पानीसे ही जीता है। इसलिए संस्कृत भाषामें इसको बोलते हैं—'नारं नीरम् भुवनमुदकं जीवनीयं दकं च।' जीवन माने एक धारा—जिसमें बाल्यावस्था है, युवावस्था है, वृद्धावस्था है, सुख-दुःख है। इस धारामें मनुष्य कहाँ है? मानवता क्या है? इसका उत्तर कालिदास यह देते हैं कि—'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः' (कुमारसम्भव १.५९) अर्थात् जिसका चित्त विकारके निमित्त उपस्थित होनेपर भी विकारसे ग्रस्त नहीं होता, वह धीर पुरुष है, वही मानव है, उसीमें मनुष्यता है।

तो तीरकी तरह चीरते हुए गन्तव्यकी ओर निकल जाओ। चाहे सुखकी हवा आवे, चाहे दुःखकी हवा आवे। सुख-दुःख दोनोंमें व्यथा बराबर है। शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष दोनोंमें प्रकाश बराबर है, दोनोंमें अन्धकार बराबर है। कोई जाकर सुख देता है, कोई आकर सुख देता है, व्यथा तो दोनोंमें है। इसलिए जो सुख-दुःखमें व्यथित नहीं होता और सम रहता है, उसीका नाम पुरुष है, वही नर है, वही मानव है।

जीवनका रहस्य ही यह है कि सुखसे सटो मत और दुःखसे हटो मत। सुखसे सटोगे तो वह जब जायेगा तो तुमको भी साथ ले जायेगा। इसी तरह उससे हटोगे तो वह तुम्हारा पीछा करेगा और चैनसे नहीं रहने देगा। अतः सुख-दुःखका सामना करते हुए चलो। भगवान्

श्रीकृष्णका सिद्धान्त है कि 'मामनुस्मर युध्य च' जीवनके संघर्षमें पूर्ण परमेश्वरका स्मरण बना रहे। यह गीता संघर्षमें ज्ञान देती है। आप इसका स्वभाव देखिये—'प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते' युद्धभूमिमें दोनों ओरसे शङ्ख बज चुके, हथियार चलनेवाले हैं। ऐसे संघर्षकी भूमिमें गीता-ज्ञानका प्रकाश होता है। यह आपको शान्तिमें नहीं ले जाती। संघर्षके जीवनमें सन्तुलित करती है।

दर्शनशास्त्रकी यह बात है कि जन्म-मरण किसीका नहीं होता। बन्ध्यापुत्रका भी जन्म-मरण नहीं होता, क्योंकि वह है ही नहीं। आत्मा-परमात्माका भी जन्म-मरण नहीं है, क्योंकि वह तो एकरस है, कालसे परे है—'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' असत् माने वन्ध्यापुत्र, जिसका भाव माने जन्म नहीं है। जन्म नहीं है तो मृत्यु भी नहीं है। सद्वस्तु आत्मा है। उसको जन्म-मरण छूता ही नहीं है। तब फिर सुख-दुःख काहेका? ये सब प्रसङ्ग ऐसे हैं, जिनको समझना चाहिए। मैं ऐसी भाषामें नहीं बोलता, जो आपकी समझमें नहीं आवे। मैं अवच्छेद और अविच्छिन्नकी बात नहीं बोलता। यह प्रसङ्ग ऐसा है कि व्याख्याकारोंने बड़े-बड़े लम्बे विशेषण-विशिष्ट भाषाका प्रयोग किया है। किन्तु मैं आपके सामने वैसी भाषाका उपयोग नहीं करता। अध्यस्त-अधिष्ठान आदिका निरूपण कहाँ करता हूँ?

इसलिए आइये, सीधी-सरल भषामें यह समझनेकी चेष्टा कीजिये कि जन्म-मरण न तो सत्यका है और न असत्यका है। यह जान लेनेके बाद संसारमें दिखाई पड़नेवाले जन्म-मरणके सम्बन्धमें उलझनेकी आवश्यकता नहीं है, आगे बढ़ते चलो और यह विश्वास रखो कि 'य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्'—न आत्मा मारता है न मरता है। जो इनका मरना-मारना मानता है, वह अज्ञानी है। अज्ञान-से ही मरना-मारना मालूम पड़ता है—'उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते'। जानो, अपने आत्माको—'वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्'! यह ज्ञानका दृष्टिकोण है कि अपनेको अविनाशी जानो। 'कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्'—मरना-मारना तो है ही नहीं। यही तात्त्विक दृष्टिकोण है। हम आपको इसके शास्त्रीय विवेचन-की प्रक्रियामें न डालकर सामान्य जीवनकी जो बात है, वह सुनाना चाहते हैं। आप यह देखें कि आपकी बुद्धि सही है न! यह बुद्धियोगके

अन्तर्गत ही है ! आत्मा और परमात्माका ज्ञान बुद्धियोगका ही विषय है। आप इस ज्ञानको जान लो और निर्भय होकर अपना कर्म करो !

अब बुद्धियोगकी एक दूसरी बात देखो। आप जो कर्म करते हैं, उसका पाप-पुण्य आपको लगता है कि नहीं ? लगता है, और उससे आपको सुख-दुःख होता है कि नहीं ? होता है। किन्तु यदि आपकी बुद्धि ठीक-ठीक काम कर रही है, तो पाप-पुण्यको चीरकर निकल जायेंगे और वे आपको लगेंगे नहीं। बुद्धि कहते है अकलको। अपनेको बे-अकल कोई नहीं समझता। अक्ल आकलनसे ही बना है। आकलन शब्द ही विदेशमें जाकर अकल हो गया। यही हाल नकल शब्दका है ! नकल माने जिसमें कोई कला नहीं है—'नास्ति कला यस्मिन् !' दूसरेकी देखी और नकल कर ली। आकलन ठीक हो गया तो अकल और कलना ठीक नहीं हुई तो नकल। तो, आप कर्म कीजिये, लेकिन सुकृत और दुष्कृत, पाप और पुण्य यहीं-के-यहीं, जहाँ-के-तहाँ रह जायँ, आपके साथ न जुड़ें—इसके लिए बुद्धियोगका आश्रय लीजिये। गीता कहती है—'बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत-दुष्कृते।

पहली बात यह है कि सुकृत और दुष्कृत, पाप और पुण्य तब लगते हैं जब आप अपेक्षाबुद्धिसे कर्म करते हैं। अपेक्षाबुद्धिसे किया हुआ कर्म हृदयमें, अन्तःकरणमें संस्कार उत्पन्न करता है। अपेक्षा-बुद्धिका अर्थ ऐसे समझिये कि आपको आपकी आँख तो नहीं दीखती, किन्तु दूरकी कौड़ी दीखती है। 'अपगतम् ईक्षणम् = अपेणम् = अपेक्षा'—मतलब यह है कि आपके जीवनमें जो जाँच-पड़ताल रहनी चाहिए, वह नहीं है। आप अपनेको नहीं देखते, दूसरेको चाहते हैं।

दूसरी बात है कि जब आप दूसरेको चाहते हैं, तब न्यायसे चाहते हैं या अन्यायसे चाहते हैं ? उचित चाहते हैं या अनुचित चाहते हैं। आप मार्गपर चलकर चाहते हैं या मार्ग छोड़कर चाहते हैं ! अपेक्षा-बुद्धिसे किये हुए कर्मका स्वरूप यह है कि हमको यह चाहिए, वह चाहिए, बुरा चाहिए, भला चाहिए। बुरेकी अपेक्षा है तो उससे पाप उत्पन्न होगा और भलेकी अपेक्षा है तो पुण्य उत्पन्न होगा। परन्तु यदि आप अपेक्षा छोड़कर, निर्द्वन्द्व होकर अपने कर्तव्यका पालन करते हैं तो आपको कर्म-संस्कार नहीं लगेगा। एक तो अपनेमें कर्तव्यका अभिमान, दूसरे कर्ममें आग्रह और तीसरे फलकी आकाङ्क्षा : इन तीनोंसे आप

अपने आपको भूल गये और कर्म आपसे चिपक गये ! जहाँ कर्तापनका अभिमान है, कर्ममें आग्रह है और फलकी आकाङ्क्षा है, वही कर्म संस्कार उत्पन्न करता है तथा फलकी उत्पत्ति करता है—'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्' (बृहदा० ४.४.२३) 'एतं ह वाव न तपति किमहं साधु न अकरवम् किमहम् पापमकरवम्' ( तै० उप० २.९.१ ) ।

तब कर्म करनेमें बुद्धिमान् कौन है ? वह है, जो पुरस्कार मिलनेपर सुखी नहीं होता और सजा मिलनेपर दुःखी नहीं होता ! अरे बाबा पाप-पुण्यको यहीं छोड़ दो, जो बाहर है, वह बाहर है। तुम्हारी आत्मासे पाप-पुण्यका कोई सम्बन्ध नहीं है। 'बुद्धियुक्तो जहातीह'—में जो 'इह' है, उसका अर्थ है इसी लोकमें। तात्पर्य यह है कि पाप-पुण्यको छोड़ दो इस धरतीपर और मिलकर बैठो परमात्मासे। परमात्मा पूर्ण है। उसमें व्यक्ति-बुद्धि परिच्छिन्न-बुद्धि नहीं है।

अब देखो एक ओर बात। आप बुद्धियोगी हैं, इसकी पहचान क्या है ?

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥२.५१

आपके बुद्धियोगकी पहचान यह है कि आप अपने कर्तव्य-पालनसे, परमात्माकी सेवासे तृप्त हैं। आप किसीको एक गिलास पानी पिलाते हैं। उसके माध्यमसे आपके द्वारा जो सेवा सम्पन्न हुई और आगेके लिए आपकी आदत अच्छी बनी, वह क्या सुख नहीं है ! या पानी पीनेवाला जब आपको धन्यवाद देगा, तब आपको सुख मिलेगा ? धन्यवादकी आकाङ्क्षासे, प्रशंसाकी अपेक्षासे किसीको एक गिलास पानी पिलाना उस कोटिकी सेवा नहीं है, जिस कोटिकी सेवा कर्तव्य समझकर पानी पिलाना है। बुद्धिमान्‌का स्वभाव यह है कि वह अपने कर्मकी पूर्णताको ही पूर्णता समझता है और इसपर दृष्टि रखता है कि हमने अपना काम ठीक ढंगसे किया या नहीं किया ? उस कामसे हमारे हृदयमें सुख हुआ कि नहीं हुआ ? यह बात मनुस्मृतिमें इस प्रकार कही गयी है—

यत्कर्मकुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोन्तरात्मनः ।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत् ॥ ४.१६१

मनुष्यमें अपने कर्मके द्वारा आत्मतुष्टिका उदय होना चाहिए। कर्मका फल यह आत्मतुष्टि हो है। यह आत्मसन्तोष ही है कि हमने वहुत अच्छा काम किया, हमारे द्वारा वहुत अच्छा काम हो गया। यदि आपको अच्छा काम करनेसे सुख नहीं मिलता और आप अच्छे कामकी तनख्वाह मिलनेसे सुखी होते हैं, तो यह ठीक नहीं है क्योंकि कर्म तो आपके शरीरमें है और उसके लिए आपको जो पैसा मिला, वह बाहर है, जड़ है। आपका कर्म आध्यात्मिक है और जो उसका फल मिला, वह बाहरकी वस्तु है। इससे यह सिद्ध हुआ कि आप वाहरकी अपेक्षा भीतरको कम महत्त्व देते हैं। अर्थ रहता है वाहर-वैंकमें, तिजोरीमें, कल-कारखानेमें। किन्तु काम रहता है मनमें। काम-सुख, भोग-सुख मनमें होता है, धर्म-सुख वुद्धिमें होता है और मोक्ष-सुख आत्माका स्वरूप है। अर्थसे काम अन्तरङ्ग है, कामसे धर्म अन्तरङ्ग है, धर्मसे मोक्ष अन्तरङ्ग है। ये चार पुरुषार्थ हैं। यदि आपको अपना कर्म करके सुख नहीं मिलता तो समझिये कि आपको वुद्धिमें कुछ कच्चापन है।

इस प्रसङ्गमें मैं आपको एक घरकी बात सुनाता हूँ। वहाँ कई वच्चे थे। माँ-बाप उनसे कहते कि माला फेरो तो वे नहीं फेरते। माँ-वापने उनको पैसा देना तय किया और कहा कि प्रत्येक मालापर एक आना मिलेगा। जिसकी जितनी ज्यादा माला होगी, उसको उतने ही अधिक पैसे मिलेंगे। अब सभी बच्चे बैठ गये और लगे माला फेरने। जिसकी जितनी ज्यादा माला हो, उसको उतने ही अधिक पैसे मिलें। लेकिन वच्चे वड़े चंट थे। उन्होंने आपसमें सलाह की। बोले कि इस तरह होड़ लगाकर तो हम लोग घाटेमें रहते हैं। इसलिए किसी दिन एक बीस माला ज्यादा फेरेगा तो उसको बीस आना ज्यादा मिलेंगे। किसी दिन दूसरा बीस माला ज्यादा फेरेगा तो उसको बीस आना ज्यादा मिलेंगे। फिर हमलोग आपसमें बाँट लेंगे। इस तरह बच्चोंसे माला फेरवानेका माँ-बापका जो उद्देश्य था, वह कहीं-का-कहीं पहुँच गया।

तो, हमलोग जो फलको बाहर डाल देते हैं, उससे हमें अपने अन्तः-करणकी शुद्धिमें, अपने कर्मकी पूर्णतामें फल नहीं दीखता, सुख अपनी सेवामें नहीं दीखता, दूसरी जगह दीखता है। कर्ममें सुख नहीं है,

कर्मज फलमें सुख है। आप तभी बुद्धिमान् हैं, तभी बुद्धियोगी हैं, जब आपकी दृष्टि कर्मज फलकी ओर हो।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥२.५२॥

यदि आपकी बुद्धि मोहके दलदलमें फँसी हुई है, तो आप निश्चय ही बुद्धिमान् नहीं हैं। क्योंकि मोह तो बुद्धिके विपरीत है। मोह माने उल्टी बुद्धि। 'मुह् वैचित्ये। चित्तकी विपरीतताका नाम ही मोह है। मोहग्रस्त बुद्धि दुःखको सुख, सुखको दुःख, अपनेको पराया, परायेको अपना, सत्यको असत्य, असत्यको सत्य, धर्मको अधर्म और अधर्मको धर्म समझती है। विपरीतमें जो 'परीत' शब्द है, उसका अर्थ होता है पर्याय, अनुगत। जिस वस्तुमें आत्मा चमाचम चमक रहा हो, जिस कर्ममें आत्मदेव अपने निर्मल उज्ज्वल रूपमें प्रकाशित हो रहे हों और परमात्माका निरावरण दर्शन हो रहा है, वह परीत कर्म होता है, परीत बुद्धि होती है। किन्तु जहाँ न तो आत्माका, न परमात्माका और न वस्तुके यथार्थ स्वरूपका दर्शन होता हो, उसको विपरीत बुद्धि कहते हैं और उसका नाम है मोह।

बुद्धियोगका लक्षण यही है कि आप कहीं मोहके दलदलमें न फँसें। दलदलका स्वरूप यही होता है कि उसमें पहले तलवा धँसता है, फिर टखना धँसता है, फिर पिंडा धँसता है, फिर घुटना धँसता है, फिर कमर धँसती है, फिर छाती धँसती है और फिर सिर धँसनेके बाद मनुष्य उसमें डूब जाता है। इसी तरह मोह पहले छिगुनी पकड़ता है और फिर पहुँचा पकड़कर घोर अन्धकारमें डाल देता है। इसलिए मोह अन्धकार है। यदि तुम्हारी बुद्धि मोहग्रस्त नहीं तो समझना कि अब अकल आयी, अब बुद्धि जागी। हम आपको यह केवल नमूना बता रहे हैं। आप गीतामें देखिये बुद्धिका महत्त्व। वह कहती है केवल मान लो, केवल श्रद्धा कर लो। श्रद्धा भी अपने स्थानपर बहुत बड़ी वस्तु है—श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्। वेदमें श्रद्धाकी बड़ी महिमा है, लेकिन श्रद्धाके लिए भी बुद्धि चाहिए। अन्यथा ऐसी जगह श्रद्धा हो जाती है, जहाँ नहीं होनी चाहिए। बाहरी शक्ल-सूरत श्रद्धाके योग्य नहीं। किन्तु बुद्धि-हीनताकी स्थितिमें शक्ल-सूरतपर भी श्रद्धा हो जाती है। एक सज्जन किसी महात्माका दर्शन करने गये।

महात्माकी शक्ल-सूरत अच्छी नहीं थी। उनका दर्शन करके लौटे तो बोले कि राम-राम उनको देखकर तो मुँहका जायका ही बिगड़ गया। किन्तु कुछ दिन बाद एक अच्छी शक्ल-सूरतवाले ठगपर उनकी श्रद्धा हो गयी और उसके चक्करमें वे बहुत कुछ गँवा बैठे। इसलिए शक्ल-सूरतपर श्रद्धा-अश्रद्धा मत करो। ज्ञानपर, गुणपर श्रद्धा करो। जो श्रद्धा अस्थाने होती है, वह बहुत दुःख देती है।

मोहके दलदलसे पार होनेकी पहचान क्या है? यही पहचान है कि मोहरहित मनुष्य निरभिमान होकर अपने-आपमें तृप्त हो जाता है। अभिमान कई प्रकारके होते हैं—हमने यह पढ़ा है, इतना सुना है। आगे और पढ़ना-सुनना है। विद्या-बुद्धिका भी अभिमान होता है। किन्तु जब बुद्धि बिल्कुल ठीक हो जाती है और उसमें विपरीतता नहीं होती तो एक ज्ञानजन्य तृप्ति होती है, जो सबसे उत्तम होती है। अर्थ-जन्य तृप्ति अलग है, भोगजन्य तृप्ति अलग है, ऐश्वर्यजन्य तृप्ति अलग है, किन्तु ज्ञानजन्य तृप्ति सबसे विलक्षण है। ज्ञानका प्रकाश होनेपर—'सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते' (१४.११)। वहाँ न जाने हुएका अभिमान है, न जाननेकी इच्छा है, शुद्ध स्वयं प्रकाश ज्ञानमें बैठे हुए हैं। ऐसे हो सत्यपुरुषको बुद्धियोगी कहते हैं।

अब बोले कि भाई बुद्धि तो हो, परन्तु उसमें एकाग्रता न हो, समाधि न लगे, तो क्या हो? असलमें बुद्धिके डाँवाडोल होनेका कारण तरह-तरहकी बातोंको सुनना भी है। मनुष्यके मस्तिष्कमें दुनिया दो ही रास्तेसे घुसती है—कुछ आँखके रास्तेसे और कुछ कानके रास्तेसे। आँखके रास्तेसे घुसी हुई दुनिया उतना बेवकूफ नहीं बनाती—आती है जाती है, जाती है आती है। पर कानके रास्तेसे घुसी हुई दुनिया बहुत ज्यादा बेवकूफ बनाती है। शतपथ ब्राह्मणमें एक श्रुति है—'यदिदानीं द्वौ विवक्षमानौ स्याताम्' अहमदर्शमहमश्रौषमिति य एव श्रूयादहमदर्शमिति तस्मा एव श्रद्दध्याम (१.३.१.२७)। यदि दो आदमी परस्पर विवाद कर रहे हों, एक कहता हो कि मैंने ऐसा सुना है, दूसरा कहता हो कि मैंने ऐसा देखा है, तो वहाँ सुननेवालेकी अपेक्षा देखनेवालेकी बात अधिक प्रामाणिक मानी जायेगी। अदालतोंमें भी सुने-सुनाये गवाहकी अपेक्षा चश्मदीद गवाह प्रामाणिक माने जाते हैं। इसलिए हमें देखना चाहिए कि हमारी बुद्धि डाँवाडोल कैसे हुई? विकृत हुई कैसे?

सुनी-सुनायी बातोंसे तत्त्वका निरूपण नहीं होता। एक बार दो पण्डितोंमें विवाद होने लगा। एकने कहा परावाणी तो मूलाधारमें रहती है। वैखरी, मध्यमा, पश्यन्तीके क्रमसे मूलाधारमें पहुँच जाओ, वहाँ परावाक् चित्तिरूपा है, शक्ति है, उसका साक्षात्कार हो जायेगा। दूसरेने कहा कि नहीं नहीं, मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा, सहस्रारसे ऊपर चलो। वहाँ शून्यशिखरपर परमेश्वर मिलेगा। इस प्रकार एक कहे कि परमात्मा ऊपर मिलेगा और दूसरा कहे कि नीचे मिलेगा। यह विवाद किसी साधकने सुना तो वह चक्करमें पड़ गया। वह किसकी साधना करे ? इसीसे जो लोग दो गुरुओंके पास जाते हैं, वे गड़बड़ा जाते हैं। साधनाका एक निश्चित क्रम होता है। एक साधना दूसरी साधनामें नहीं मिलायी जाती। अनजान लोग सुन-सुनाकर गड़बड़ पैदा कर देते हैं।

इसीलिए गीता कहती है कि—'श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला' अर्थात् सुनते-सुनते तुम्हारी बुद्धि विप्रतिपन्न हो गयी है, किसी एक चीजको नहीं पकड़ पाती। तुम्हें दूसरोंको चेला बनानेकी इच्छा तो होती है, स्वयं अनुभव करनेकी इच्छा नहीं होती। स्वयं अनुभव करनेकी स्थिति तो छूट गयी और दूसरेको समझानेकी वासना हृदयमें आगयी। फिर तुम सोचने लगे कि दूसरे लोग कैसे समझेंगे ? आओ, कहानी सुनायें, चुटकले सुनायें, हँसे-हँसावें और मनोरञ्जन करें। इससे बुद्धि स्थिर नहीं होती। लोकभोग्य बात दूसरी होती है और विद्वद्भोग्य बात दूसरी होती है। तुम्हारी बुद्धि तरह-तरहकी बात सुन-सुनकर विप्रतिपन्न हो गयी है। यह जब एक निश्चयपर पहुँचेगी, 'समाधावचला' होगी, तभी तत्त्वका निरूपण होगा। गीता बुद्धियोगका ग्रन्थ है। उसमें आत्मयोग है, जो एक बुद्धि है। उसमें समाधियोग है, जो दूसरी बुद्धि है। उसमें भक्तियोग है, जो तीसरी बुद्धि है। उसमें कर्मयोग है, जो चौथी बुद्धि है। ये सब बुद्धिके ही स्तर हैं। धर्मका यह उपदेश कि यह करो, वह मत करो, समझनेके लिए होता है। पहले समझ लोगे तभी यह करो और वह मत करोके अनुसार आचरण करोगे। सभी उपदेश होते हैं, सभी सद् वचन बुद्धिको जगानेके लिए ही होते हैं। यह कहना है कि अब व्याख्यानका समय नहीं है, करनेका समय है—यह भी एक व्याख्यान ही है।

बुद्धिमें हेर-फेर होनेपर ही मन विचलित होता है। ये पार्टीवाले

क्या करते हैं ? लोगोंकी वुद्धिको ही, अक्लको ही तो फोड़ते हैं। कोई देने-लेनेसे फूटता है, कोई तारीफसे फूटता है, कोई पदकी ऊँचाईसे टूटता है। ऐसा तभी होता है, जब समझमें फूट पड़ती है।

मैं आपको धर्मका, मानव-धर्मका एक रूप सुनाता दूँ। देखो, तीन बातोंमें किसीको शंका नहीं है। वे तीन बातें इस प्रकार हैं—पहली मैं हूँ, दूसरी मैं जानता हूँ और तीसरी मैं अपनेसे प्रेम करता हूँ। इसको शास्त्रकी भाषामें सत्-चित्-आनन्द बोलते हैं। मैं नहीं हूँ—यह अनुभव मनुष्यको कभी हो नहीं सकता। मैं अज्ञानी हूँ, यह जानता हूँ और मैं ज्ञानी हूँ, यह भी जानता हूँ। जाननेका अभाव कभी नहीं होता। इसीतरह मैं प्रिय हूँ और मैं अप्रिय हूँ—सबकी प्रियता अपनी प्रियतासे सिद्ध होती हैं। यह हुआ एक दर्शन। इससे धर्म निकलता है। मैं हूँ, मैं हूँ, मैं हूँ—यह अनुभव है। मेरे रहनेके लिए मकान चाहिए, खानेके लिए अन्न चाहिए, पहननेके लिए वस्त्र चाहिए और स्वास्थ्यके लिए औषध चाहिए। अब जब यह सब मेरे लिए चाहिए, तो दूसरे मैं-के लिए भी यही सब चाहिए। मुझे अपने मरनेका अनुभव न हो, तो दूसरेको भी अपने मरनेका अनुभव नहीं होना चाहिए। हम मृत्युसे न डरें, क्योंकि सत् है और दूसरेको मृत्युसे न डरावें, क्योंकि यह सत् हैं। अब देखो, इस भावनासे मानव-धर्म निकला। इसी तरह दूसरेको मरनेके लिए डराना, धमकाना या मारना यह अधर्म हो गया। हम जीयें, दूसरे भी जीयें—यह धर्म हो गया। हम जानते हैं, जानते रहना चाहते हैं, तो दूसरेको भी जानने देना चाहिए और दूसरेको भी जानते रहना चाहिए। जैसे यह ठीक है कि हम बेवकूफ न बनें, वैसे ही यह भी ठीक है कि हम दूसरेको बेवकूफ न बनावें। हम जानकार रहें और दूसरेको भी जानकार बनावें। यह हमारा धर्म है। इस धर्मके विस्तारके लिए विद्यालय चाहिए, वाचनालय चाहिए, सत्सङ्ग चाहिए, अपने बुजुर्गोंका साथ चाहिए। देखो, हम अपनेसे प्रेम करते हैं, कभी दुःखी नहीं होना चाहते, तो दूसरेको भी दुःखी न बनाना—यह हमारा धर्म हो गया। हम दुःखी न हों और दूसरेको दुःखी न करें। हम सुखी रहें ओर दूसरेको भी सुखी करें। यह मानव-धर्म है।

आप लोग यह नहीं समझना कि गीता बाबाओंका ही शास्त्र है। लोगोंने शास्त्रकी व्याख्या समझनेकी कोशिश नहीं की। एक वर्गविशेषके

लोगोंके हाथमें इसको डाल दिया। निःश्रेयस पक्षकी व्याख्या विस्तृत हो गयी और अभ्युदय पक्षकी व्याख्या शिथिल हो गयी। किन्तु निःश्रेयस, अभ्युदय दोनों ही धर्मके दो पक्ष हैं—'यतोऽभ्युदय-निःश्रेयस-सिद्धि स धर्मः'—(वैशेषिक सूत्र १.१.२)। एक निःश्रेयसको सिद्ध करनेवाला धर्म है और दूसरा अभ्युदयको सिद्ध करनेवाला धर्म है। मनुष्यके जीवनमें अभ्युदय भी होना चाहिए और मोक्ष भी होना चाहिए, तभी धर्म समग्र होता है। हमको धन भी चाहिए, भोग भी चाहिए। नियन्त्रण भी चाहिए, आयुर्वेद भी चाहिए ओर धनुर्वेद भी। देखो, गांधीजी जैसे अहिंसक महात्माने भी जब राष्ट्रपर विपत्ति पड़ी तो सेना भेजनेकी सलाह दी। देशमें कोई उपद्रव हुआ तो अहिंसामें विश्वास रखनेवाली कांग्रेसी सरकारने भी पुलिसको, सेनाको गोली चलानेका आदेश दिया। इसी प्रकार स्थापत्य, कला-कौशल और गान्धर्व विद्या भी मनुष्यके लिए उपयोगी है। नृत्य, गायन, वादन और अभिनय, ये सब गान्धर्व वेदके विषय हैं। ये भी आनन्दकी वृद्धि-समृद्धिके लिए आवश्यक हैं।

तो, धर्म बिल्कुल स्पष्ट है। वह अपने और दूसरेके जीवनके लिए आवश्यक है, अपने ज्ञान और दूसरेके ज्ञानके लिए आवश्यक है, अपने सुख और दूसरेके सुखके लिए आवश्यक है। भेदन-छेदन आत्माका स्वभाव नहीं है, उसका स्वभाव तो है—अभेद। किसीको फोड़ो मत, स्वयं फूटो मत। मिलकर रहो, मिलाकर रहो। यही समाज है। 'समं सह एव अजन्ति यत्र'—जिसमें सब लोगोंको एक साथ आगे बढ़नेकी सुविधा हो, उसका नाम होता है समाज। समाज माने सबको एक साथ जीनेकी, सुखी होनेकी, उन्नति करनेकी, पढ़नेकी, एक समान सुविधा प्राप्त हो। समाजके लोग अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार उन्नति करें, बात दूसरी है, लेकिन किसीको आगे बढ़नेमें कोई रुकावट न हो, सुविधामें रुकावट न हो। भोजन सबके लिए हो, वस्त्र सबके लिए हो, विद्यालय सबके लिए हो, औषधालय सबके लिए हो, संगीत-शाला सबके लिए हो। इसमें भेद न हो, अभेद हो। ये धर्मके चार मूल रूप हैं, मौलिक रूप हैं और इनसे सोलह कलओंका विस्तार होता है।

ॐ शान्ति : शान्ति : शान्ति :

: ४ :

श्रीकृष्ण और अर्जुनकी मित्रताके सम्बन्धमें एक कथा महाभारतमें है जो अद्भुत लगती है। इन्द्रका कोई मित्र खाण्डव वनमें रहता था। एक बार ब्राह्मणोंने यज्ञमें अग्निदेवताको इतना घी-बूरा खिलाया, इतनी आहुति डाली कि उनको अजीर्ण हो गया। आप जानते हैं कि जो घी-बूरा ज्यादा खायेगा, उसको अजीर्ण होगा ही। जैसे जठराग्निको अजीर्ण होता है, वैसे ही आहवनीय अग्निको भी, दक्षिणाग्निको भी अजीर्ण हो गया। देवताओंके वैद्यने यह निश्चय किया कि जब अग्नि-देवता खाण्डव वनका दाह करेंगे अर्थात् वानस्पत्य खायेंगे, फल जलायेंगे, फूल जलायेंगे, पत्ता जलायेंगे, लकड़ी जलायेंगे, तब इनका अजीर्ण दूर होगा। इसलिए खाण्डव वन जलानेका निश्चय हुआ और वह जलने लगा। अब इन्द्रका जो मित्र वहाँ रहता था, वह उसके घेरेमें फँस गया। उसकी पुकार सुनकर इन्द्र श्रीकृष्णके पास आये और उन्होंने कहा कि आप मेरे मित्रको बचा दीजिये। श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा और इन्द्रके मित्रकी रक्षा हो गयी। अब इन्द्र बड़े प्रसन्न हुए और श्रीकृष्णसे बोले कि वर माँगो, क्योंकि तुमने हमारे मित्रको बचाया है। देखो, कहाँ इन्द्र और कहाँ श्रीकृष्ण! किन्तु श्रीकृष्णने यह नहीं कहा कि मैं परमेश्वर हूँ और तुम स्वर्गके राजा हो। मुझे वर देनेकी सामर्थ्य तुममें कहाँ है? उन्होंने तो यही कहा कि आपकी बड़ी कृपा है। आप वरदान देना चाहते हैं तो अवश्य दीजिये। यही वरदान दीजिये कि मेरी और अर्जुनकी मित्रता सदा बनी रहे। यह है मैत्रीका माहात्म्य। उसके लिए साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण देवतासे वरदान माँगते हैं। मतलब यह है कि मनुष्योंमें मैत्री हो तो ऐसी हो। परस्परकी प्रतिष्ठित मित्रता हो मानव-धर्म है।

बुद्धि हमारे साथ रहती है। यह आत्माके सबसे अधिक पास है। ईश्वर, जीव, माया, जगत्—ये सब बुद्धिमें बैठकर ही भासित होते हैं। आत्मा द्रष्टा है, साक्षी है। यह बुद्धिमें बैठकर ही बुद्धिमें प्रतिबिम्बित होकर ही ईश्वरको, जीवको, जगत्को, मायाको, अपने आपको देखता है। यदि बुद्धि प्रतिष्ठित न हो, बाइज्जत न हो, सच्ची न हो, विश्वसनीय न हो तो वह मनुष्यको गलत रास्तेमें डाल देगी। इसलिए मनुष्यके जीवनमें प्रतिष्ठित बुद्धिकी, प्रतिष्ठित प्रज्ञाकी आवश्यकता होती है—'तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता'। प्रतिष्ठित व्यक्तिकी बातपर ही लोग विश्वास करते हैं। जब आपकी बुद्धि प्रतिष्ठित होगी, स्थिर होगी, तभी वह आपको अच्छी सलाह देगी और आपके साथ बनी रहेगी। यदि डाँवाडोल होगी तो आपको छोड़कर चली जायेगी और समयपर काम नहीं देगी। वह कभी रागके अधीन हो जायेगी, कभी द्वेषके अधीन हो जायेगी। मनुष्यके जीवनमें यदि उसकी बुद्धि, उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित नहीं है तो वह ईश्वरको भी नहीं मानेगा। उसको कभी नास्तिकोंका संग मिलेगा तो उनके कुतर्कोंके प्रभावसे ईश्वरको छोड़ देगा। वह धर्मको भी नहीं मानेगा। जब अधर्मसे फायदा होते देखेगा तो धर्मको छोड़ देगा।

इसलिए बुद्धिका प्रतिष्ठित होना अत्यन्त आवश्यक है। यही कारण है कि भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको स्थिर बुद्धि होनेके लिए प्रेरणा दी और सावधान किया कि कहीं ममतास्पद ससुर तथा सालेको देखकर तुम्हारी बुद्धि डाँवाडोल हो गयी तो ठीक नहीं होगा—'स्यालासम्बन्धि-नस्तथा'। यहाँ श्रीकृष्णने यह संकेत दे दिया कि देखो, भाई! मैं भी तुम्हारा साला हूँ। मेरी बहन सुभद्रा तुमसे ब्याही है। इसलिए अगर तुम मुझे अपना साला मानकर मेरी सलाह मानते हो, तो मत मानो। तुम तो अपनी बुद्धिसे ही विचार करो?

अब मानो अर्जुनने कहा कि महाराज, ऐसी बुद्धि कहाँसे मिले? वह आप दीजिये! श्रीकृष्णने उत्तर दिया कि बुद्धि एक आध्यात्मिक वस्तु है। वह शरीरके भीतर रहती है, बाहरसे ठूँसी नहीं जाती। उसको परिनिष्ठित करनेका उपाय करो। वह उपाय है मन को प्रसन्न रखना—'प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते'। जो मनुष्य अपने

मनको हमेशा प्रसन्न एवं निर्मल रखता है, उसकी बुद्धि परिनिष्ठित होती है। मलिनमना पुरुषकी बुद्धि स्थिर नहीं होती। मनका निर्मल होना अनिवार्य है। निर्मल मनसे ही धर्म होता है। यदि मन मलिन हो तो तपस्या, अध्ययन और दान भी धर्ममूलक नहीं होते। महाभारतमें आता है—

तपो न कल्कोऽध्ययनं न कल्कः स्वाभाविको वेदविधिर्न कल्कः।
प्रसह्यवित्ताहरणं न कल्कः तान्येव भावोपहतानि कल्कः॥
(आदिपर्व १.२७५)

यदि मनुष्यका मन दूषित है तो उसका अच्छे-से-अच्छा काम भी दूषित हो जाता है। तपस्या करो, अध्ययन करो, दान करो, परन्तु यदि मनमें मलिनता अथवा कपट भरा हुआ है तो वह सबको सदोष कर देता है। मलिन मन बुद्धिको भी मलिन कर देता है। अतः बुद्धिकी स्थिरताके लिए स्थितप्रज्ञताके लिए मनको निर्मल बनाओ।

अब देखो, प्रसन्नचेतसः पदके प्रसन्न शब्दका अर्थ संस्कृत और हिन्दीमें इसका जो प्रयोग होता है, उसके अर्थमें अन्तर है। हिन्दीमें प्रसन्न शब्दका अर्थ होता है खुश होना। संस्कृतमें प्रसन्न शब्दका अर्थ खुश होना नहीं है, निर्मल होना है। 'प्रसन्नं सरः'—आज सरोवर प्रसन्न है अर्थात् उसका पानी गँदला नहीं है और उसमें चंचलता भी नहीं है। आप सरोवरमें अपना मुँह देखिये। यदि उसका पानी गँदला है तो आपका मुँह नहीं दीखेगा और उसमें लहरें उठ रही हैं तब भी आपका मुँह नहीं दीखेगा। इसी तरह यदि आपका मनःसरोवर—मनरूपी सरोवर गंदला है और लहरा रहा है, उसमें मलिनता है और चंचलता है, तो आप अपने मनमें अपनेको भी ठीक-ठीक नहीं देख सकते, दूसरेको तो कहाँसे देख सकते हैं? इसलिए बुद्धिकी प्रतिष्ठा निर्मल मनमें ही होती है।

अब प्रश्न उठता है कि मनको निर्मल बनानेके लिए हमें क्या करना चाहिए और कहाँ जाना चाहिए। क्या किसी वनमें जायें? किसी

पर्वतपर जायें ? किसी नदीके तटपर जायें ? वह बात दूसरी है कि इन स्थानोंपर जानेसे भी मन निर्मल होता है।

उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत ॥
( ऋग्वेद ८.६.२८ )

ब्राह्मण कैसे बना ? बुद्धिसे बना ? कहाँ बना ? जहाँ पर्वतोंकी तलहटी होती है, नदियोंका संगम होता है, वहाँ बना ! वहाँ बुद्धि ऐसी शुद्ध होती है कि ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति हो जाती है।

यह सब ठीक है। परन्तु गीतावक्ता श्रीकृष्ण यदि अर्जुनसे कहे कि तुम युद्धभूमि छोड़कर नदीके किनारे, पर्वतपर अथवा जङ्गलमें चले जाओ और वहाँ अपनी बुद्धि शुद्ध करा तो कैसे काम बनेगा ? इसलिए उन्होंने कहा कि—'विषयानिन्द्रियैश्चरन्' तुम अपने इन्द्रियोंको विषयोंके साथ यथायोग्य बर्ताव करने दो। तुम्हारे पाँव चलें, आँखें देखें, मुँह बोले, कान सुनें और त्वचा छूये। ये सभी इन्द्रिय अपने-अपने विषयोंमें व्यवहार करें, किन्तु कहीं राग-द्वेष न हो—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।

यही बात आगे चलकर और भी अच्छे ढंगसे बतायी गयी—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३.३४

इन्द्रियस्य इन्द्रियस्य प्रत्येकस्य अर्थात् एक-एक इन्द्रियका अलग-अलग स्वभाव है। आँख रूप देखना पसन्द करती है, कान शब्द सुनना पसन्द करते हैं, नाक गन्ध सूँघना पसन्द करती है; जीभको कभी मीठा पसन्द आता है, कभी नमकीन पसन्द आता है, तो कभी खटाई पसन्द आती है। यदि कहो कि जीभको खटाई-मिठाई-नमकीन मालूम पड़ेगा तो यह बात गलत है। जबतक जीभ है, तबतक उसको इन रसोंका ज्ञान रहेगा ही। यह नहीं हो सकता कि हम तुम्हारी जीभपर चीनी,

नमक या खटाई बुरकावें, तो तुमको उनके स्वादका पता नहीं चलेगा। हाँ ऐसा तब जरूर हो जायेगा जब तुम पहले गुणमार बूटी अपनी जीभपर डाल लोगे।

इसी तरह जबतक कान है, तबतक स्वरोंका ज्ञान होगा ही। कोई कठोर स्वरमें बोल रहा है या मृदु स्वरमें बोल रहा है, यह बात तुमको कान बतावेगा जरूर। क्योंकि जब आवाज कानोंकी झिल्लियोंसे टकराती है तो कोई पसन्द आती है, कोई पसन्द नहीं आती।

तब क्या हो? बोले कि—'तयोर्न वशमागच्छेत्' इन्द्रियोंसे जो विषयोंमें राग-द्वेष होते हैं, उनके पराधीन नहीं होना चाहिए। यह नहीं कि, अब तो हमें जहाँ मीठा मिलेगा, नमकीन मिलेगा, वहीं जाकर रहेंगे। इन्द्रियोंकी अपनी अलग-अलग पसन्द होती है, यह उनका स्वभाव है, परन्तु उनके पराधीन होना या न होना—यह मनुष्यके हाथमें है।

इसलिए मनुष्यको स्वाधीन होना चाहिए। राग-द्वेषके वशमें नहीं होना चाहिए। मनुष्यपर जब किसी रागका रङ्ग चढ़ जाता है तब उसको और कुछ दीखता ही नहीं है। एक कविने कहा कि 'प्रासादे सा पथि पथि च सा।' अरे झरोखेमें वही दीखती है, रास्तेमें वही दीखती है, पलङ्गपर वही दीखती है, घरमें वही दीखती है, बाहर वही दीखती है, भीतर वही दीखती है। सा-सा-सा-सा—वही-वही-वही-वही। यह अङ्गनाऽद्वैत हो गया, प्रियतमाऽद्वैतवाद हो गया। यह रागकी माया है। जिससे राग हो जाता है, वही सर्वत्र दीखता है।

जिस तरह रागीको अपना रागास्पद दीखता है, उसी तरह द्वेषीको अपना शत्रु दीखता है। इसलिए राग और द्वेष किसीके भी अधीन नहीं होना चाहिए, उनसे अपने दिलको बचाना चाहिए। लेकिन किसी स्त्री या पुरुषसे यह मत कहो कि हम राग, द्वेषसे बचना चाहते हैं। तुम हमारे रास्ते में मत आओ। यदि तुम अपने बचावके लिए स्त्रियों या पुरुषोंसे कहोगे कि ऐसे मत रहो, ऐसे मत निकलो तो यह बात नहीं चलेगी। लोग अपने-अपने ढङ्गसे रहेंगे, अपने-अपने ढङ्गसे निकलेंगे।

तुम्हारा काम इनको ठीक करना, अपना मन ठीक करना है। राग-द्वेष मनुष्यके परिपन्थी हैं, डाकू हैं, लुटेरे हैं। इसलिए इनसे सावधान रहना और इनके वशमें नहीं होना।

देखो, खूब काम करो, खाओ-पीओ पहनो, आनन्दसे रहो। लेकिन रागके वशमें होकर नहीं। भाई, भतीजेके पक्षपातसे बचो, उनके लिए बेइमानी, चोरी या दूसरेके साथ अन्याय मत करो। इसी तरह द्वेषके वश होकर दूसरोंके साथ क्रूरता मत करो। द्वेषकी आग सबसे पहले द्वेष करनेवालेको ही जलाती है।

अब कहते हैं कि 'आत्मवश्यैर्विधेयात्मा' आपकी इन्द्रियाँ स्वच्छन्द न हों। आपके वशमें हों। जब हम विवेकपूर्वक कहें कि हे जीभ! बोलो, तब वह बोले। यह नहीं कि मनमें आया बोलनेका, जीभ फड़फड़ाई और चाहे जो बक दिया। एक महात्मा कहते थे कि बोलनेसे पहले तीन बार भीतर-ही-भीतर बोल लो। यदि तुमको बोलना उचित और आवश्यक प्रतीत हो तब तो बोलो, अन्यथा मत बोलो। बोलिये, पर सत्यसे दूर मत हो जाइये। जिससे बात कर रहे हैं, उसके हितको ध्यानमें रखिये और थोड़ेमें बोलिये। 'सत्यं हितं मितम्' सत्य बोलो, हित बोलो और मित बोलो। प्रिय बोलो। विवाद पैदा करनेवाली कोई बात मत बोलो। जो निश्चित हो, वही बोलो। मौकेकी बात बोलो—भोजनके समय जुलाबकी, ब्याहके समय मातमपुर्सीकी और मातमपुर्सीके समय ब्याहकी बात मत बोलो। बोलना कैसा हो? अवसरके अनुसार हो, थोड़ेमें हो, मधुर हो, हितकारी हो और उससे सत्यका तिरस्कार न होता हो। आपने देखा होगा कि कभी कोई सज्जन उचित-अनुचितका विचार किये बिना कुछ बोलने लगे और दूसरे सज्जनने उनसे कहा कि भाई ऐसा क्यों बोलते हो तो पहले सज्जनने उत्तर दिया—मेरे मनमें आया इसलिए बोल रहा हूँ। मैं किसीसे डरता नहीं हूँ। उन्होंने अपनी वाक्शूरता प्रकट करनेके लिए छाती भी ठोंक दी। ऐसे लोग चाहे जो कहें—करें, लेकिन व्यवहारमें कभी सफल नहीं होते। व्यवहारके दो ही रूप हैं—'शब्दोच्चारणं स्फुरणरूपं वा' अर्थात् हम कैसा बोलते हैं और कैसा सोचते हैं। अगर हमारा सोचना और बोलना दोनों ठीक हैं तो हमारा व्यवहार सर्वदा ठीक होगा।

'आत्मवश्य' का अर्थ है कि वाणीकी तरह मन भी वशमें हो। जहाँ नहीं जाना चाहिए, वहाँ हमारे पाँव न जायें, हम उन्हें रोक लें। जो काम नहीं करना चाहिए, उसमें हम अपना हाथ न लगावें। हमारा मन आज्ञाकारी हो। हम दूसरोंको तो आज्ञाकारी बनाना चाहते हैं लेकिन स्वयं हमारा मन आज्ञाकारी नहीं है।

'प्रसादमधिगच्छति'—यदि आपका मन आज्ञाकारी हो, आपकी इन्द्रियाँ वशमें हों, किसीके साथ आपका राग-द्वेष न हो तो आप यथोचित व्यवहार करते रहिये। आपको प्रसाद प्राप्त होगा। प्रसाद क्या है? 'प्रसादस्तु प्रसन्नता।' प्रसन्नता ही प्रसाद है। आपका मन प्रसन्न हो जायेगा, निर्मल हो जायेगा और जब आपका मन प्रसन्न रहेगा, तो आपको दुनियाका कोई भी दुःख छूयेगा नहीं। आप 'शोक-संविग्नमानस' नहीं होंगे।

'विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः'—शोकसंविग्न मानस होनेका परिणाम देखो। अर्जुन अपने जिस गाण्डीव धनुषकी निन्दा नहीं सुन सकता था, उसको उसने दूर फेंक दिया। महाभारतमें एक कथा आती है। अर्जुनकी प्रतिज्ञा थी कि जो हमारे गाण्डीव धनुषकी निन्दा करेगा उसको हम जानसे मार डालेंगे। एक बार किसी प्रसङ्गमें युधिष्ठिरने गाण्डीव धनुषको निन्दा कर दी। अर्जुन उनका वध करनेके लिए तैयार हो गया। श्रीकृष्णने समझाया कि अरे बाबा, जल्दी मत कर। बड़ोंकी अवज्ञा करनेसे ही उनकी मृत्यु हो जाती है। उनको हाथसे मारनेकी जरूरत नहीं पड़ती। एक बार उनकी अवज्ञा कर दी, तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी हो जायेगी। श्रीकृष्णकी बात मानकर अर्जुन रुक गया। वही अर्जुन आज अपने उसी धनुष और बाणको उठाकर फेंक देता है। क्यों? इसलिए कि वह 'शोकसंविग्नमानसः' हो गया है। शोक, मोहके कारण उनका मन इतना उद्विग्न हो गया है कि वह अपना विवेक, धैर्य, स्मृति सब कुछ खो बैठा है। मानस माने मानसी विकार—'मनसो भवः मानसः'। मनुष्य अपने मनमें एक शोकके आजानेपर विवेक, धैर्य, स्मृति सब कुछ खो बैठता है। इसलिए अपने जीवनमें शोक मत पालो। महाभारतकी एक गायत्री है, जो वेदकी गायत्रीसे अलग है—

हर्षस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशान्ति न पण्डितम्॥
(स्वर्गारोहण पर्व ५.६१)

दिन भरमें हजार बार रोना और हजार बार डरना मूर्खका लक्षण है बुद्धिमान्का लक्षण नहीं है। यह गायत्री महाभारतकी चार गायत्रियोंमें-से एक है। इसका तात्पर्य यही है कि शोक-मोह मूर्खको ही स्पर्श करते हैं, बुद्धिमान्को स्पर्श नहीं करते। गीता भी महाभारतका ही अङ्ग है। वह कहती है—

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।

आप दुःखका निमित्त मत हटाइये। कभी-कभी आप चाहते हैं कि आज गरमी न पड़े, आज सर्दी न पड़े, आज वर्षा न हो, आपको कोई गाली न दे, आपके परिचितोंमें कोई मरे नहीं, आपका कोई मित्र अथवा प्रिय व्यक्ति कभी बिछुड़े नहीं। आप जन-मरणसे, भवन-दहनसे, वन-गमनसे परहेज करते हैं; ठीक है। परन्तु क्या यह आपके लिए शक्य है कि आप इसको दुनियामें रोक सकें। दुनियामें जो कुछ हो रहा है, वह जिस ढङ्गसे चल रही है, उसको रोक सकना एक व्यक्तिके लिए सम्भव नहीं है। यह महाभारतकी सलाह है। पार्टीबन्दीकी बात नहीं है—

न जानपदिकं दुःखमेकः शोचितुमर्हति।

इसलिए आप दुनिया भरके दुःखको अपने छोटेसे दिलमें मत भर लीजिये। आपका दिल बहुत छोटा है, बहुत सुकुमार, कोमल है, बहुत मृदु है। उसमें आप सारी दुनियाके दुःखको भरेंगे तो वह फट जायेगा, फूट जायेगा। अतएव आप शोकको हृदयके भीतर मत आने दीजिये और दुनियामें जो दुःख है, उसको दूर करनेका शक्ति भर प्रयास कीजिये—'अशोच्यं प्रतिकुर्वीत यदि पश्येद् उपक्रमम्।' जहाँतक आपका वश चलता हो वहाँतक आप संसारका दुःख दूर करनेमें लग जाइये, लेकिन अपने हृदयमें दुःखोंका बवण्डर, दुःखोंकी आँधी, दुःखोंकी बाढ़ मत आने दीजिये।

अर्जुनने जब शोकको धारण कर लिया तब उसकी बुद्धि डांवाडोल हो गयी। अर्जुन स्वयं बोलता है—

न चेतद्विद्म कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।

हम जीतेंगे या वे जीतेंगे, इसमें शङ्का नहीं है। जिसका जीतना अच्छा हो, वह जीते ? परन्तु किसका जीतना अच्छा रहेगा ? भीष्म, द्रोण, कर्णका जीतना अच्छा रहेगा या युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुनका ? हमको तो जिसका जीतना अच्छा हो, वह चाहिए, अपना-पराया नहीं चाहिए—'न चैतद्विद्मः।' लेकिन यह बात हमारी समझमें नहीं आती, हमको यह निश्चय नहीं हो पाता कि किसकी जीत होना विश्वके लिए, राष्ट्रके लिए, मानवताके लिए हितकारी है। यही स्थिति अर्जुनकी है।

भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा कि पहले शोकको दूरकर, दुःखको दूरकर और फिर निर्मल मनसे देख, तेरी बुद्धि प्रतिष्ठित हो जायेगी।

वैवस्वत है—सूर्यका वंशज है। विवस्वान् माने सूर्य, उनके पुत्रका नाम वैवस्वत मनु और जो स्वायंभुव या वैवस्वत मनुकी सन्तान है, उसको बोलते हैं मानव। प्रकाश इसकी प्रकृति है, मनन इसका स्वभाव है और बुद्धिके देवता इसके आराध्य हैं—'धियो यो नः प्रचोदयात्।' इसलिए मनुष्यको दुःखी नहीं होना चाहिए, शोक संविग्न नहीं होना चाहिए। शोक रहित होनेपर ही बुद्धि प्रतिष्ठित होगी, डांवाडोल नहीं होगी और जहाँ बुद्धि स्थिर हुई, वहाँ कहना ही क्या है ?

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥२.६६

यदि आप अपने जीवनको उच्छृङ्खल—विशृङ्खल बना देंगे, युक्ताहार विहार नहीं रह जायेंगे—चाहे जो खा लेंगे, चाहे जहाँ रह लेंगे, आपकी चेष्टामें कोई कायदा नहीं रहेगा, आपके सोने-जागनेमें कोई मर्यादा नहीं रहेगी—तो आप अयुक्त हो जायेंगे। अयुक्त पुरुष अयुक्तः कामकारेण स्वच्छन्द हो जाता है और जो मौज होती है, वह करता है। उसकी बुद्धि स्थिर नहीं हो सकती।

आओ एक बार बुद्धिके गुण-दोषपर विचार करें। गीतामें केवल यही नहीं है कि आप मन्दिरमें दर्शन कीजिये। कीजिये दर्शन, आपको शुभ प्रेरणा मिलेगी। उसमें यही नहीं है कि आप माला फेरिये। माला फेरना अच्छा है क्योंकि 'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'—परन्तु इन सब बातोंके साथ-साथ गीतामें यह भी है कि अकेलेमें बैठकर ध्यान कीजिये। आपको अपनी बुद्धिके गुण-दोषपर विचार अवश्य करना चाहिए। यह आवश्यक ही नहीं, परमावश्यक है। क्योंकि बुद्धि आपके सर्वाधिक निकट है और उसीके शीशेमें आप अपना मुँह हमेशा देखते हैं।

बहुत वर्षोंकी बात है, मुझे कुछ लोग एक शीशेके सामने ले गये। उसमें मेरा मुँह लम्बा दीखने लगा! उस शीशेको काटकर ऐसे ढंगसे उसको बनावट की गयी थी कि उसमें अपना मुँह लम्बा, लटका हुआ दीखने लगा! मैंने एक शीशा ऐसा देखा, जिसके सामने जानेपर कपड़े ऊपर उठने लगते हैं और आदमी नंगा हो जाता है। एक शीशा ऐसा देखा, जिसमें आदमी नाटा दिखता है और एक शीशा ऐसा देखा, जिसमें नाटा आदमी लम्बा दिखता है। यदि आपको उन शीशोंके बारेमें यह मालूम न हो कि वे आपको कैसा बनाकर दिखाते हैं तो आप उनमें अपनी शक्ल देखकर गड़बड़ा जायेंगे। इसी तरह यह बुद्धि हमारे आत्माका दर्पण है, इसीमें हम अपनेको अथवा परायेको देखते हैं! भावका प्रभाव व्यक्तित्वपर पड़ता है! चिन्तामें मुँह लटक जाता है, क्रोधमें आँखें लाल हो जाती हैं। इसलिए देखिये कि जिस बुद्धिरूप शीशेमें आप अपने परायेको देखते हैं, वह कैसा है?

बुद्धिमें जो कामना है, वह क्या है? यह कामना अच्छी लगती है कि हमको राज्य मिले! आज कलकी पार्टीकी बात दूसरी है। उसमें सबसे बुरी बात यह है कि अपनी पार्टीका आदमी बदमाश-से-बदमाश हो तो उसको भी दूधका धुला बताना पड़ता है और यदि दूसरी पार्टीका आदमी दूधका धुला हो तो उसको भी बदमाश बताना पड़ता है! पार्टी आदमीको पक्षपाती बना देती है—चाहे वह किसी समाजकी हो, चाहे किसी मजहबकी हो या चाहे किसी राजनीतिकी हो। पार्टीबन्दी मनुष्यको न्यायके मार्गपर चलने नहीं देती।

इसलिए आप अपने-परायेका भेदभाव छोड़कर, निष्पक्ष होकर

पहले यह देखिये कि आपकी बुद्धि आपको पूर्णरूपसे दिखाती है या नहीं ? उसमें आपका प्रतिबिम्ब बिल्कुल ठीक पड़ता है या नहीं ? जब आप अपने मनपर दृष्टिगात करेंगे तो देखेंगे कि आप अपनी बुद्धिमें अपनी तस्वीर नहीं देख रहे हैं, दूसरेकी तस्वीर देख रहे हैं ! ऐसा क्यों हुआ कि आपकी तस्वोर आपके मनके दर्पणमें नहीं दिखी और दूसरेकी तस्वोर दिखायी पड़ो ! स्त्रीके मनमें पुरुषकी तस्वीर दीखतो है और पुरुषके मनमें स्त्रीकी तस्वोर दोखती है। ऐसा क्यों ? इसलिए कि स्त्री जानती है कि हमारे अन्दर पुरुषत्व नहीं है, वह अपने भीतर पुरुषत्वके अभावका अनुभव करती है और यह समझती है कि जो सुख पुरुषमें है, वह हमारे पास नहीं है, वह पुरुषके पास जानेसे मिलेगा। इस प्रकार हम अपनेमें जिस वस्तुका अभाव अनुभव करते हैं, उसको दूसरेसे पानेकी कोशिश करते हैं। यदि वह चीज अपने पास हो तो दूसरेसे उधार लेनेकी कोई जरुरत ही नहीं !

कामका, कामनाका, मूल क्या है ? अपनेमें अभावकी अनुभूति, अपूर्णताकी अनुभूति। जब हम अपनेको अपूर्ण देखते हैं तो दूसरेको पकड़कर पूर्ण होनेका प्रयास करते हैं ! किन्तु जब दूसरेको पकड़ते हैं तो पराधीनता आजाती है ! दूसरेको पकड़नेमें बुद्धिको न केवल पराधीन होना पड़ता है—बहुत खुशामदी भी बनना पड़ता है ! 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा'—ये दिल्लीके बादशाह हैं या जगदीश्वर हैं—ऐसे कहना पड़ता है ! जिसकी रोटी खाओगे, उसको थोड़े दिनोंके बाद परमेश्वर मानने लगोगे। इसीलिए सच्चे साधुओंने यह नियम बनाया कि एककी रोटी रोज मत खाओ !

मनमें जो काम आता है, वह उस विषयके लिए आता है, जिसको हम अपनेमें नहीं देख पाते और वह हमारी बुद्धिको हमारे घरमें-से निकालकर दूसरे घरमें रख देता है। देखो, यहाँ कामनाके दो कारण बताये—या तो अपने घरमें हमको उद्वेग है और दूसरेके घरमें हमारे घरकी अपेक्षा ज्यादा सुख है। गाँवकी एक स्त्री है ! वह अवकाश मिलते ही हाथमें पर्स लेकर बाजार चली जाती है। वहाँ एयरकन्डीशनवाली दूकानमें बैठती है, संगीत सुनती है, कुछ खाती-पीती है, फिर सामान देखती है और खरीदती है ! अपने घरमें उसका मन नहीं लगता। दूसरेके घरमें उसको मजा आता है !

यह एक उदाहरण है। आप देखिये कि आपकी बुद्धि भी तो कहीं ऐसी नहीं हो गयी है कि उसको अपने घरमें बैठना तो अच्छा नहीं लगता, दूसरेके घरमें बैठना ही अच्छा लगता है। यदि ऐसा है तो आप इसको क्या बोलेंगे। यही कि आपकी बुद्धि अपने घरमें, अपने मालिक-के पास नहीं बैठती। देखो, इसे गन्दे अर्थमें तो न लो, केवल समझानेके लिए सुनो कि बुद्धिको प्रतिदिन अपने आत्माके साथ सोना पड़ता है! उसको जब नींद लेना होता है, तब वह आत्माकी गोदमें आकर सोती है! अब यदि जगते ही दूसरेके घरमें चली जाये—जगी और भगीकी कहावत चरितार्थ करने लगी! तो उसको आप क्या कहेंगे? वह तो उस स्त्रीके समान हुई जिसे सोना तो अपने पतिके साथ पड़ता है, किन्तु जो जगनेपर पड़ोसीके घर चली जाती है! ऐसी स्त्रीको आप पतिव्रता या धर्मात्मा नहीं बोल सकते, कुलटा—भ्रष्टा ही बोलेंगे। आप उसकी गति-विधि देखकर यह आशङ्का करेंगे कि वह पड़ोसीके पास जाकर न जाने क्या-क्या बात करती होगी? उसके ऊपर कैसे विश्वास करेंगे, जो दिनभर पड़ोसीसे ही लपर-लपर बात करे? अरे बाबा, यह बात केवल स्त्रियों पर ही नहीं, पुरुषोंपर भी लागू होती है। इसमें लिङ्गभेद नहीं है! इस उदाहरणसे आपको देखना यह है कि आपकी बुद्धि कैसे रहती है और प्रतिष्ठित अथवा स्थितप्रज्ञ कब होती है?

> प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
> आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ २.५५

इस श्लोकका अर्थ समझनेके लिए भी पत्नी और पुरुषका उदाहरण ठीक रहेगा। कोई भी पत्नी पतिव्रता या पतिपरायणा कब होती है? तब होती है, जब वह दूसरेसे कुछ लेना नहीं चाहती और अपने घरमें सन्तुष्ट रहती है! किन्तु उसको अपने घर रहनेमें तो हो असन्तोष और दूसरेसे कुछ लेना चाहती है तो आप अपनी उस पत्नीपर विश्वास कैसे करेंगे? यही बात पतिके सम्बन्धमें भी है। यदि किसी पतिको अपने घरमें तो है असन्तोष और वह दूसरेसे कुछ पाना चाहता है तो उसपर विश्वास कैसे किया जा सकता है? उपर्युक्त श्लोकमें—'प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्'का अर्थ यह है कि मनुष्य दूसरेसे कुछ नहीं चाहता और 'आत्मन्येवात्मना तुष्टः'का अर्थ है कि वह अपने घरमें सन्तुष्ट है! अपने घरमें माने अपने आपसे!

अब समझो कि ऐसी स्थिति होनेपर क्या होगा ? उस मनुष्यकी प्रज्ञा स्थिर रहेगी या नहीं। अवश्य स्थिर रहेगी, क्योंकि उसको अपने घरमें उद्वेग नहीं है, असन्तोष नहीं है और दूसरेके घरमें कुछ लेना-देना नहीं है! वही बुद्धि या प्रज्ञा स्थिर है, जो आत्मदेवकी गोदमें सोती है और उनके प्रति वफादार रहती है।

तो, पहली बात है आत्मतुष्टि-मूलक स्थितप्रज्ञता। दूसरी बात है दु:ख-सुखमें उद्वेग और स्पृहाका न होना। तीसरी बात है शुभाशुभका अभिनन्दन और निन्दा नहीं करना। चौथी बात है अपनी इन्द्रियोंको संयममें रखना और पाँचवीं बात है केवल विषयोंका त्याग ही नहीं, सत्यका साक्षात्कार करना। इनकी चर्चा हम धीरे-धीरे करेंगे।

आइये; आप पहली बातपर। वह यह है कि आपके पास जो वस्तु है, उसको आप नहीं देख रहे हैं, दूसरेके पास जो है उसको चाह रहे हैं और आपके हृदयमें असन्तोष बना हुआ है। ऐसी स्थितिमें आपकी बुद्धि स्थिर नहीं हो सकती। उसके लिए आवश्यक है कि आप अपनेको देखिये और अपनेमें सन्तुष्ट रहिये। तब आपकी बुद्धि बिल्कुल ठीक काम करेगी।

कई लोग कहते हैं कि ये सब ऊँची-ऊँची ब्रह्मज्ञानकी बातें हैं, जो सुननेमें तो बहुत अच्छी लगती हैं और उनमें ऐसा मन लग जाता है कि फिर दूसरी बात सोचनेका मन ही नहीं होता। किन्तु इससे कभी-कभी होता यह है कि व्यक्तिगत जीवनकी उपेक्षा हो जाती है।

देखो, हम ब्रह्मज्ञानको बहुत अच्छा मानते हैं और उसको छोड़कर कभी कुछ और बोलते हों, यह बात भी नहीं है, जो भी बोलते हैं, ब्रह्मज्ञानको दृष्टिमें रखकर ही बोलते हैं। हमारी दृष्टिमें मनको पवित्र करनेके लिए ब्रह्मज्ञानसे बढ़कर और कोई वस्तु नहीं है—

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

ज्ञानके समान पवित्र तो दूसरा कुछ है ही नहीं और भगवद्भक्ति ?

इसका तो कहना ही क्या है—'अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्य-भाक्। साधुरेव स मन्तव्यः'।

दुराचारीको सदाचारी या साधु बनानेवाली तो भगवान्‌की भक्ति ही है। इसलिए वह बहुत बढ़िया है। परन्तु इसका अर्थ नहीं कि आप उसके लिए अपने व्यक्तिगत जीवनकी उपेक्षा कीजिये। मनुष्यके व्यक्तिगत जीवनमें भी ब्रह्मज्ञानकी, भगवद्भक्तिकी, प्राण-प्रतिष्ठा होनी चाहिए। हमारा व्यक्तिगत जीवन भी उत्तमकोटिका होना चाहिए।

अब यह कैसे हो, इसपर विचार करो। मनुष्य जीवनमें सुख-दुःख आते-जाते रहते हैं। हम कितनी बार रोये हैं, कितनी बार व्याकुल हुए हैं, कितनी बार हमारे प्राण तड़प गये हैं और कितनी बार ऐसा मालूम हुआ कि अब मरे, तब मरे।

यह क्या है? इससे कैसे छुटकारा मिले? इसमें विवेककी बात यह है कि एक तो होता है दुःखका निमित्त—जो बाहरसे आता है, दूसरी होती है मनमें दुःखाकार वृत्ति और तीसरा होता है मैं दुःखी हूँ—यह अभिमान।

जो दुःखके निमित्त हैं वे तो बाहरी दुनियामें उड़ते रहते हैं। लोग सोचते हैं कि कब, क्या, कहाँसे खबर आजायेगी और हाय-हाय हमें तो उसके अनुसार काम करना ही पड़ेगा। दुःखके निमित्त कुछ तो समष्टि-प्रारब्धसे आते हैं, कुछ व्यष्टि-प्रारब्धसे आते हैं, कुछ प्रकृतिसे आते हैं, कुछ ईश्वरकी ओरसे आते हैं और कुछ जीवके अपने कर्म और अपनी बेवकूफीके नतीजे होते हैं। इस प्रकार दुःख तो आते हैं। दुःखके निमित्तको कोई रोक नहीं सकता।

दुःखाकार वृत्ति होती है मनमें। यह दुःखाकार वृत्ति ऐसी है, जो चाहे जैसी भी हो आती है—चली जाती है। डॉक्टर एक इंजेक्शन दे दे देगा तब चली जायेगी, एक गोली खिला देगा तब चली जायेगी और नींद आजायेगी, तब चली जायेगी। दुःखाकार वृत्ति ऐसी कोई ठोस चीज नहीं है, जो कभी मिट न सकती हो। जब हम निमित्तको मिटानेका

प्रयास करते हैं तब हमारे सामने अशक्यानुष्ठान-लक्षण अप्रामाण्य आजाता है अर्थात् हम एक ऐसा काम करना चाहते हैं, जो कर नहीं सकते। गर्मी रोकना, सर्दी रोकना, भूकम्प रोकना, वज्रपात रोकना मनुष्यके वशकी बात नहीं है। किन्तु मनकी दुःखाकार वृत्तिको रोकनेका उपाय है। पहले बताये उपायोंके अतिरिक्त भगवान्‌में मन लग जाये, समाधि लग जाये, बेहोशी हो जाये तब भी दुःखाकार वृत्तिका निवारण हो जाता है। आप और भी कई उपाय कर सकते हैं; जिनसे आपकी वृत्ति दुःखाकार न हो, दुःख-संवित् न हो।

दुःखाकार वृत्ति होती है, प्रारब्धसे। प्रारब्ध माने हमारे मनकी बनावट। जैसे आप कोई मशीन बनाते हैं, तो आप उसकी डिजाइन कैसी होगी, उसमें कितने चक्कर लगानेकी शक्ति होगी और वह सर्दी-गर्मीका कितना दबाव सह सकेगी—इन तीन बातोंका ध्यान रखते हैं। अब यह समझो कि मशीनकी जो डिजाइन है, उसका नाम होता है—जाति, वह कितने चक्कर लगा सकेगी इसका नाम है—आयु और कितनी सर्दी-गर्मी सह सकेगी, इसका नाम होता है—भोग। प्राणीमें कोई भी जाति, आयु और भोग, ये तीनों बातें होती हैं। जातिमें मनुष्य पशु, पक्षी आदि आते हैं। यह प्राकृत जाति है, आकृति-ग्रहणा जाति है। इनकी शक्ल देखते ही हम पहचान जाते हैं कि यह मनुष्य है, पशु है, पक्षी है। जाति, आयु और भोग मिलते हैं—प्रारब्धसे।

किन्तु जो दुःखके निमित्त हैं, ये उससे भिन्न हैं। 'मैं दुःखी हूँ'—यह जो अभिमान है, वह भी अलग चीज है। यह प्रारब्ध नहीं, भ्रम है, अज्ञान है। अपने आत्माको न जाननेके कारण ही हम अपनेको दुःखी मान बैठते हैं। जैसे कोई बच्चा सिनेमा देखते समय जब नहीं समझ पाता कि यह तस्वीर है, तो वहाँके दृश्यको देखकर रोने लगता है। इसी प्रकार अपनेमें दुःखीपनेका अभिमान भ्रमजन्य है।

दुःखाकार वृत्ति पूर्व-पूर्व संस्कारके अनुसार बन जाती है और निमित्त, चाहे वह एक ही क्यों न हो, एकको सुख देता है तो दूसरेको दुःख देता है। 'हृष्येदेको मणिं लब्ध्वा'—एक ही मणि है। वह एकको मिल गयी तो वह खुश हो गया और दूसरेको नहीं मिली तो वह दुःखी

हो गया। किन्तु एक तीसरा भी है, जिसको न पाना है, न छोड़ना है, वह अपनी मौजमें है, उदासीन है।

तो जीवनमें जो दुःख आते हैं, इनमें हम दुःखीपनेका अभिमान धारण न करें। जो होता है, वह होने दें और जो कहा जाता है, वह कहा जाने दें। अपनेको दुःखके साथ मिलाकर जब हम दुःखी हो जायेंगे, तब दुःख हमारे सिरपर सवार हो जायेगा और हमारी बुद्धि डाँवाडोल हो जायेगी। हम देखते हैं कि जब किसीको घाटा लगता है तो वह व्यवहारमें झटपट करोड़पति बनने के लिए ऐसा कदम आगे रख देता है, जिससे और भी अधिक हानि हो जाती है। इसलिए उसको जल्दबाजीमें, रातभरमें करोड़पति बनने के लिए कदम नहीं उठाना चाहिए। बल्कि जब घाटा लगनेका दुःख मिट जाये, घबराहट दूर हो जाये, बुद्धि स्वस्थ हो जाये, प्रसन्नता प्राप्त हो जाये, तब उसे कदम उठाना चाहिए। घबराहटमें तो काम और भी बिगड़ जाता है।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः, दुःखेषु गतागतेषु आगमापायिषु।

बहुत दुःख हैं। एक दुःख जाता है तो दूसरा आता है। दूसरा जाता है तो तीसरा आता है। लेकिन तुम घबराओ नहीं, चट्टानकी तरह अडिग रहो, कूटस्थ पुरुष बन जाओ। जो आया है, वह चला गया। तुम क्या साथ लेकर आये थे? कितने रुपये माताके गर्भमें-से तुमने लिये थे? फिर शोक क्यों करते हो? उद्विग्न क्यों होते हो?

असलमें न दुःखकी कोई शक्ल-सूरत होती है, न दुःखमें लम्बाई-चौड़ाई होती है, न दुःखमें वजन होता है और न दुःखकी कोई उम्र है। आप तौलकर—मापकर बताओ तो सही कि दुःखमें कितना वजन है, कितनी लम्बाई-चौड़ाई है, क्या शक्ल-सूरत है और उसकी कितनी उम्र है? जैसे लोग भूत-प्रेत पिशाचको बिना देखे उनसे डरते हैं, वैसे ही दुःखको भी बिना देखे ही मान बैठते हैं कि यह हमारे साथ चिपक गया। अरे बाबा, दुःखसे डरो मत—'अनुद्विग्नमनाः' हो जाओ। वे आते हैं तो आने दो, जाते हैं तो जाने दो।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

: ५ :

भगवान् श्रीकृष्णने मनुष्यके दो शत्रुओंका वर्णन किया है। जो गाली दे सो शत्रु नहीं, वह तो हितैषी भी हो सकता है। जो एक चाँटा लगाये, सो शत्रु नहीं, वह तो माँ-बाप भी हो सकते हैं। शत्रु वह होता है, जो हमको नीचे गिरावे, अधःपतित करे, पतनीय कर्ममें ले जाये।

कर्म दो प्रकारके होते हैं—एक अभ्युदनीय और दूसरा पतनीय। जिनसे हमारा उत्थान हो, हम सूर्यको तरह चमक जायँ, निर्मल हो जायँ, हमारे जीवनकी चाँदनी छिटक जाये—वे अभ्युदनीय कर्म हैं। पतनीय कर्म वे हैं, जिनसे हम गड्ढेमें गिर जायँ।

संस्कृत भाषामें शत्रु शब्दका अर्थ है सतानेवाला—'शातनात् शत्रु'। जो हमें तकलीफमें—तापकलामें—डाल दे, वह शत्रु है।

भगवान् श्रीकृष्ण शत्रुका उल्लेख करते हुए, अर्जुनको बताते हैं कि शत्रु कौन है और कहाँ रहता है। कहते हैं कि 'महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्' यह बड़ा पापी है, वैरी है, इसको पहचानो। भगवान् पहले शत्रुका नाम बताते हुए कहते हैं कि उसके दो रूप होते हैं—एक काम और दूसरा क्रोध। शत्रु तो एक ही है, पर वह दो रूप धारण करके आता है। वह कभी बर्फ जैसा ठण्डा होकर आता है, शर्बत जैसा मीठा होकर आता है और कभी जहर-सरीखा कड़वा होकर आता है, आग बनकर आता है। एक ही चीज कभी आग बन जाती है और कभी बर्फ। श्रीकृष्ण कहते हैं—'काम एष क्रोध एष—एष कामः एष क्रोधः। एषः एषः का मतलब है कि दोनों एक हैं। इनके बापका क्या नाम है? इनकी वल्दियत भी तो चाहिए न! इसलिए बोले कि 'रजोगुण-समुद्भवः'

इनकी उत्पत्ति रजोगुणसे होती है। ये खाते-पीते क्या हैं? बोले कि 'महाशनः' इनका पेट कभी नहीं भरता। इनके सामने जो चीज आयी, उसीमें ये मुँह मार देते हैं। अच्छा, करते क्या हैं? बस पूछो मत, बड़े ही पापी हैं। जब भी करते हैं, पाप ही करते हैं। इनको दुश्मनके रूपमें पहचानो।

काम-क्रोध करते क्या हैं? बोले कि तुम्हारी आँखपर पर्दा डाल देते हैं—'धूमेनाव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च।' इनके आनेपर आपको सच्ची चीज दिखायी नहीं पड़ती। जब कामका उदय होता है तो कुरूप भी सुन्दर दीखने लगता है और जब क्रोध आता है तो सुन्दर भी कुरूप दीखने लगता है। ये हमारी नजरको हो बदल देते हैं, उसके सामने पर्दा खड़ा कर देते हैं। पर्दा भी तीन तरहका होता है—एक धूँयेका पर्दा, दूसरा मैलका पर्दा और तीसरा उल्बका, जेरका, जरायुका पर्दा। काम-क्रोध हमारी आत्माको भी एक पर्देसे ढक देते हैं।

अब जरा इनके रहनेकी जगहपर ध्यान दो कि ये कहाँ रहते हैं। हमारे एक मित्र हैं, सज्जन हैं, रथपर चढ़कर यात्रा करते हैं। समझ लो कि हमारा मित्र और कोई नहीं, स्वयं हम ही हैं। दूसरे एक हमारे दुश्मन हैं, जो चुपकेसे रोज हमारे घोड़ेको खिला जाया करते हैं। हमारी बागडोरको कमजोर कर देते हैं। हमारे सारथिको रिश्वत देकर, घूस देकर अपने पक्षमें कर लेते हैं। एक दिन हमने अपना रथ सजाया, घोड़े जोड़े, उनकी लगाम सारथिके हाथोंमें दी, सारथिको आगे बैठाया और कहा कि ले चलो भाई, आज हम शत्रुपर चढ़ाई करना चाहते हैं। लेकिन हमारे दुश्मनने तो तीनोंपर अधिकार कर लिया था—घोड़े उसके हाथमें, बागडोर उसके हाथमें और सारथि भी उसके पक्षमें। अब हमारा सारथि दुश्मनसे मिला हुआ है, हमारे घोड़ोंकी लगाम दुश्मनने कमजोर कर दी है और हमारे घोड़ोंको ऐसा इशारा सिखा दिया है कि वह सामनेसे उँगली दिखाता है तथा हमारे घोड़े उल्टी दिशामें भाग खड़े होते हैं।

हमारा वह दुश्मन कहाँ रहता है? उसके रहनेकी जगह देखो। गीता कहती है कि वह तो हमारे घरमें ही रहता है। हमारी इन्द्रियाँ, हमारा मन और हमारी बुद्धि ही उसका निवासस्थान है—

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।

कठोपनिषद् ( १. ३. ३. ४ ) में यह रूपक आया है कि आत्मा = जीवात्मा रथी है और शरीर रथ है—'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च'। बुद्धि सारथि है—'बुद्धिं तु सारथिं विद्धि'। मन बागडोर है—'मनः प्रग्रहमेव च'। इन्द्रिय घोड़े हैं और हम रथपर चढ़कर 'विषयाँस्तेषु गोचरान्' विषय-देशमें यात्रा करते हैं। किन्तु जब हम यात्रा करनेके लिए निकलते हैं तो अपने शत्रुके विश्वासघातके कारण फँस जाते हैं। इसलिए आप देखिये कि आपका बुद्धिरूप सारथि और इन्द्रिय-रूप घोड़े आपके वशमें हैं या आपके शत्रुके वशमें हैं ? इसको आप अच्छी तरह पहचानिये।

एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्।

यदि हमारी बुद्धि, हमारा मन, हमारी इन्द्रियाँ शत्रुके अर्थात् कामके—क्रोधके पक्षमें हो गयीं तो हमारे ज्ञानपर पर्दा पड़ जाता है और हम मोहमें पड़ जाते हैं। ये काम-क्रोध ऐसे हैं, जो हमारी बुद्धिको गड़बड़ा देते हैं और उसको गलत रास्तेपर ले जाते हैं। पहले मालूम पड़ता है कि हम देखते ही तो हैं, इसमें कौन-सा पाप है ? भला देखनेमें भी पाप लगता है। फिर मालूम पड़ता है हम दो-दो बात ही तो करते हैं, इसमें कौन-सा पाप लगता है ? फिर लगता है, हम छूते ही तो हैं, इसमें क्या पाप है ? इस प्रकार क्रमशः गिरते-गिरते-गिरते यहाँतक गिर जाते हैं कि फिर कुछ बाकी ही नहीं रहता—

अधोऽधो गाङ्गेयं पदमुपगतं स्तोकमधुना
विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः।
( नीतिशतक १० )

जिनका विवेक भ्रष्ट हो जाता है, जिनको अच्छाई-बुराईका ज्ञान नहीं रहता, वे गिरते जाते हैं, गिरते जाते हैं तथा यहाँतक गिर जाते हैं कि उनके गिरावको कोई मर्यादा, कोई अन्त नहीं रहता कि वे और कितने नीचे गिरेंगे। इस बातको हम और भी साफ करके बताना चाहते हैं—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायोर्नावमिवाम्भसि ॥२.६७

पहले इन्द्रियाँ घास चरने जाती हैं, फिर मन उनके पीछे-पीछे जाता है और फिर बुद्धि लुट जाती है। यह बात समझनेके लिए आप अपने जीवनपर एक दृष्टि डालिये। मान लीजिये, आप बाजारमें चलते-चलते एक बढ़िया मोटर देखते हैं, एक बढ़िया साड़ी देखते हैं, एक बढ़िया जेवर देखते हैं और वे सब आपकी आँखोंको पसन्द आते हैं। अब आगे हो गयी आखें और आँखोंके पीछे आगया मन कि ये चीजें हमारे पास भी होनीं चाहिए। इसके बाद मनने सोचा कि किस युक्तिसे हम इन चीजों को पावें। इतना ही क्यों, आँखसे एक स्त्री देख ली, एक पुरुष देख लिया, एक मकान देख लिया, सिनेमा या क्लबमें एक पर्दा देख लिया, फर्नीचर देख लिया, एक डायलाग सुन लिया और मनमें सोचने लगे कि हमारे घरमें भी ऐसा हो होना चाहिए। इस प्रकार कामरूप शत्रु आपके साथ लग गया और आप यह सोचने लगे कि यह ढंग अपनाओ, यह युक्ति करो, इनसे मिलो, उनसे दोस्ती करो, अमुक मिनिस्टरको अपने पक्षमें करो, तब हमारी यह इच्छा पूरी हो जायेगी। अब आपका यह हाल हो गया कि आगे-आगे इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंके पीछे मन और मनके पीछे बुद्धि। आपने अपनी बुद्धिको बिल्कुल पीछे कर दिया और बुद्धिके पीछे आप हो गये। अब आप घसीटे जा रहे हैं, घसीटे जा रहे हैं।

अच्छा, अब दूसरी बात देखो। एक आदमी है। वह अपने घरके एकान्तमें बैठा है। उसकी बुद्धिने कहा कि अब ठण्डके दिन आ रहे हैं, हमको कपड़े बनवाने चाहिए। उसने बुद्धिकी बात मान ली, आवश्यकतानुसार कपड़े बनवानेका निश्चय कर लिया, बाजार गया, आँखसे पसन्द करके कपड़े ले आया।

यहाँ आगे-आगे बुद्धि चली, पीछे मन चला और मनके पीछे इन्द्रियाँ चलीं। पहले आगे-आगे चली थी इन्द्रियाँ, उनके पीछे चला था मन और मनके पीछे चली थीं बुद्धि। इस प्रकार दो स्थितियाँ हो गयीं। अब आप स्वयं सोचो कि आपके जीवनकी गति किधर है? आप इन्द्रियोंके पीछे चलते हैं या आपका मन और इन्द्रियाँ आपकी बुद्धिके पीछे चलती हैं? आपकी बुद्धि तब भ्रष्ट हो जाती है, जब उसके आगे इन्द्रियाँ चलने लगती हैं। कैकेयी गलत रास्तेपर कब चलती है? जब मन्थराके पीछे चलती है। मन्थराकी शरणागति कैकेयीको नष्ट-भ्रष्ट कर

देती है और कैकेयीकी शरणागति दशरथको मार डालती है। अपनेसे नीचेकी, हीनकी शरणागति नहीं होनी चाहिए। सहारा लेना हो तो उत्तम पुरुषका, पुरुषोत्तमका सहारा लेना चाहिए। मन्थरा-कैकेयी-शरणागति उलटी है। इसको व्यतिरेककी रीति बोलते हैं। यहाँ व्यतिरेकको विधासे शरण्यका वर्णन है। मन्थरा-कैकेयी-सी शरणागति योग्य नहीं हैका अर्थ है कि इन्द्रियाँ शरणागतिके योग्य नहीं हैं, मन शरणागतिके योग्य नहीं है। इसलिए इन्द्रियोंकी तृप्तिके लिए मनमें जो आये, मत करो। बुद्धिको प्रतिष्ठित बनाओ। बुद्धिका प्रतिष्ठित होना माने जीवनका, व्यक्तित्वका उत्कृष्ट होना। यह मानव-धर्म है।

**वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।**

मनुष्यको चाहिए कि वह दुःखमें घबराये नहीं और सुखमें स्पृहा न करे। मैंने स्पृहा शब्दका प्रयोग जान-बूझकर किया है। गीतामें काम, स्पृहा, ममता और अहंकार इन चार शब्दोंका वर्णन एक साथ किया गया है—

> **विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।**
> **निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥**
> (गीता २.७१)

श्रीकृष्ण कहते हैं कि तुम काम, स्पृहा, ममता और अहंकार इन चारोंको छोड़ दो, फिर तुम्हारे जीवनमें शान्ति-ही-शान्ति है। जो तुम्हारे पास नहीं है, उसके लिए व्याकुल मत होओ और जो तुम्हारे पास है, वह बना रहे—उसके लिए स्पृहा मत करो। अरे भाई, अब तो तुम्हारे दाँत टूट रहे हैं, बाल सफेद हो रहे हैं, इनको कबतक बनाये रखोगे? कबतक चेहरेपर झुर्री नहीं पड़ेगी? कितना भी तेल-फुलेल लगाओ, कितना भी स्नो-पाउडर खर्च करो, चमड़ी तो सिकुड़ेगी ही, वह तुम्हारे पास रह नहीं सकती। एक महात्मा कहा करते थे कि यह भी नहीं रहेगा, वह भी नहीं रहेगा। जब जानेवाली वस्तुके प्रति स्पृहा हो जाती है कि यह बनी रहे—धन बना रहे, जवानी बनी रहे, कुर्सी बनी रहे—तब समझो कि तुम्हारे पास अशान्ति आयी। क्योंकि आज जो कुर्सी है, कल उलट जायेगी। आज जो जवानी है, कल बुढ़ापेमें

बदल जायेगी। आज जो पैसा है, कल नहीं रहेगा। स्पृहासे दुःख ही दुःख होता है।

अब रही ममता और अहंकारकी बात। अहंकारके दो रूप हैं। एक तो होता है प्राकृत और दूसरा होता है आविद्यक। एक अहम् वह है जो कहता है कि यह हाथ मेरा, यह मुँह मेरा। मैं हाथवाला हूँ, मुँहवाला हूँ और वह हाथसे उठाकर मुँहमें भोजन डाल देता है। हाथ और मुँह दोनोंका मालिक बनकर शरीरमें बैठनेवाला अहम् प्राकृत है। किन्तु मैं धनवाला हूँ, भोगवाला हूँ, विद्यावाला हूँ अथवा अन्य किसी भी बाहरी वस्तुका मालिक बनकर बैठनेवाला अहम् अविद्याका बेटा है। इस प्रकार सांख्ययशास्त्रके अनुसार एक तो अविद्यासे अस्मिता होती है और एक प्रकृतिसे महत्तत्त्व तथा महत्तत्त्वसे अहंकार तत्त्व होता है जो प्राकृत होता है।

प्राकृत अहंकार तो विवेकी के जीवनमें भी रहता है। वह जब हाथसे भोजन उठायेगा तो आँख, कान या नाकमें नहीं डालेगा, मुँहमें ही डालेगा! किन्तु अविद्याजन्य जो अस्मिता है, वह मूर्खोंको ही होती है। देखो, यह धरती है, एक प्राकृत वस्तु है। परन्तु अविवेकी कहते हैं कि यह भूमिखण्ड मेरा है! अरे, यह जमीन तो तुम्हारे पिताके जमानेमें भी थी, दादाके जमानेमें भी थी। जब यह तुम्हारी पिताकी, दादाकी नहीं हुई, तो तुम्हारी कैसे होगी! तुम्हारी यह मान्यता तो अविद्यामूलक है, मिथ्याज्ञान-मूलक है।

तो बहती हुई चीजको रोककर अपने पास रखनेकी इच्छाका नाम स्पृहा है। यह दुःखदाई है! इसलिए बहनेवाली बाहरी चीजमें बहनेका मजा लो और रहनेवाली आत्मामें रहनेका मजा लो! तभी सुखी रहोगे। बहती हुई चीजको रखना चाहोगे और रहनेवालीको भेजना चाहोगे तो वह मिथ्याज्ञानका विलास हो जायेगा। इसलिए निःस्पृहता चाहिए।

देखो, हम साधुओंकी बात सुना रहे है। वे कहते हैं कि कोई पाँच रुपया दे जाय, यह कामना नहीं होनी चाहिए, और यदि कोई दे जाये तो ये पाँच रुपये हमारे पास बने रहें, यह स्पृहा नहीं होनी चाहिए और उन पाँच रुपयों को कोई उठा ले जाये तो 'मेरे' उनकी ममता नहीं होनी चाहिए। अब ममता तो नहीं हुई किन्तु बोले कि देखो, मैं कितना त्यागी

हूँ। कोई मेरे पाँच रुपये उठा ले गया और मुझे उसकी कुछ भी परवाह नहीं है। यह त्यागका अहंकार हो गया! अतः काम-स्पृहा-ममता-अहंकार, इन चारोंका परित्याग ही शान्ति प्राप्त करनेका उपाय है और आपकी बुद्धि भी स्थिर हो सकती है।

अरे बाबा, इस संसारको चीरते चलो! इसकी यथार्थताको समझो। जरा सोचो तो सही, आजतक तुमने क्या नहीं छोड़ दिया है? तुमसे क्या नहीं छूट गया है? फिर कामना, स्पृहा, ममता और अहंकार किसके लिए?

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।

अब आप देखो, आपकी बुद्धिको बिगाड़नेवाली वस्तु क्या है? जरा क्रोधकी ओर ध्यान दो। जब आपके मनमें क्रोध आता है और आप समझते हैं कि हम उचित क्रोध कर रहे हैं, तब क्या होता है? आपके मुँहसे अनाप-शनाप बात निकलने लगती है! आपकी आँखें लाल हो जाती हैं। आपके हाथसे बुरी क्रिया होने लगती है। आप अपना पाँव पटकने लगते हैं! हाथ काँपने लगते हैं। जीभ लड़खाड़ाने लगती है। पहले मुँह लाल होता है, फिर काला हो जाता है और हृदयकी धड़कन बढ़ जाती है! रक्तकी चाप जिसे अंग्रेजीमें ब्लडप्रैशर कहते हैं, बढ़ जाती है। बहुत अधिक क्रोध होनेपर हृदयकी गति बन्द होते, हार्ट फेल होते भी देखा गया है!

तो, क्रोध एक रोग है और यह शरीरको नहीं, बुद्धिको भी भ्रष्ट करता है! क्रोध आनेपर क्या आप सबको परमात्मा समझ सकते हैं? अपने आत्माके विलासका साक्षात्कार कर सकते हैं? सबको माया, सबको मिथ्या, सबको पञ्चभूतके रूपमें हृदयङ्गम कर सकते हैं? कौन-सी तात्त्विक दृष्टि रहती है उस समय जब आपके हृदयमें क्रोधाग्निकी ज्वाला जलने लगती है। जब आप क्रोधसे विह्वल हो जाते हैं? वास्तविकता यह है कि आप क्रोधावेशमें सत्यसे सर्वथा दूर हो जाते हैं और आपका जो शान्त, शुद्ध, मुक्त आत्मा है, वह भी क्रोधके साथ एकाकार हो जाता है!

'क्रोधः कस्मात्'—क्रोधको क्रोध क्यों कहते हैं? इसलिए कहते हैं कि—'कं सुखस्रोतः रून्द्धोति' वह हमारे हृदयमें प्रवाहित होनेवाले

सुखके स्रोतको, सुखके झरनेको, सुखके सरोवरको, सुखकी नदीको—जिसका जल निर्मल है, स्वच्छ है, शीतल है, शान्त है, अवरुद्ध कर देता है, रोक देता है। उससे सुखानुभूति बन्द हो जाती है, चिन्गारियाँ निकलने लगती हैं। क्रोधमें न ईश्वरकी दृष्टि रहती है, न आत्माकी दृष्टि रहती है, बुद्धि हो जाती है नष्ट-भ्रष्ट !

यह बात दूसरी है कि आप किसपर क्रोध कर रहे हैं और क्यों कर रहे हैं ? यदि कहो कि जिसपर आप क्रोध कर रहे हैं, वह आदमी बहुत बुरा है और यही उसपर क्रोध करनेकी वजह है। तो यह वकालतकी बात हुई। वकील लोग सिद्ध कर सकते हैं कि आपने जो क्रोध किया गाली दिया, मारा, वह बहुत उचित था। वकील पक्षधर होते हैं, पक्षी होते हैं। पक्षीको जिधर चारा मिला, उधर उड़ गया। यह कहकर हम वकीलोंकी निन्दा नहीं कर रहे हैं। हम तो यह कह रहे हैं कि जो वकालतको बात है, वह सन्तोंकी बात नहीं है। लेकिन सन्त यह कहते हैं कि हमारे हृदयमें जो क्रोध आया, उसकी तकलीफ हमने भोगी। उसने हमारी बुद्धिको बिगाड़ दिया, विकृत कर दिया और हम उससे आविष्ट होकर वह सब कर बैठे, जो हमें नहीं करना चाहिए था। इसलिए सभी समझदार व्यक्तियोंको, क्रोधावेशमें किये गये कारनामोंपर पश्चात्ताप होता है।

अब आपको क्रोधके सम्बन्धमें थोड़ी-सी बात और बताता हूँ। देखो, क्रोध कब आता है ? तब आता है, जब हम यह चाहने लगते हैं कि मन तो हमारा हो और तन दूसरेका काम करे अर्थात् हमारी इच्छाकी पूर्ति दूसरेके द्वारा हो। मालिक कहता है कि नौकर हमारे मनके अनुसार काम करे, पति कहता है कि पत्नी हमारे मनके अनुसार चले और पत्नी कहती है कि पति हमारे मनका अनुसरण करे। बहू कहती है कि सास हमारे मनसे चले और सास कहती कि बहू हमारे मनसे चले। जब ऐसा नहीं होता तब उनको एक-दूसरे पर क्रोध आता है।

अब आप सोचिये, यह कहाँका न्याय है कि मन तो हो एकका, तन हो दूसरेका और फिर दोनों एक-दूसरेको अपनी मर्जीके अनुसार चलानेका हक समझें ? क्या दूसरेके मनको, तनको, जीवनको मशीन बनानेका

तुम्हें हक मिला हुआ है ? अरे भाई, जिस तरह तुम्हारा मन है, उसी तरह दूसरेका भी मन है। इसलिए ऐसे रहो कि कुछ तुम्हारे मनकी हो और कुछ दूसरेके मनका हो—समझौतेका जीवन व्यतीत करो, परस्पर सहानुभूतिपूर्वक रहो। अपना-ही-अपना मन, अपनी-ही-अपनी जिद्द, यह भी क्या कोई जीवन है ?

इसलिए पहलेसे ही रोक लगाकर रखो कि क्रोध न आने पावे। इस समय मैं आपको दर्शन-शास्त्रकी नहीं, बड़ी हल्की-फुल्की बात सुना रहा हूँ। आप यह सोच लो कि मनमें क्रोध आजाये तो कोई बात नहीं, वह तो सपना है, आवेगा चला जायेगा। सपनेमें भी तो क्रोध आता है। सपनेमें भी हम कई बार दूसरोंको पीट देते हैं, गाली देते हैं। लेकिन जब हम जागते हैं, तब बुद्धिसे उस क्रोधका समर्थन नहीं करते। यह नहीं कहते कि जब स्वप्नमें क्रोध आ ही गया तो आओ जाग्रतमें भी कर लें। इसलिए यदि मनमें क्रोध आ भी जाये तो न बुद्धिसे उसका समर्थन करो और न उसको क्रियान्वित होने दो। यदि तुम बुद्धिको क्रोधके साथ नहीं जोड़ोगे और क्रोधके अनुसार क्रिया नहीं करोगे तो वह क्रोध स्वप्नवत् हो जायेगा तथा उसका कोई संस्कार तुम्हारे चित्तपर नहीं पड़ेगा।

इसलिए क्रोधको रोकनेके लिए पहलेसे ही युक्ति निकाल लो। आपको खाने-पीनेकी कोई चीज सबसे अधिक अच्छी लगती होगी ? शक्कर अच्छी लगती होगी, नमक अच्छा लगता होगा, खटाई अच्छी लगती होगी ? कोई-न-कोई ऐसी चीज जरूर होगी, जिसको आप रोज-रोज लेना पसन्द करते होंगे। मान लीजिये, वह चीज चाय है। अब आप ऐसी प्रतिज्ञा करो कि यदि आपको एक बार क्रोध आगया और आपकी जीभ या क्रियासे जाहिर हो गया, तो आप तीन दिनतक चाय नहीं पीयेंगे। इस प्रतिज्ञाके फलस्वरूप जब क्रोध आनेका टाइम होगा, तो चाय आकर आपके सामने खड़ी हो जायेगी और कहेगी कि प्यारे, मुझे छाड़ रहे हो ? अब आपका क्रोध डर जायेगा और आपसे दूर भाग जायेगा।

इस प्रसंगमें माता कस्तूरबाकी बात याद आती है। उनको नमक बहुत प्रिय था। जब वे बीमार पड़ीं तो डाक्टरने बताया कि तुम थोड़े दिनतक नमक मत खाओ। फिर तुम्हारा रोग दूर हो जायेगा। कस्तूरबाने

गांधीजीसे कहा कि हम तो नमक खाये बिना रह नहीं सकते। फिर नमक कैसे छोड़ें ? गांधीजीने कहा कि अच्छा, मैं प्रतिज्ञा करता हूँ— बीस दिन तक नमक नहीं खाऊँगा। कस्तूरबा जानती थी कि महात्माजी-के मुँहसे निकला वाक्य वज्रलेख हो जाता है। जब वे नमक नहीं खायेंगे, तब मैं कैसे खाऊँगी ? उन्होंने गांधीजीके साथ-साथ नमक छोड़ दिया और वे रोग-मुक्त हो गयीं।

कहनेका मतलब यह है कि यदि आपको भी नमक प्रिय है और आप उसके बिना रह नहीं सकते तो आप क्रोधसे कहिये कि यदि तुम एक बार भी मेरे तन, मन, वचन और क्रियामें आगये तो मैं सप्ताह भर नमक नहीं खाऊँगा। फिर नमक स्वयं आपके सामने आकर आपको क्रोध करनेसे मना करेगा।

इसके अतिरिक्त क्रोध निवारणके और भी कई उपाय हैं। आपको क्रोध आता दिखे तो आप चुप हो जाइये, मौन हो जाइये, वहाँसे हट जाइये और भगवान्‌का नाम लेने लग जाइये। क्रोध अपने-आप भग जायेगा। क्रोध आनेपर दान-दक्षिणा देनेका नियम ले लेनेसे भी क्रोध चला जाता है। परन्तु नियम ऐसा लेना चाहिए, जो अपनी शक्तिसे आर्थिक दृष्टिसे कुछ भारी पड़ता हो। किन्तु इसी नियमको दूसरोंपर प्रकट न करके, गोपनीय रखना चाहिए, अन्यथा दूसरे लोग उससे लाभ उठाने लगते हैं। एक सेठने प्रतिज्ञा की कि मुझे किसीपर एक बार क्रोध आयेगा तो मैं दस रुपये लुटा दूँगा। जब यह नौकरोंको मालूम पड़ गया तो वे दिन भरमें उसको दस बार क्रोध दिला दें और सेठको दस-दस रुपये लुटाने पड़े। वह सेठ साधारण था। इसलिए उसको बार-बार दस-दस रुपये लुटाना बहुत भारी पड़ गया। इसलिए चुपचाप अपने मनमें संकल्प कर लेना चाहिए और इसका ध्यान रखना चाहिए कि देनेमें थोड़ा बोझ भी जरूर पड़े। इस नियमसे भी क्रोध क्रियामें नहीं आयेगा।

एक बात हँसीकी है, पर है कामकी। यदि आपको क्रोध आये तो आप शीशेके सामने जाकर खड़े हो जाइये और देखिये कि आपकी आँखें कैसी लाल हो रही हैं और आपके होंठ कैसे फड़क रहे हैं। जरा क्रोधके समयकी अपनी शक्ल-सूरत देखिये। लेकिन यह अपने आप करनेका है। किसी दूसरेको शीशा दिखानेका नहीं है। यदि आप

दूसरेके क्रोधको दूर करनेके लिए उसे शीशा दिखाओगे तो वह शीशा तोड़ देगा और तुम्हारे ऊपर पटक देगा। मतलब यह है कि मनुष्यको क्रोधके समय सावधानी रखनी चाहिए और इस बातका भरपूर प्रयत्न करना चाहिए कि क्रोध न आवे।

इसी तरह कामका प्रसंग उपस्थित हो तो मनुष्य सतर्क हो जाये और विवेकका सहारा ले। स्त्री पुरुषकी ओर और पुरुष स्त्रीकी ओर दृष्टि पड़ते समय यह विचार करे कि बाहर जो दिखाई पड़ रहा है, उसके भीतर कितनी गन्दगी है। जिस कामके पीछे तुम पागल हो रहे हो, उसकी पूर्तिमें कितनी गन्दगी है। इस दुनियामें जितनी भी गन्दगी है, वह शरीरसे ही निकलती है। जो भी आपके 'मैं'से अलग हुआ, वह गन्दा। आँखमें-से निकला, वह गन्दा। कानमें-से निकला, वह गन्दा। नाकमें-से निकला, वह गन्दा। मुँहमें-से निकला, वह गन्दा। पसीनेमें-से निकला, वह गन्दा। पीवके रूपमें, खूनके रूपमें, हड्डीके रूपमें, हवाके रूपमें, मल-मूत्रके रूपमें, इस शरीरसे जो भी निकलता है, वह गन्दगीसे भरा होता है और आप उसे देखना भी पसन्द नहीं करते। शरीरके सिवा और कहीं गन्दगी होती ही नहीं। जहाँ भी प्राणीके शरीरका सम्बन्ध जुड़ जाता है, वहाँ उसके शरीरसे निकली हुई चीजें, वहाँकी मिट्टी, पानी और आगको भी गन्दी कर देती हैं, अन्यथा मिट्टी पानी, आग अपने-आपमें गन्दी नहीं होती। इसलिए यदि मनमें काम आता हो तो यह देखो कि जिसके प्रति काम आता है, उसमें क्या-क्या गन्दापन है ?

एक उपाय और है। जिसके प्रति कामका उदय हो रहा है, उससे अधिक सुन्दरका ध्यान करो, भगवान्‌का ध्यान करो, भगवती जगदम्बाका ध्यान करो।

जब हम किसी चीजको बहुत सुख देनेवाली समझते हैं, तब नित्य-अनित्यकी चर्चा काम नहीं देती। मनुष्यकी कामना सुखके प्रति होती है, चाहे वह नित्य हो या अनित्य हो। अनित्य-अनित्य कहनेसे कामना नहीं मिटती। असत्य-असत्य करनेसे भी कामना नहीं मिटती। क्योंकि लोगोंको जब असत्य बोलनेसे पैसा मिलता है तो लोग असत्य बोलते हैं। यह जानते हुए भी पैसा टिकनेवाला नहीं है। इसी तरह यदि सुख

चार दिनके लिए भी मिलता हो, चार घण्टेके लिए भी मिलता हो, चार मिनटके लिए भी मिलता हो, तो लोग उस सुखके लिए अनित्यको, असत्यको स्वीकार कर लेते हैं। यही कारण है कि लोग चोरी-बेईमानी करते हैं! इसलिए नित्य-अनित्यके अथवा सत्य-असत्यके विवेकसे कामना नहीं मिटती।

कामना मिटती है सुख-दुःखके विवेकसे। अपने हृदयमें सुख है, भगवान्‌में सुख है, शान्तिमें सुख है। इसलिए मनमें कामना आवे तो भगवान्‌का ध्यान करो। ध्यान न हो तो उपनिषद्‌का, गीताका पाठ करने लग जाओ। यह भी न हो तो एकान्तमें मत बैठो, लोगोंकी भीड़में चले जाओ, वहाँ बात करो, चुपचाप मत रहो।

काम जानामि ते मूलं सङ्कल्पात् किल जायसे।

तो ये काम-क्रोध ही बुद्धिको बिगाड़ते हैं। इनके प्रभावसे ही हमारी बुद्धि हमको कामके फन्देमें फँसाती है और क्रोधकी आगमें जलाती है। एक जैन-ग्रन्थमें बहुत बढ़िया बात लिखी है। एक सज्जनको क्रोध आगया और क्रोध आनेपर विवेकका लोप हो गया। उन्होंने देखा कि एक लोहार लोहेका गोला गर्म कर रहा है। उन्होंने क्रोधावेशमें दौड़कर वह लोहेका गोला उठाया और जिसपर क्रोध आया था, उसपर फेंक दिया। लेकिन जिसपर फेंका, वह तो भागकर या झुककर या लेटकर जैसे भी हो बच गया, लेकिन गोला फेंकनेवालेका हाथ जल गया। जिसपर क्रोध आता है, उसकी हानि होगी या नहीं होगी—यह तो बादकी बात है, लेकिन जो क्रोध करता है, उसका दिल पहले जलता है।

इसी तरह जो कामको अपने हृदयमें बसाता है, उसके हृदयमें आँधी पहले आती है। शरीरमें जो पीड़ा होती है और आप अनुभव करते हैं कि कमर दुःख रही है, घुटना दुःख रहा है, पाँव दुःख रहा है—यह सब काम-जन्य पीड़ा ही है, आप लोग बुरा मत समझना। काम-जन्य वात ही शरीरमें दर्द लेकर आता है। क्रोधकी आग ही आपका दिल जलाती रहती है। क्रोधजन्य पित्त छिपाये नहीं छिप सकता। आपके हृदयमें क्रोध भरा पड़ा है, तभी उसकी आग बार-बार भड़क उठती है।

हमने भयसे भी अनर्थ होते देखा है। एक जगह हमारे कई भाई-बन्धु इकट्ठे हुए, बोले कि जो दूसरे मजहबवाले हैं, उन्होंने बड़ा भारी संगठन जोड़ लिया है। आज वे सब इकट्ठे हुए हैं और तलवार, भाले, बन्दूक आदि हथियार लेकर हम लोगोंको मारने-लूटने आनेवाले हैं। इसलिए आओ, हम लोग पहले ही उनके ऊपर आक्रमण करें। अब हमारे भाई-बन्धु हथियारबन्द होकर वहाँ गये तो कुछ नहीं था। जिनके बारेमें हमारे भाई-ब्रन्धुओंने सोच रखा था कि वे हमारे ऊपर हमला करनेवाले हैं, वे खूब आरामसे सो रहे थे, उनके मनमें भी आक्रमण करनेकी कोई योजना नहीं थी। लेकिन फिर भी हमारे भाई-बन्धु भयवश वहाँ गये।

इस प्रकार भयके कारण वुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। हमारे न्याय-शास्त्रका कहना है कि पहले मनुष्यको मिथ्या ज्ञान होता है, वह अपने 'मैं'को भूल जाता है और जो जैसा है, उसको वैसा नहीं समझता। बादमें उस मिथ्या ज्ञानसे मनमें तीन दोष आते हैं। दोष केवल तीन ही हैं, चार नहीं हैं और वे हैं—राग, द्वेष तथा मोह। किसीके रंगमें रँग जाते हैं तो उसके पक्षपाती बन जाते हैं, किसीसे द्वेष हो जाता है तो उससे भड़क जाते हैं और किसीसे मोह हो जाता है तो उसमें फँस जाते हैं। ये तीनों दोष जीवनमें, मिथ्या ज्ञानसे अथवा यों कहो कि बुद्धिकी भूलसे आते हैं। मिथ्या ज्ञान वुद्धिकी भूल ही है। इन तीन दोषोंके फलस्वरूप मनुष्यमें दोषमूलक प्रवृत्ति होती है। उसके द्वारा कभी शुभ कर्म होते हैं, कभी अशुभ कर्म होते हैं। फिर उन शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार जन्म होता है और जब हम शरीरधारी होकर आते हैं, तब हमारे लिए यह प्रिय है, यह अप्रिय है—ये दो विभाग बन जाते हैं। फिर जबतक हम अपनेको शरीरके साथ सम्बद्ध रखेंगे, तबतक जीवनमें प्रिय और अप्रिय, अनुकूल और प्रतिकूल, सुख और दुःख होते रहेंगे।

इसलिए यदि सबकी जड़ जो वुद्धिकी भूल है, उसे ठीक करना आवश्यक है। उसका क्रम यह है कि पहले कर्म ठीक करके, वुद्धि ठीक करे। भाव ठीक करके बुद्धि ठीक करे। कर्म ठीक करो, भाव ठीक करो, वुद्धि ठीक हो जायेगी। भाव ठीक करोगे तो बुद्धि और कर्म

ठीक हो जायेंगे और बुद्धि ठीक करोगे तो भाव और कर्म ठीक हो जायेंगे। कर्मयोगी लोग, धर्मात्मा लोग कहते हैं कि अपना धर्म-कर्म ठीक करोगे तो दिल भी साफ हो जायेगा और अक्ल भी साफ हो जायेगी। भक्तलोग कहते हैं कि पहले भाव ठीक करो, फिर कर्म भी ठीक हो जायेगा, बुद्धि भी ठीक हो जायेगी। वेदान्ती लोग कहते हैं कि पहले बुद्धि ठीक करो, फिर भाव भी ठीक हो जायेगा और कर्म भी ठीक हो जायेंगे। इस प्रकार तीनोंका अपना-अपना गणित है। ये सबके सब वैज्ञानिक रीतिसे अपनी प्रक्रिया, रासायनिक क्रिया, शरीरमें करते हैं। अधिकारी भेदसे किसीके लिए, पहले कर्म, फिर भाव और ज्ञान, किसीके लिए पहले भाव, फिर कर्म और ज्ञान तथा किसीके लिए पहले ज्ञान, फिर भाव और कर्म।

अब किसी-किसीके लिए तीनों साथ-साथ चलते हैं। वे ऐसे होते हैं, जो सबसे अलग होते हैं। 'वीतरागभयक्रोधः'—राग, भय और क्रोध तीनोंसे मुक्त होते हैं। स्पृहा और उद्वेग—सुखमें स्पृहा और दुःखमें उद्वेग। प्रियसे राग और अप्रियपर क्रोध। देखो, क्रोध और द्वेषमें भी फर्क होता है। हिंसा होती है शरीरसे, क्रोध होता है मनोवृत्तिमें और द्वेष होता है संस्कारमें। यह बहुत सूक्ष्म है। हिंसासे सूक्ष्म क्रोध है और क्रोधसे सूक्ष्म द्वेष है। द्वेषके मूलमें सिवाय अज्ञानके और कुछ नहीं है। हम अज्ञानवश ही अपनेको जलाते हैं, भस्म करते हैं।

इसलिए भाई, बुद्धिको ठीक करना है। यदि अपनी बुद्धि काम नहीं देगी, ठीक-ठीक निर्णय नहीं करेगी, आप पाँव तो रखेंगे पर आँखसे देखेंगे नहीं तो गिरेंगे। भीतरकी आँखका नाम ही बुद्धि है। जीवनके संचालनका नाम ही कदम बढ़ाना है। यदि आप बुद्धिकी आँखसे ठीक-ठीक नहीं देखेंगे और बिना देखे, आगे पाँव रखेंगे, अपने जीवनका संचालन करेंगे तो आपके पैर कहीं काँटेपर पड़ेंगे, कहीं आगपर पड़ेंगे, कहीं साँप-बिच्छूपर पड़ेंगे और कहीं गड्ढेमें पड़ेंगे। इसलिए आपके जीवनमें बुद्धिका प्रतिष्ठित होना, स्थिर होना अत्यन्त आवश्यक है।

वेदान्ती लोग स्थिर बुद्धिको ही निष्ठा बोलते हैं। 'ष्ठा' धातुका अर्थ होता है गति-निवृत्ति, नितरां स्थिति। आपकी बुद्धि डाँवाडोल न हो, अडिग हो। कोई भी काम करना है तो पहले आप उसके बारेमें भली-भाँति सोच-विचार लीजिये, फिर स्थिर बुद्धिसे उस कामको

प्रारम्भ कीजिये। गीतावक्ता श्रीकृष्ण बुद्धिके बड़े भारी प्रेमी हैं। ज्ञानको भी बुद्धिमान् बोलते हैं। देखो, पन्द्रहवें अध्यायके अन्तमें क्या कहते हैं—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत॥ १५.१९
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत।

हे अर्जुन, जो क्षर-अक्षर और क्षराक्षरसे विलक्षण पुरुषोत्तम पुरुषको जानता है, वही बुद्धिमान् है तथा कृतकृत्य है। वही अपने कर्तव्य पूरे करता है। वही सर्वविद् हो जाता है, वही सर्वभावसे मेरा भजन करता है।

देखो, जो कर्मके रहस्यको जानता है, उसको भी श्रीकृष्ण बुद्धिमान् बोलते हैं—

कर्मण्यकर्म यः पश्येद् अकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥ ४.१८

मनुष्यको मननशील और श्रद्धावान् होना चाहिए। श्रद्धा और मनन-युक्तको ही मनुष्य कहते हैं, अन्यथा उसमें और पशु-पक्षियोंमें क्या अन्तर हैं। श्रद्धा पत्नी है और मनन पति है। मनन मनु हैं और शतरूपा श्रद्धा है। श्रद्धाका नाम ही कामायनी है। जिसके जीवनमें श्रद्धा और मनन दोनोंका संयोग है, उसीका नाम होता है मानव। यदि आपके जीवनमें श्रद्धा नहीं रही तो आपकी माँ छूट गयी और यदि आपके जीवनमें मनन या विचार नहीं रहा तो आपका पिता छूट गया। आपके जीवनमें पिता नहीं रहेगा तो आपको शिक्षा कौन देगा और माता नहीं रहेगी, तो आपको स्नेह कौन देगा। दूध कौन पिलावेगा? श्रद्धा पुष्ट करती है और मनन शिक्षा देता है। आपके जीवनमें यह आवश्यक है कि ज्ञानकी भी वृद्धि हो और आप स्नेहसे हमेशा परिपुष्ट रहें। आपमें तृप्ति भी रहे और ज्ञान भी रहे, चित्त भी रहे और आनन्द भी रहे, चेतना भी रहे और आनन्द भी रहे। इसीको बोलते हैं, मनुष्यका जीवन, मानवका जीवन।

अब मनुष्यका, मानवका धर्म क्या है? धर्म=योग्यतावच्छिन्ना शक्तिः। जो योग्यता मनुष्यको पशुसे, पक्षीसे अलग करके मनुष्यको मनुष्य बनाये रखती है, जिस शक्तिके न रहनेपर मनुष्य-पदवाच्य नहीं

रहता है, पशु हो जाता है, मनुष्यके अन्दर रहनेवाली उसी शक्तिका नाम धर्म है। धर्म वह है, जो आपके भीतर बैठकर पाँवको बुरी जगह न जाने दे, हाथ से बुरा काम न होने दे और मनसे बुरा चिन्तन न करने दे। जो हमारे भीतर धारणात्मक शक्ति है, उसीका नाम धर्म है—'धारणाद् धर्मः'।

देखो, मनुष्यको बुरा काम करनेसे पुलिस नहीं रोक सकती, सेना नहीं रोक सकती, कानून नहीं रोक सकता। इस प्रसंगमें एक हँसीकी बात सुनिये। एक राजाने नियम बनाया कि उसके राज्यमें सब लोग प्रातः सायं सन्ध्या-वन्दन करेंगे। जो नहीं करेंगे, उन्हें सजा मिलेगी। एक दिन राजा रथपर सवार होकर घूमने निकला तो देखा एक पण्डितजी सन्ध्या-वन्दनके समय शौचाचार कर रहे थे। उन्होंने जब राजाको रथपर आते देखा तो लोटेका पानी अपने सिरपर छिड़कने लगे और बोलने लगे—'अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोपि वा'। राजाने पूछा यह क्या ? पण्डितजी बोले—महाराज, यह कानूनी सन्ध्या है। जब स्नान कर लेंगे तब सच्ची सन्ध्या करेंगे, अभी तो कानूनी सन्ध्या कर रहे हैं।

तो कहनेका मतलब यह कि कानून मनुष्यको ठीक नहीं कर सकता, नेताओंके व्याख्यान ठीक नहीं कर सकते। यदि एक-एक आदमीके साथ, एक-एक सिपाही लगा दिये जायँ तो वे भी ठीक नहीं कर सकते। एक-एक आदमीके साथ चार-चार सिपाही लगा दिये जायँ, तो भी वे ठीक नहीं कर सकते, क्योंकि सिपाही भी गलती करेंगे, घूस लेंगे, मिल जायेंगे और बुरा काम करनेकी इजाजत दे देंगे।

तब क्या हो ? यही हो कि अपने हृदयमें धर्मका संस्कार होना चाहिए। यदि धर्मका संस्कार होगा तो वह बुरा काम करनेसे मनुष्यको रोक सकता है। यदि रोकनेवाला धर्म नहीं रहेगा तो मनुष्यको बुरे कामसे कोई नहीं रोक सकेगा। फिर तो जहाँ मर्जी हो वहाँ जाओ। जो चाहो सो करो और पतनको गले लगानेके लिए तैयार रहो। इसलिए हृदयमें चाहिए धर्म और यही मनुष्यकी मनुष्यता है, मानवकी मानवता है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

: ६ :

अब आओ गीताकी कर्मभूमिमें, ज्ञानभूमिमें प्रवेश करें। गीतामें मुख्यतः चार विद्याओंका वर्णन है। गौण रूपसे तो बहुत-सी विद्याएँ हैं, पर मुख्यरूपसे चार ही हैं। उनके नाम हैं—अभयविद्या, साम्यविद्या, ईश्वरविद्या और ब्रह्मात्मैक्यविद्या। अभिनिवेशकी निवृत्तिके लिए अभय-विद्या है, राग-द्वेषकी निवृत्तिके लिए साम्य-विद्या है, अस्मिताकी निवृत्तिके लिए ईश्वर-विद्या और मूल अज्ञानकी निवृत्तिके लिए ब्रह्मात्मैक्य-विद्या है। दूसरे शब्दोंमें अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष और अभिनिवेश—ये चार दोष हैं और इन्हींका निवारण करनेके लिए चार विद्याओंका निरूपण है। अब हम इन चारोंपर थोड़ी-थोड़ी दृष्टि डाल लेते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण चाहते हैं कि मनुष्य अभय हो जाये। उसको सबसे अधिक भय किससे होता है ? मृत्युसे ! इसलिए उन्होंने मृत्युकी बातको हल्का बना दिया और कह दिया—'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि'।

शरीरका बदलना वैसे ही है, जैसे कपड़ेका बदलना। मनुष्य जिस तरह पुराने वस्त्रोंको छोड़कर नये वस्त्र धारण करते हैं, उसी तरह पुराने शरीरोंको छोड़कर नये शरीर ग्रहण करते हैं। मृत्यु कोई ऐसी महत्त्वपूर्ण घटना नहीं है कि उससे बचनेके लिए हम रोयें-चिल्लायें, और दुःखी हों। यदि मनुष्यको जीवनमें मृत्युका भय न रहे तो वह अनेक अनर्थोंसे बच सकता है। मानव-धर्मका मूल यह ज्ञान ही है कि हम इस जीवनके पहले भी थे और इस जीवनके बाद भी रहेंगे।

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्ति धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ २.१३

श्रीकृष्ण कहते हैं कि धीर पुरुषको मृत्युका भय नहीं होता। भय मोहके कारण होता है। यदि शरीरका मोह नहीं तो मृत्युका भय भी नहीं। मृत्यु तो जीवनकी एक अवस्था-विशेष है। जैसे शरीरमें बाल्यावस्था आती है, युवावस्था आती है, वृद्धावस्था आती है, वैसे ही मनुष्य एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें चले जाते हैं। जो लोग यह नहीं मानते कि जन्मके पहले भी मैं था और मृत्युके पश्चात् मैं रहूँगा, उनसे पूछिये कि वे जन्मके पहले और मृत्युके पश्चात् क्या मानते हैं। उनके सामने कुछ प्रकाश है कि अन्धकार-ही-अन्धकार है? यदि अन्धकार-ही अन्धकार है तब तो वे अज्ञानमें भटक रहे हैं। उनका सारा जीवन अज्ञानमूलक सिद्ध हो जायेगा यदि वे पहले और पीछेकी स्थिति नहीं मानते।

मैं आपको सनातनधर्मकी एक बात अपने ही प्रसङ्गकी सुनाता हूँ। मेरे पिताका स्वर्गवास जब हुआ था, तब मेरी बहुत छोटी उम्र थी और मैं उनका एकमात्र पुत्र था। मेरा कोई भाई नहीं था। इसलिए जब पण्डित श्राद्ध करवाते थे, तब मुझे उनके पास बैठना पड़ता था। उस समय मैं बैठे-बैठे यह सोचता था कि मेरे पिताजी मरनेके बाद भी कहीं हैं और उनके लिए यह सब किया जा रहा है। यद्यपि मैं उस समय बिल्कुल अनजान था, लेकिन मेरे मनमें यह संस्कार बैठ गया कि शरीर छूटनेके बाद, मर जानेके बाद भी आत्मा नामकी एक वस्तु रहती है। यह आत्माकी अमरताका श्रद्धामूलक दृढ संस्कार है जो हमें यह बताता है कि पिताकी सेवा मरनेपर भी करनी चाहिए, जीवित

रहनेपर तो कहना ही क्या ? इसमें कितना लौकिक लाभ है। वैदिक ब्राह्मणको दक्षिणा मिली, उसकी जीविका चली। घरमें जो संग्रह था, उसका वितरण हुआ। इसीको बोलते हैं श्रद्धा-संपाद्य कर्म।

देखो, जो लोग सोचते हैं कि हम सबको पढ़ा-लिखाकर समझदार बना देंगे, समाजमें कोई मूर्ख नहीं रहेगा और फिर यह सृष्टि ठीक-ठीक चलेगी, वे स्वयं नासमझ हैं। इस सृष्टिमें तो नासमझोंके लिए भी व्यवहारका विधान है और वह श्रद्धासे सम्पन्न होता है। सब लोग समझदार ही हों, इसका ठेका विधाता भी नहीं ले सकता। वह भी नहीं कह सकता कि इसको हम ठीक-ठीक समझवाला बना देंगे। इसलिए हमारे शास्त्रोंमें नासमझके लिए भी मार्ग है और समझदारके लिए भी मार्ग है।

तो भाई मेरे, तुमको देह मिलनेसे पहले भी आत्मा था और देह छूटनेके बाद आत्मा रहेगा—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥ २.२८

इसलिए मृत्युसे डरो मत, निर्भय हो जाओ—'अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः'। यह मनुष्यके, भलेमानुषके चित्तकी स्थिति है कि वह अभय हो जाये। ऋषियोंने कहा कि—'अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि' (बृहदा० ४.२.४) जनक, तुम्हें अभय पदकी प्राप्ति हो गयी है। 'अभयं प्रतिष्ठां विन्दते' (तै० उ० २.७.१) अभय पदमें प्रतिष्ठित हो जाता है।

तो गीतामें, भगवान् श्रीकृष्ण क्या चाहते हैं ? यही चाहते हैं कि इस देहमें जो अभिनिवेश है और जिसके फलस्वरूप मनुष्य यह समझता है कि देहके मरनेसे मैं मरता हूँ, देहके रोगी होनेसे मैं रोगी होता हूँ, देह ही मेरे लिए सब कुछ है, उसका भ्रम दूर हो जाये। जो देहमें पूरी तरह डूब गये हैं, अभिनिविष्ट हो गये हैं, उनको देहासक्तिसे, देहाभिनिवेशसे छुड़ाना और सदा-सर्वदाके लिए निर्भय बनाना ही श्रीकृष्णका लक्ष्य है। इसीलिए अभिनिवेश—निवर्तक अभयविद्या गीतामें हैं और जैसा कि मैंने पहले कहा, यह गीताकी चार विद्याओंमें-से पहली विद्या है।

अब दूसरी साम्यविद्यापर ध्यान दो। मनुष्य राग-द्वेषसे पीड़ित है। जिसको अपने सुखका साधन समझता है, उसमें राग करता है और जिसको अपने दुःखका कारण समझता है, उससे द्वेष करता है। ऐसा नाना-नानीके, दादा-दादीके अथवा पूर्व जन्मके संस्कारसे भी होता है। बाल्यावस्थामें जैसा सङ्ग मिलता है उससे भी होता है, खान-पानसे भी होता है और पढ़ाई-लिखाईसे भी होता है।

मनुष्य जैसे लोगोंके बीचमें उठता-बैठता है, जिनको अपनेसे बड़ा समझकर उनकी सेवा करता है और स्वयं अपने मनमें जैसी आकाङ्क्षा होती है, उससे भी राग-द्वेष होते हैं। यह बात दूसरी है कि जिस जीवनमें महत्त्वाकाङ्क्षा नहीं होती, उसकी उन्नतिका मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। किन्तु आप किस ढंगका बड़प्पन चाहते हैं, वह आप देख लो! महात्मा होना चाहते हैं या राजनेता होना चाहते हैं या बड़ा सेठ होना चाहते हैं या विद्वान् होना चाहते हैं? किस दिशामें आपको जाना है? आपके अन्तःकरणमें सजातीय समान धर्मोंके प्रति अथवा जिससे सुख मिलेगा, उसके प्रति राग होगा और विजातीय विषम धर्मोंके प्रति तथा जिससे दुःख मिलेगा, उसके प्रति द्वेष होगा। इसका उदाहरण आप कहीं भी देख सकते हैं। आजकल राजनीतिमें भी भाई-भतीजावादकी चर्चा होती है! मतलब यही होता है कि जो लोग सत्तामें हैं, वे भाई-भतीजों, सम्बन्धियों अथवा उन लोगोंकी, जो उनके नजदीकी होते हैं, स्वार्थवश लाभ पहुँचाते हैं। भाई-भतीजोंसे कितना प्रेम होता है, यह तो सबको सम्भवतः मालूम नहीं होगा, परन्तु स्त्री-पुत्रसे, बेटी-जमाईसे कितना प्रेम होता है इसका पता तो रहता ही है।

कहनेका मतलब यह कि जब हमें किसीसे राग हो जाता है, किसीके प्रति जब हमारी वृत्ति रञ्जनात्मक हो जाती है और यह अनुभव होने लगता है कि इससे हमको सुख मिलता है तो हम मुहब्बती अर्थात् मोहव्रती हो जाते हैं। फिर तो उसके प्रति ऐसा पक्षपात हो जाता है कि हम उसके लिए बेईमानी करते हैं, चोरी करते हैं, छल करते हैं, कपट करते हैं, यहाँतक कि दूसरेको दुःख भी पहुँचाते हैं। जिससे हमारा मोह हो जाता है, उसको सुख पहुँचानेके लिए हम दूसरेके साथ अनुचित व्यवहार करने लगते हैं। लेकिन बाबा, मोह बड़ा दुःख

देता है, द्वेष बड़ा कष्ट पहुँचाता है। उसीसे हिंसा और प्रतिहिंसाकी वृत्तियोंका उदय हाता है और उनकी कोई इति नहीं होती! यह न तो हमारे बौद्ध-धर्ममें है, न जैन-धर्ममें है और न गांधी-धर्म है। प्रतिहिंसा-की वदला लेनेकी वृत्तिसे, सत्पुरुषोंके अन्तःकरणका कोई सम्बन्ध नहीं होता है। हिंसा सबसे स्थूल है और किसीके हिंसा करनेपर प्रतिहिंसाकी वृत्ति आना सूक्ष्म है। वह भी सूक्ष्म ही है। उससे ऊपर अहिंसाकी वृत्ति हैं! हिंसासे तमःका सम्बन्ध होता है, प्रतिहिंसामें रजोगुणका उदय होता है और अहिंसा सात्त्विक स्थिति है! हिंसा और अहिंसामें जो समता है, समत्व है, वही साम्य विद्या है। इसमें न राग है, न द्वेष है। गीताके आधारपर इस विद्याकी थोड़ी-सी बात और सुनाता हूँ! यह श्लोक देखिये—

> सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
> साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ६.९

एक पुण्यात्मा है, दूसरा पापी है। पुण्यात्मा पुण्यात्मा होगा, पापी-पापी होगा। लेकिन हमारो बुद्धि पापीको देखकर जले नहीं और पुण्यात्माको देखकर उसकी ओर झुक न जाये! हमारी बुद्धि अपने स्वरूपमें परिनिष्ठित रहे, उसमें समता बनी रहे। चाहे कोई सुहृद् हो, मित्र हो, द्वेषी हो, मध्यस्थ हो, भाई-बन्धु हो, उदासीन हो, हमारा किसीसे राग-द्वेष नहीं। जो लोग पंचायत करते हैं, वे मध्यस्थ होते हैं और जो झगड़ेसे अलग रहते हैं, वे उदासीन होते हैं। उन सबसे हम यह अनुभव करें कि 'जा बाबा, तेरी जो मर्जी हो सोकर'। अपने तो पहाड़की चोटीपर बैठे हुए हैं, गड्ढेमें सूअर घूम रहा है या हाथी घूम रहा है, इससे हमारा कोई मतलब नहीं है।

> प्रज्ञाप्रासादमारुह्य अशोच्यः शोचतो जनान्।
> भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति ॥
> (महा० शान्ति० १७.२० )

इसी प्रकार जातिमें भी समत्व है।

> विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
> शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥

कर्ममें भी समत्व हैं। अकुशल कर्मसे हमारा द्वेष नहीं है और कर्ममें हमारी आसक्ति नहीं है—

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।

इस प्रकार गीता साम्यविद्याके नामसे ही प्रसिद्ध है और समत्वयोग-का उपदेश देती है—

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।

अर्थात् सिद्धि और असिद्धिमें सम हो जाओ। यह समत्व बुद्धियोग है! 'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः'—जिसका मन समतामें स्थित हो गया, वह सृष्टिविजयी है, उसने विश्वविजय कर लिया, सारे सर्गपर विजय प्राप्त कर ली! और भी देखिये—

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥

प्रिय-अप्रिय सम है, निन्दा-स्तुति सम है, सुख-दुःख सम है, लोष्ट-अश्म-काञ्चन सम है।

'मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः'—मानापमान सम है, शत्रु-मित्र सम है! यह साम्ययोग है! इसीसे राग-द्वेषकी निवृत्ति होती है! गीता इस स्थितिको समाधिसे श्रेष्ठ बताती है, यह बात मैं आपको पहले सुना चुका हूँ!

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

जो समाधिमें स्थित है, वह तो योगी है, किन्तु दूसरेके सुख-दुःखको अपने सुख-दुःखके ही समान समझता है, सुखीको देखकर सुखी हो रहा है, दुःखीको देखकर ऐसा अनुभव करता है कि हमको ही दुःख हो रहा है, ऐसा मानकर दूसरेके दुःखके निवारणमें प्रवृत्त होता है, वह परम योगी है!

राजा रामके गुणका वर्णन करते हुए कहा गया है कि जब वे किसीको दुःखी देखते हैं तो उस दुःखीसे भी अधिक दुःखी हो जाते हैं!

यहाँ यदि कहो कि भला यह भी कोई गुण है कि एक आदमी रो रहा है और उसको देखकर आप भी रोने लगो ! हाँ है, वैसे ही जैसे बच्चेके दुःखको अपना दुःख समझनेवाली मांका दुःख उसके मातृत्वका गुण होता है। मान लो बच्चेका कंगन खो गया और वह रोने लगा ! अब बच्चेको जितना दुःख हुआ, उससे ज्यादा दुःख माँको हुआ ! क्योंकि बच्चेको कंगनकी कीमत मालूम नहीं है और माँको ज्यादा दुःख हुआ ! बच्चा कंगनको ढूँढ नहीं सकता, परन्तु माँ कंगनको ढूँढनेका और फिर वह बच्चेको लौटानेका प्रयास करती है ! इसी प्रकार राजा रामचन्द्र जब किसी दूसरेको दुःखी देखते हैं तो उससे भी अधिक दुःखी होकर उसका दुःख मिटानेका प्रयास करते हैं।

मतलब यह कि किसीमें दोष दिखे तो समझो कि वह अधिक सहानुभूतिका पात्र है। दोषीको मारो मत, अपितु उसके प्रति हार्दिक सहानुभूति प्रकट करो। आप उससे एक होकर उसका दोष दूर कर सकते हैं, किन्तु उससे अलग होकर, उसको प्रताड़ित करके और भी दोषी होनेकी प्रेरणा दे सकते हैं।

अब ईश्वर-विद्याकी बात देखो। वाल्मीकि रामायणमें एक बहुत बढ़िया बात आयी है। जब विभीषण भगवान् रामकी शरणमें आये, तब सुग्रीवने कहा—'दुष्टत्वाद् विभीषणो न ग्राह्यः'—प्रभो, आप विभीषणको ग्रहण मत कीजिये, क्योंकि यह दुष्ट है। इसपर भगवान्ने उत्तर दिया कि सुग्रीव, तुम्हारा हेतु और साध्य दोनों गलत हैं। दुष्टको हम नहीं ग्रहण करेंगे तो और कौन ग्रहण करेगा ? हमारे त्यागमें दुष्टता हेतु नहीं हो सकती। यदि तुम इसको दुष्ट होनेके कारण त्याज्य बताते हो तो दुष्टत्व हेतु भी अशुद्ध है और साध्यका जो ग्राह्यत्व है, वह भी अशुद्ध है।

अब जब हनुमान्जीने अनुरोध किया कि 'विभीषणो ग्राह्यः, अदुष्टत्वात्'—प्रभो आप विभीषणको ग्रहण कीजिये, यह दुष्ट नहीं है, तब भगवान्ने कहा—तुम्हारा साध्य तो ठीक है, यह ग्रहण करने योग्य है; परन्तु तुम्हारे कथनानुसार इसमें जो 'अदुष्टत्वात्' हेतु है, वह अशुद्ध है। यदि हम अच्छे-अच्छेका ही ग्रहण करेंगे तो बेचारे दुष्ट कहाँ जायेंगे ? क्या दुष्ट हमारे पास आकर हमको भी दुष्ट बना देंगे ? अरे, हमको दुष्टकी दुष्टतासे कोई डर नहीं हैं, हम तो दुष्टको शिष्ट बनानेवाले हैं।

देखो, यह है ईश्वर-विद्या ! शरणागति-विद्या । अस्मिताको, अहंकारको, दूर करनेवाली विद्या। इसलिए गीताका कहना है कि भगवान् शरण्य हैं। एक दिन आपको भगवान्का यह वचन सुनाया था कि बुद्धिकी शरण लो। 'बुद्धौ शरणमन्विच्छ'—इसमें क्या संकेत है, इसपर विचार करो। इसमें बुद्धिकी महिमा तो है ही—क्योंकि भगवान्ने कहा कि बुद्धिकी शरण लो, किन्तु इस कथनसे यह भी संकेत मिलता है कि अर्जुनने पहले उपनिषद्की यह बात पढ़ी थी कि बुद्धि जीवन-रथका सारथि है—'बुद्धि तु सारथिं विद्धि'। इसलिए उसने सोचा कि जीवन-रथके सारथि तो यहीं मेरे सामने हैं। लेकिन उस समय बात स्पष्ट नहीं हो सकी। फिर भगवान्ने बताया कि मैं शरण हूँ। 'गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्'। तब भी बात अर्जुनके ध्यानमें नहीं बैठी। फिर भगवान् बोले : 'तमेव शरणं गच्छ'। ईश्वरकी शरणमें जाओ। फिर भी बात ध्यानमें नहीं बैठी। तो अन्तमें भगवान्को कहना पड़ा कि—'मामेकं शरणं व्रज'। केवल मेरी शरण ग्रहण करो।

तो, इसको शरणागति-विद्या बोलते हैं। यह हमारे अस्मिको, हमारी अस्मिताको मिटा डालती है। अस्मि माने 'अस्मेर्भावः'—अहम् अस्मि, अहम् अस्मि, मैं-मैं-मैं, दृग्वस्तुका दृश्यके साथ तादात्म्यापन्न हो जाना। द्रष्टाका दृश्यके साथ हो जाना, एक-सा हो जाना। यह शरणागति-विद्यासे, ईश्वर-विद्यासे सर्वथा समाप्त हो जाता है। यदि आप ईश्वरके बारेमें विचार करोगे तो जो आपका अहंकार है, वह इतना छोटा पड़ जायेगा कि वह सिर उठानेका नाम नहीं लेगा।

अब गीताको चौथी विद्या ब्रह्मात्मैक्य-विद्यापर विचार करो। 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः'—संसारके प्राणियोंको, जिनमें मनुष्य भी सम्मिलित हैं, तबतक जन्तु कहते हैं, जबतक उन्होंने केवल जन्म लिया है और जन्मके फलको, जीवनकी सफलताको प्राप्त नहीं किया है। उनके हाथमें केवल जन्म ही रहा—'जायते इति जन्तुः'। इसीलिए एक कवि ( वैराग्यशतक ११ ) ने कहा कि 'मातुः केवलमेव यौवनवनच्छेदे'—मैं बेटाके रूपमें पैदा हुआ और मेरी माता बुढ़िया हो गयी। सिर्फ अपनी माँको बूढ़ी बनानेके लिए ही मेरा जन्म हुआ, जीवनमें कोई सफलता प्राप्त करनेके लिए मेरा जन्म नहीं हुआ।

यह जो अज्ञानका अन्धकार है, वह तभीतक है, जबतक परम पवित्र, परम प्रकाश ज्ञान प्राप्त नहीं हो जाता। इस अज्ञानको जैन लोग प्रमाद बोलते हैं। बौद्ध लोग अविद्या बोलते हैं। नैयायिक मिथ्या-ज्ञान बोलते हैं। सांख्यकार अविवेक बोलते हैं। योग भी अविद्या ही बोलता है। शैव अविमर्श बोलते हैं और कहते हैं कि अपने स्वरूपका विमर्श नहीं हो रहा है। ज्ञान आत्मोल्लास है, आत्मविलास है, स्पन्द है, ब्रह्मस्पन्द है, चित्तस्पन्द है, चित्‌शक्तिका विलास है। 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते'—ज्ञानसे बढ़कर और कोई वस्तु पवित्र नहीं है। किन्तु यहाँ बढ़कर बोलना तो गलत हो गया। क्योंकि जहाँ ज्ञानकी बराबरीकी कोई वस्तु नहीं, वहाँ बढ़कर कहाँसे होगी? तब वह ज्ञान कहाँ है? जैसा कि पहले कहा गया—'अज्ञानेनावृतं ज्ञानम्'—अज्ञानने ज्ञानको ढक लिया है। तब इसका निवारण कैसे हो?

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत् परम्॥ ५.१६

गीता कहती है कि ज्ञानसे ही अज्ञानका नाश होता है। वही अज्ञानको मूलाज्ञानको, मूलाविद्याको सर्वथा 'उच्छिन्न' करनेवाला है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ ६.२९

यह है अहं-पदार्थ और 'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति'—परमात्मामें सब है, सबमें परमात्मा है, यह तत्पदार्थ है।

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।
यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः॥

और, 'सर्वभूतेषु चात्मानम्'—यह त्वंपदार्थ है। अहंपदार्थ, प्रज्ञानपदार्थ है, आत्मपदार्थ है, तत् पदार्थ है, ब्रह्मपदार्थ है और 'सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः'। यह एकत्व-विद्या है जो बिल्कुल स्वच्छन्द है, स्वच्छ है, निर्मल है। 'सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते। सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते'—यह जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख है। इसीको बोलते हैं ब्राह्मात्मैक्य-विद्या। इसके बिना मुक्ति नहीं होती।

तो, ईश्वरकी शरणागतिके बिना अहंभावकी निवृत्ति नहीं होती, समताके बिना, साम्यके बिना, राग-द्वेषकी निवृत्ति नहीं होती और धर्म-विद्या अर्थात् अभय पदमें प्रतिष्ठा हुए बिना मृत्युकी निवृत्ति नहीं होती। इन चारो विद्याओंका भगवद्गीतामें विलक्षण विस्तार है।

अब आओ, आपको थोड़ो-सी घर-गृहस्थीकी बात भी सुनावें। कभी-कभी वक्ताकी स्थिति विषम हो जाती है। यदि विषय गम्भीर हो जाये तो लोग उलाहना देते हैं कि आपकी बात समझमें नहीं आयी और हल्का-फुल्का हो जाये तो कहते हैं कि आज तो बहुत मामूली हो गया। तो थोड़ा गम्भीर, थोड़ा हल्का-फुल्का बोलना पड़ता है। देखो संसारमें जितने सुख हैं, उनको हम चार विभागांमें बाँट देते हैं। एक तो होता है अभिमान-सुख। जैसे हमारे पास इतना धन है, इतना बैंक बेलेंस हैं। यह जो बैंक शब्द है, उसे आप संस्कृतमें व्यङ्क कह सकते हैं। विविध अङ्कोंमें, लाखों-करोड़ोंमें जो है, वह व्यङ्क है और उसका बैलेंस अर्थात् बलांश है कि हमारे पास इतना है। लेकिन इस संग्रहको कोई सिरपर लादकर नहीं चलता और न कलेजेकी थैलीमें रखता है। इसका तो केवल अभिमान ही होता है। सिरमें एक चोट जोरसे लग जाये, तो सारी पढ़ी हुई विद्या भूल जाती है। वृन्दावनमें एक बी० ए० पास विद्वान् लड़का था। एक बार घोड़ेपरसे गिर पड़ा तो उसको ए० बी० सी ही भूल गयी। विद्याभिमानकी इतनी-सी ही कीमत है। और धनकी कीमत? उसे तो चोर छीन सकता है, डाकू छीन सकता है, सरकार छीन सकती है। मुझे एक सज्जन बता रहे थे कि महाराज मैं आठ बजे सुबहतक तो करोड़ोंका स्वामी था, किन्तु साढ़े-आठ बजे कङ्गाल हो गया। इसी तरह चूर होता है, धनका अभिमान। और बेचारी बुद्धि, उसको तो लोग शराब पीकर नष्ट कर देते हैं। शराबके नशेमें गाली-गालौज करते हैं, मार-पीट करते हैं, अनाप-शनाप बोलते हैं, जो नहीं बताना चाहिए, वह बता देते हैं। शराबके नशेमें मनुष्य बिल्कुल बुद्धिभ्रष्ट हो जाता है। जहर शरीरको नष्ट करता है और नशा बुद्धिका नाश करता है। ऐसी हालतमें आप धनका, विद्याका और बुद्धिका अभिमान कैसे कर सकते हैं? आजकल एक अभिमान कुर्सीका भी दिखायी देता है; लेकिन कुर्सी तो ऐसी उलटती है कि कुछ पूछो ही मत। कुर्सी तो कुरसिका है न! कुरसिका माने वेश्या। संसारकी

रसिका प्रेयसी तो जीवनभर साथ निभा देती है, लेकिन यह कु-रसिका—वेश्या पता नहीं, कब साथ छोड़ दे।

कहनेका मतलब यह कि अभिमान-सुख कभी स्थायी नहीं हो सकता। हमने राजाओंको कङ्गाल होते देखा है, जेल जानेवालोंको राष्ट्रपति बनते देखा है और जो कभी बड़े-बड़े मिनिस्टर थे, उनको जेल जाते देखा है। यही सृष्टि है, इसीका नाम सृष्टि है, फिर काहेका अभिमान ?

अब अभिमान-सुखके बाद दूसरा सुख होता है भोगका सुख। भोग-सुख माने क्षणिक सुख। जबतक वासनामें वेग है, उत्तेजना है, इन्द्रियाँ हैं, तबतक थोड़ी देर भोगती हैं, सुखी होती हैं और फिर उनको भोगसे उद्वेग हो जाता है। खाते-खाते खाना खत्म हो जाता है, पेट भर जाता है, रुचि बदल जाती है और सुख मिलनेका जो अभिमान है, वह भी सुषुप्तिमें समाप्त हो जाता है। गीता कहती है—

> आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।
> अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥
> दुःखालयम् अशाश्वतम्। (गीता)
> भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः। (वैराग शतक १२)

अब तीसरा सुख है—मनोराज्यका सुख। मनुष्य अपने अभीष्टके बारेमें सोचता है कि अभी तो नहीं है—कल होगा, परसों होगा, अगले साल होगा। इस मनोराज्य-सुखसे मनुष्य छलकता रहता है। गीता कहती है—

> इदमद्य मया लब्धमिदं प्राप्स्ये मनोरथम्।
> इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥१६. १३
> आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
> ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान्॥१६. १२

मनोराज्यके सुखको आप ख्याली पुलाव कह सकते हैं। यह होगा, वह होगा—इस कल्पनासे थोड़ी देरके लिए मन मीठा हो जाता है। मान लो कि कोई कुमारी कन्या मनोरथ करती है—ऐसे स्वस्थ सुन्दर विद्वान् युवकसे मेरा विवाह होगा। उसके पास बहुत सारा धन होगा, इतनी मोटर-कारें होंगी, ऐसा बँगला होगा। उस कन्याने मनोराज्य

तो बहुत जोड़ा, परन्तु पता नहीं क्या हुआ कि उसका मन बह गया और एक भिखारीके लड़केसे उसको प्रेम हो गया। फिर उसीके साथ उसका विवाह भी हो गया!

तो, यह जो मनोराज्यका सुख है कि यह होगा, वह होगा—उससे वर्तमानका सत्यानाश हो जाता है और हम वर्तमानसे फिसल जाते हैं। अगर यह भूत लग गया कि हमारे पास यह था, वह था—तब भी उसकी याद करनेमें तुम्हारा वर्तमान बिगड़ गया, क्योंकि वह फिर लौटकर तो आयेगा नहीं और यदि तुम भविष्यका चिन्तन करते हो कि यह मिलेगा, वह मिलेगा, तो भी तुम्हारा वर्तमान बिगड़ गया, क्योंकि उसका निश्चय नहीं कि वह मिलेगा ही। न भूत लौटकर आयेगा और न भविष्य तुम्हारे हाथमें है। इसलिए तुम वर्तमानको ठीक करो तो तुम्हारा जो भूत है, वह ठीक होता जायेगा। इसी तरह जब भविष्य, वर्तमानमें आयेगा, तब वह भी ठीक हो जायेगा। अन्यथा भूत पीछे लगनेपर तुम्हारा पाँव पीछे फिसल गया तो भी तुम मुँहके बल गिरोगे, यदि भविष्यके लोभमें आगे फिसल गया तो भी पीठके बल पट्ट गिरोगे और यदि तुमने चाहा कि वर्तमान साथ-साथ चले ता इसमें तुम्हें मोह हो जायेगा। तीनों दुःखदायी हैं। भविष्यका भय होता है, भूतका शोक होता है और वर्तमानमें मोह होता है।

चौथा सुख होता है अभ्यासका! अभ्यास होना माने आदत पड़ जाना। हमारे गाँवमें एक पहलवान थे। वे जवानीमें रोज दो हजार दण्ड-बैठक किया करते थे। जब बूढ़े हो गये तव उनके एक-एक जोड़में दर्द होने लगा। वे अपने शागिर्दोंसे कहें कि बेटा, यहाँ आओ। हाथमें डण्डा लेकर उसके सहारे मेरे शरीरपर खड़े हो जाओ और पाँवसे पीटो। ऐसी आदत उनको पड़ गयी थी। इसके बिना उनको चैन नहीं मिलता था। इसी तरह एक सज्जनको रातमें दूध पीनेकी आदत पड़ गयी थी। दूध न पीयें तो टट्टी ही न हो। इसलिए आदत नहीं बिगाड़नी चाहिए। इससे पराधीनता आजाती है। हमारे बैठनेके लिए यह चाहिए, खानेके लिए यह चाहिए, यह सब आदत ही है। अरे बाबा जैसा अवसर हो, उसके अनुसार रहनेका अभ्यास करो। रोटी खा लो, चावल खा लो, किसी दिन भूखे रहनेकी भी आदत डालो। रोज-रोज क्या खाना! स्वास्थ्यकी दृष्टिसे कभी-कभी उपवास आवश्यक

है। इसी तरह रोज स्त्री-पुरुषका संग-संग रहना भी ठीक नहीं। अन्यथा जिस दिन साथ छूटेगा, उस दिन तुम्हें रोना पड़ेगा।

अब देखो, एक होता है मोहजन्य सुख। उसको गीतामें तमोगुण बोलते हैं—

> यदग्ने चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
> निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत् तामसमुदाहृतम्॥ १८.३९

दूसरा सुख होता है—विषयेन्द्रिय-संयोगजन्य सुख। उसको रजोगुण सुख बोलते हैं। वह पहले तो बहुत मीठा लगता है, बादमें विष हो जाता है और तीसरा होता है सात्त्विक सुख—'अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति'।

परन्तु ये तीनों सुख सच्चे सुख नहीं हैं। मोह-सुख भी सच्चा सुख नहीं हैं, भोग-सुख भी सच्चा सुख नहीं है और अभ्यास-सुख भी सच्चा नहीं है।

इस अभ्यास-सुखकी बात और सुन लो। हमारे वृन्दावनमें लोग आते हैं, तो पहले पूछ लेते हैं कि वहाँ अंग्रेजी ढंगका शौचालय है कि नहीं? यदि नहीं होगा तो वहाँ हम कैसे रहेंगे? एयरकन्डीशन है कि नहीं? उसके बिना तो हमको नींद ही नहीं आती। ऐसे लोगोंके लिए व्यवस्था करनी पड़ती है। लेकिन वे तो बिल्कुल बन्धनमें हैं, पराधीन हैं। हमलोग कहीं भी जंगलमें लोटेका पानी लेकर शौचाचारके लिए जा सकते है। कहीं भी झरनेमें घुसकर स्नान कर सकते हैं। कैसी भी रूखी-सूखी रोटी मिले, खा सकते हैं। उसमें जो मजा आता है, उसकी बात आपको क्या सुनायें? जिस समय हम लोग रूखी-सूखी रोटी मुँहमें डालकर चुभलाते हैं और उसके साथ हमारे मुँहका पानी मिल जाता है, उस समय वह स्वाद आता है कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। सच मानो ताजी पूरीमें, ताजी सब्जीमें, ताजे लड्डुओंमें वह स्वाद नहीं आता, जो उस रूखी-सूखी रोटीमें आता है।

इसलिए, बाबा, अपनी आदत मत बिगाड़ो। रूखा-सूखा भी खा लो, मोटा पहन लो, बिना तोषक-तकियाके ही सो लो। कभी-कभी गाली सुननेकी आदत भी डालनी चाहिए। वह जीवनमें बहुत आवश्यक है। पता नहीं तुमको कौन-कौन गाली देंगे। कौन-कौन तुम्हारी निन्दा

करेंगे ? कौन-कौन तुम्हारा अपमान करेंगे ? जिसको अपमान सहनेकी आदत नहीं है, उसको तो लोग अंगूठा दिखाकर भी दुःखी कर देते हैं। अरे, तुम्हारा जीवन क्या इतना हल्का हो गया है कि एक बार किसीने अपमान कर दिया तो तुम रोने लगे और कहने लगे कि हाय-हाय इसने तो हमारा अपमान कर दिया। नहीं, नहीं, यह सब सहनेका अभ्यास करो और अपने आनन्दमें मग्न रहो।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ ६.२१
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ ६.२२

हम लोग बचपनमें एक महात्माके पास जाते थे। वे बड़े फक्कड़ थे, फकीर थे। जानेवालोंका स्वागत गालियोंसे करते थे। एक दिन जब बहुत खुश हुए तब मैंने पूछा कि महाराज, आप गाली क्यों देते हैं ? इसपर बोले कि अभी तो तुम बच्चे हो और बड़ी भारी जिन्दगी सामने पड़ी है। न जाने तुम्हें कितनी गालियाँ सुननी पड़ेंगी। यदि मेरी गाली तुमको बुरी लगती है तो जो दुर्भावसे गाली देंगे, उनकी गाली कैसे सहोगे ? इसलिए गाली सहनेकी, निन्दा सहनेकी और भूखे रहनेकी भी आदत होनी चाहिए। अपनेको किसी एक खास आदतसे बाँधो मत। आपने देखा होगा, किसी-किसीको अफीम खानेकी आदत पड़ जाती है और जबतक वह नहीं मिलती तबतक वह उसके लिए छटपटाता रहता है। चाय पीनेकी आदत भी वैसी ही है। जब वह नहीं मिलती तो लोग बोलते हैं कि हमारा तो दिमाग ही उड़ रहा है, खोपड़ी उड़ रही है। मेरा मतलब यह नहीं कि चाय मत पीओ, उसको हम मना नहीं करते। यहाँ तो चायके बड़े-बड़े व्यापारी लोग बैठे हैं। वे कहेंगे कि देखो स्वामीजी चायका विरोध करते हैं, किन्तु जब लंकामें लक्ष्मणजीको मेघनादके द्वारा शक्ति लगी तो हनुमान्जी जो संजीवनी बूटी लाये थे, वह चाय ही तो थी ! परन्तु यह हँसीकी बात है। चायकी आदत पड़ जानेपर उसके बिना जब खोपड़ी फटने लगती है, तब वह संजीवनी कैसे हो सकती है ?

तो सुख क्या है ? सुख वह है, जो कालसे न कटे, जो 'आत्यन्तिकम्' हो, 'बुद्धिग्राह्यम्' हो, जिसके लिए कहीं जाना न पड़े, जो अपने

हृदयमें ही हो और देशसे परिच्छिन्न न हो। 'आत्यन्तिकम्'का मतलब है कि जो कालसे परिच्छिन्न न हो, जिसका अन्त न हो, जो 'अन्तमतिक्रान्तम्' हो और 'अतीन्द्रियम्'का अर्थ है कि जो इन्द्रियविषयके भोगसे न होता हो। ऐसा सुख हो कि उससे कभी विचलन न हो—'न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः'। उसकी अपेक्षा यदि किसी और बड़े सुखका ख्याल होगा तो उसके लिए वासना बनी रहेगी और फिर वासना दुःख देगी। इसीलिए कहा गया कि—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते॥

मनुष्य जीवन पूर्ण है। हम जिसको देखते हैं, उसपर अपनी आँखोंसे अपने हृदयका सुख, अपना आत्म-सुख वरसाते हैं! जिसको छूते हैं, उसको सुख देते हैं! जिससे बात करते हैं, उसको सुख देते हैं। यहाँ तक कि धरतीपर भो धमाधम नहीं चलते, अपना मृदु स्पर्श देते हुए चलते हैं।

तो, हमें ऐसा सुख चाहिए कि जिसमें इन्द्रिय और विषयका संयोग न हो, देशान्तर न हो, कालान्तर न हो और विचलन न हो। ऐसा सुख चाहिए कि उसके मिलनेके बाद वड़े-से-बड़ा दुःख आनेपर भी हम विचलित न हों, अपने आनन्दमें वैठे रहें! दुःख आया और गया, दुःखकी आँधी आयी और चली गयी। दुःखकी गर्मी पड़ो और दूर हो गयी। दुःखका झोंका आया और निकल गया। हमारे ऊपर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। यदि वृहस्पतिजी भी सामने आयें और वोलें कि अरे मानव, जिसको तू सुख मान रहा है, वह सुख नहीं है, छोड़ दे इसको तो हम उनकी बातोंमें न आवें!

'यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते'—में जो गुरु शब्द है, उसका अर्थ देवताओंका गुरु कर लो। उन्होंने बहुत कोशिश की कि वे हमें सुखसे विचलित कर दें, परन्तु उनकी एक नहीं चली और हम अपने सुखमें निमग्न रहे। निष्ठा ऐसी हो होती है।

देखो, हम तुम्हें एक चुटकुला सुनाते हैं। पहाड़ोंमें एक जाति होती थी और उनके यहाँ यह नियम था कि जब कोई ब्याह करेगा तो उसे पाँच सौ रुपये पंचायत में जमा कराने पड़ेंगे! पाँच सौ रुपये न हों तो

उसकी जो सामर्थ्य हो वही देना पड़ता था, तभी वह विवाह मान्य होता था। पंचायतमें विवाहकी रजिस्ट्री होनी जरूरी थी! अब एक आदमी गाँवसे बाहर गया और वहाँ उसका ब्याह हो गया। उधर ऐसा कोई नियम नहीं था! ब्याह होनेपर उसके बच्चे भी हो गये! जब वह पत्नी और बच्चोंके साथ अपने गाँवमें लौटा तो पंचायतवालोंने कहा कि हम तुम्हारे विवाहको मान्यता नहीं देंगे! हमारे यहाँ तुम्हारे रुपये जमा नहीं हुए, तुम्हारा नाम रजिस्टरमें नहीं लिखा गया। फिर ब्याह कैसा? वह बोला कि बाबा, तुम्हारे रजिस्टरमें हमारा नाम हो या न हो, रुपये जमा हों या न हों, हमारे घरमें तो बीबी है और दो-तीन बच्चे हो चुके हैं। तुम हमारे ब्याहको मानो चाहे मत मानो, बीबी-बच्चे तो हमारे पास हैं!

कहनेका मतलब यह कि जिसको आत्मसाक्षात्कार हो जाता है, ब्रह्मज्ञान हो जाता है, उसको स्वयं उसके गुरु भी कहें कि अभी नहीं हुआ तो वह उनकी नहीं सुनता, उनको फटकार देता है। क्योंकि उसको सुख प्राप्त है—वह अक्षय सुख है—'सुखमक्षयमश्नुते' और ब्रह्म-संस्पर्श रूप आत्यन्तिक सुख है—'ब्रह्मसंस्पर्शम् अत्यन्तसुखमश्नुते'!

तो, जो ब्रह्मात्मैक्य-बोध है, वह अद्भुत है! इसका सुख बहुत विलक्षण है। एक बात और। आप अपनेको इसके अयोग्य मत समझो। यह मत मानो कि हम इस ब्रह्म-सुखके अधिकारी नहीं। इस प्रकारकी हीनताका भाव छोड़ दो! क्योंकि गीतामें स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

> अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
> सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥४.३६

दुनियामें जितने भी पापी हैं, पापकृत् हों, पापकृत्तर हों अथवा पापकृत्तम हों, वे सब आयें और हमारे ज्ञानकी नावपर बैठें, हम उन्हें सारे पापोंसे एक क्षणमें पार कर देंगे!

यह विद्या है, पराविद्या है गीताकी! मनुष्यके लिए इससे बढ़िया कोई आश्रय नहीं है! इसलिए इसका आश्रय ग्रहण करना ही मानव-धर्म है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

: ७ :

आपको यह वचन स्मरण होगा कि गीता भगवान्की वाणी है—'या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता'। प्रवचनका उपक्रम वहींसे किया गया था। अब उपक्रम और उपसंहारकी एकता होनी चाहिए। यही शिष्ट परम्परा है कि जहाँसे प्रारम्भ, वहीं समाप्ति—'यथारम्भस्तथा समाप्तिः, यत्रारम्भस्तत्रैव समाप्तिः'। यह केवल प्रवचनकी ही परम्परा नहीं है। हमारा ज्ञान भी वहाँसे निकलता है और दुनियाको देखता है, फिर लौटकर वहीं आजाता है। ज्ञानका मूल अपने आत्मामें होता है, बाहर नहीं होता। जब वह किसी विषयको ग्रहण करता है, तब बाहर-सा प्रतीत होता है, किन्तु विषय बदल जाते हैं और ज्ञान शान्त भावसे अपने स्वरूपमें स्थित रहता है। उसमें न तो देश है, न काल है और न वस्तु है।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, ज्ञानका यह स्वरूप संसारके किसी भी मजहबमें, किसी भी मजहबी पन्थमें नहीं है। हम लोग कभी-कभी सर्वधर्मसम्मेलनोंमें सब धर्मोंको समान कहते अवश्य हैं, लेकिन किसी भी धर्ममें ज्ञानके ऐसे स्वरूपका वर्णन नहीं है कि प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म तत्त्व ही एकमात्र वस्तु है। यह ज्ञान अपौरुषेय वेदवाणीका है, साक्षात् भगवान्का है।

इस ज्ञानका उपयोग किसी एक सम्प्रदायकी अथवा मजहबकी भलाईके लिए ही नहीं होता। आपको मालूम ही है कि गीतामें किसी सम्प्रदायका या मजहबका नाम नहीं है। किसी प्रान्तका, राष्ट्रका अथवा

जातिका नाम भी नहीं है। गीताका ज्ञान तो सबके मूल परमेश्वरकी, समस्त सन्तानोंकी भलाईके लिए आया हुआ है। यह सत् है, चित् है, आनन्द है और इसका उपयोग तमोगुणी, रजोगुणी, सत्त्वगुणी सबके मङ्गलके लिए है। किसी भी मजहबी ज्ञानका यह लक्षण है कि वह उसके आचार्यतक, मौलवीतक, पादरीतक सीमित रहता है। जो उनको अपना सब-कुछ मानते हैं, उनकी तो वे अपने खुदासे, पैगम्बरसे सिफारिश करते हुए कह देते हैं कि यह हमारा है, इसको बहिश्तमें भेज दो। किन्तु जो उनका अनुयायी नहीं होता, उनको नहीं मानता, उसकी सिफारिश वे नहीं करते।

इधर हमारा जो ईश्वर है, उसको किसीकी भी सिफारिशकी कोई जरूरत नहीं है। वह स्वयं निरन्तर सबका भला करता रहता है। जब हम कहते हैं कि गीता भगवान्‌की वाणी है तो इसका अर्थ है कि यह न केवल हिन्दुस्तान, बल्कि एशिया, योरुप, अमेरिका, अफ्रीका आदि सब देशोंके निवासियोंके लिए है। इसमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि किसी भी जाति अथवा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रके नामसे जो चातुर्वर्ण्य है, उसका भेद नहीं है। यहाँतक कि मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादिका भेद भी नहीं है।

अब इस सन्दर्भमें आप स्वयं अपने सम्बन्धमें ही विचार करना। यह देखो कि आप क्या हो? घड़ा हो या माटी हो? बस इसका निर्णय होते ही समस्या हल हो जायेगी। आप घड़े में शराब भी रख सकते हैं, दूध भी रख सकते हैं, दोनों की सड़ाँध भी रख सकते हैं, गन्दे नालेका पानी भी रख सकते हैं। लेकिन आप माटी हैं तो कुछ भी आवे, कुछ भी जावे, आप माटी-के-माटी हैं। अच्छा यह छोड़ो, देखो कि आप सांस हैं या हवा हैं। यदि सांस हैं तो उसमें आपके खाये हुए लहसुन-प्याजकी अथवा किसी अन्य सुगन्धित वस्तुकी गन्ध निकलेगी। लेकिन यदि आप हवा हो तो कुछ भी आवे, कुछ भी जावे, आप तो बस वायु हैं।

इसी प्रकार जब आप कर्ता होते हो, भोक्ता होते हो, संसारी होते हो, परिच्छिन्न होते हो तो संसारकी गन्ध आपको लगती है, आपके जन्म-मरण होते हैं, आप पापी-पुण्यात्मा होते हैं, नरक-स्वर्गमें जाते हैं, आपका आवागमन होता है। किन्तु जहाँ आपने अपनेको शुद्ध चैतन्यके

रूपमें जाना, वहाँ आप इन सब इल्लतोंसे जुदा हो गये, उपाधियोंसे मुक्त हो गये। वेदान्तकी बात बहुत सीधी-सादी है। उसको टेढ़ा-मेढ़ा जान-बूझकर बनाया गया है, क्योंकि लोगोंने टेढे-मेढ़े आक्षेप किये तो उनके खण्डनके लिए टेढ़े-मेढ़े उत्तरकी भी जरूरत हो गयी। अन्यथा वेदान्तका विषय बहुत सीधा-सादा है।

अब आप सबकी भलाईके लिए अवतरित भगवान्के हृदयकी वस्तु गीताकी कुछ विशेष बातोंपर ध्यान दें। गीताका भगवान् कहाँ रहता है? आप एक-दो बार नहीं, चार-छह-आठ बार इस बातको ढूँढिये। स्वयं भगवान् कहते हैं—'मया ततमिदं सर्वम् और येन सर्वमिदं ततम्' मेरे द्वारा यह सब तत है और जिसके द्वारा यह सब तत है। तत माने क्या? जैसे कपड़ेमें सूत। मतलब यह कि यह नामरूपात्मक सृष्टि तो कपड़ा-जैसा है और उसमें सूतकी तरह चेतन उपादानके रूपमें परमेश्वर जगमगा रहा है। प्रकाशमान हो रहा है। किसी मजहबका ईश्वर वैकुण्ठमें होता है, किसीका दिव्यलोकमें होता है, किसीका सूरतधाममें होता है और किसीका निराकार होता है। किन्तु हमारा ईश्वर—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म, सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः' है। यह निरूपण सयुक्तिक है, केवल प्रतिज्ञामात्रसे निरूपण नहीं है। प्रतिज्ञामात्रसे जो निरूपण होता है, वह श्रद्धाप्रधान होता है और युक्तिप्रधान निरूपण अनुभवारूढ़ होता है। 'सर्वं समाप्नोषि'का अर्थ है कि आप सबमें अभिन्न निमित्तोपादान कारणके रूपमें व्याप्त हैं। इसलिए आप ही सब हैं।

अब आप बताओ, किस महजबमें ऐसी बात है? खुदाने कुन कह दिया और सृष्टि बन गयी। ईश्वर ने ब्रह्माण्डका गोला बनाकर फेंक दिया और सृष्टि बन गयी। किन्तु यहाँ तो वही सब बनकर खेल रहा है। जो कुछ भी है, वही है। चालीस-पचास बरस पहलेकी बात है। स्वर्गाश्रममें एक महात्मा रहते थे। वे रातमें पक्षीकी तरह तू-ही-तू, तू-ही-तू, कहकर चिल्लाते रहते थे। ऐसा परमेश्वर आपको किसी मजहबमें नहीं मिलेगा। परमेश्वर भूत नहीं हैं, भविष्य नहीं है, परमेश्वर तो वर्तमान है। किन्तु यह जो प्रपञ्च है, वह विवर्तमान है।

गीतामें विभूति और योग, दो वस्तुओंका वर्णन इस प्रकार आया है—

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ १०.७

हम आपको अष्टाङ्गयोगका उपदेश नहीं करते। इसका नाम तो अविकम्प योग है। अविकम्प योगका अर्थ है, जो कभी काँपता नहीं, हिलता नहीं, चलता नहीं। यह आपको कभी छोड़कर हटेगा नहीं। विभूति भी भगवान् है और योग भी भगवान् है। विभूति भगवान् है माने सोना भी भगवान्, जेवर भी भगवान्। पानी भी भगवान् बर्फ भी भगवान्। बर्फ विभूति है और पानी योग है। सोना योग है और आभूषण विभूति, वैभव है। मृत्तिका योग है और पुष्प विभूति है, फल विभूति है। विभूति भी वही है, योग भी वही है। जन्म-मरण विभूति है और तत्त्व योग है। हर हालतमें उसको पहचान लो। ऐसा है हमारा भगवान्।

अब आप एक और बात देखो। 'भवन्ति भावा भूतानाम् मत्त एव पृथग्विधाः'—आपके हृदयमें जितने भाव आते हैं और इस जगत्‌में जितने भाव पैदा होते हैं, उन सबकी जिम्मेवारी भगवान् अपने ऊपर ले लेते हैं और कहते हैं कि जितने भी पृथक् पृथक् भाव हैं, अलग-अलग भाव हैं, वे सब मुझसे हो रहे हैं। 'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा, मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव'—सब मैं हूँ, सब मैं हूँ, सब मैं हूँ।

यह है गीता, श्रीकृष्णके जीवनकी, अनुभवकी पोथी। उनके जन्मकी लीला नब्बे बरस पहले हुई थी। फिर भी वे अर्जुनके रथपर बैठकर ललकार रहे हैं।

एक बात और आपको सुनाते हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं—'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन'। अर्थात् हे अर्जुन, मैं अमृत हूँ, मैं मृत्यु हूँ, मैं सत् हूँ और मैं असत् हूँ। आप दुनियाकी मजहबी पोथियोंको अच्छी तरह देख लीजिये, क्या अपनेको मृत्यु और असत् कहनेकी हिम्मत है किसीमें? नहीं है। किन्तु हमारे भगवान्‌के इस कथनमें कितना सर्वात्मभाव है। सर्वत्र एक दृष्टि है। यह बात भूलनेकी नहीं है। जो इस बातको नहीं समझेंगे उनको तो यही विचार होगा कि भगवान्‌ने अपने बारेमें ऐसा क्यों कह दिया।

तो, 'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन' यह है सर्वात्मभाव—'न सत् तन्नासदुच्यते' यह है सर्वातीत भाव और 'सदसत् सर्वं यत्'

यह है सद्सद् भाव। अब गीता पढ़नेवालोंके लिए संकेतके रूपमें कुछ बातें सुनाते हैं।

श्रीकृष्ण यह नहीं कहते कि आप मन्दिरमें, तीर्थस्थानमें, उत्तमकुलमें प्रकट होंगे, तब पवित्र होंगे। यहाँ तो जहाँ जेलखानेमें माँ बापको हथकड़ी-बेड़ी लगी हुई है, वहाँ भगवान् प्रकट होते हैं। इसलिए अगर किसीके माँ-बाप जेलमें बन्द हों, वहाँ उसका जन्म हुआ हो और वहाँसे उसको रातों-रात भागना पड़ा हो तो भी उसे अपनेमें हीनभाव नहीं लाना चाहिए। इसी तरह यदि किसीने जहर पिला दिया हो कहीं बैलगाड़ी अपने ऊपर गिर गयी हो, बवण्डरमें उड़ गये हों, ऊखलमें बँध गये हों, अजगर मारना पड़ा हो, बगुला मारना पड़ा हो तो भी अपनेको छोटा मत समझना। कभी-कभी मामाओंके अत्याचारोंका विरोध उनके भाञ्जोंको करना पड़ता है। श्रीकृष्णको भी ऐसा करना पड़ा। किन्तु उन्होंने मामा कंसपर तमाचातक नहीं चलाया, केवल मञ्चपर चढ़ गये और उनको देखते ही मामा कंसका हार्टफेल हो गया। अगर कभी तुम्हारे साथ भी ऐसा हो गया हो तो डरनेकी कोई बात नहीं है। कभी नगर छोड़कर भागना पड़ा हो तो चिन्ताकी कोई बात नहीं है।

हम आपको भगवान् श्रीकृष्णके जीवनकी बात सुना रहे हैं। आपको मालूम ही है कि वे मथुरामें मालीके घर बिना बुलाये गये, उसने कोई आमन्त्रण नहीं दिया था। इसी तरह उन्होंने दर्जीको अपने आप ही बुलाया और उससे कपड़े ठीक करवा लिये। यह है भगवान्की भगवत्ता। एक निमन्त्रण भगवान्को अवश्य मिला और वह मिला कंसको अङ्गराग लगानेवाली नाईनकी ओरसे। उसने कहा कि हमारे घर पधारो और भगवान् बोले कि ठीक है। यह भगवान्का बड़प्पन है, उन्होंने यह नहीं सोचा कि उसके घर जानेसे हम छोटे हो जायेंगे।

भगवान्के जीवनका एक दृश्य और देखो। जरासन्धके सामने भागना पड़ गया। यदुवंशियोंने कालयवनकी सारी सम्पत्ति भैंसों, गधों, हाथियों और बैलगाड़ियोंपर लाद ली थी और वे उसके साथ द्वारका जा रहे थे। श्रीकृष्ण ने सोचा कि यह सम्पत्ति हमारे घरमें जायेगी तो कुछ-न-कुछ हानि जरूर पहुँचायेगी। इसलिए उन्होंने जरासन्धसे आक्रमण करवा दिया, सब यदुवंशी सम्पत्ति छोड़कर भाग खड़े हुए। कालयवनकी सम्पदा जरासन्धको मिली। उधर श्रीकृष्ण और बलराम जरासन्धके आक्रमणका सामना करना उचित न समझकर भाग रहे हैं। हमारा

परम प्रेमास्पद भगवान् नंगे पाँव भाग रहा है। उसके पास एक धोती है, धरती पर सोता है, माँगकर खाता है, साधुओंके आश्रमोंमें रहता है, सत्सङ्ग करता है। यह भी एक झाँकी है श्रीकृष्णके जीवनकी। पहाड़में आग लग गयी। वहाँसे भी उनको भागना पड़ा। उन्होंने समुद्रमें द्वारका बसायी, परन्तु उस द्वारकापर भी शाल्वने हवाई जहाजसे आक्रमण किया। उनके ससुर सत्राजितके घरमें डाका पड़ा, वे मारे गये और उनसे मणि छिन गयी। स्वयं श्रीकृष्णको चोरी लगी। खास बड़े भाई बलरामजीने उनके ऊपर शंका की। भागवतमें स्वय श्रीकृष्ण कहते हैं कि बलरामजी मणिके बारेमें मेरा विश्वास नहीं करते—'किन्तु मामग्रजः सम्यङ् न प्रत्येति मणिं प्रति।'

अब देखो, श्रीकृष्णकी पारिवारिक स्थिति। वे स्वयं तो सन्तोंका चरण धो-धोकर पीते थे, किन्तु उनके पुत्र सन्तोंकी परीक्षा लेते फिरते थे। श्रीकृष्ण कहते थे कि शराब मत पीओ, लेकिन बेटे उनके सामने ही शराब पीकर मतवाले हो जाते थे। उन्होंने आपसमें मारपीट की और श्रीकृष्णपर भी टूट पड़े। अन्तमें, बहेलियेने श्रीकृष्णके पाँवमें बाण मार दिया।

इस प्रकार श्रीकृष्णके जीवनकी ओर तो देखो। मालूम होता है वे बड़े ऐश्वर्यशाली थे, द्वारकाके स्वामी थे, बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि, बड़े-बड़े राजा-महराजा उनके चरणोंमें प्रणाम करते थे और हाथ जोड़कर खड़े रहते थे। ठीक है, यह भी उनके जीवनका एक पहलू था, किन्तु दूसरा पहलू भी था, जो हम आपको सुना चुके हैं।

अब देखो, गीता कहाँसे निकली है ? श्रीकृष्ण कहते हैं कि—'गीता मे हृदयं पार्थ'—हे अर्जुन, यह मेरा दिल है। यही उनके दिलमें भरा था, जो उन्होंने अपने दोस्त अर्जुनको बताया। इसलिए गीता शास्त्र नहीं, श्रीकृष्णका हृदय है।

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिमम् श्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्॥ १८.७४

गीता श्रीकृष्ण और अर्जुनका पारस्परिक सम्वाद है, सम्वाद माने बातचीत, कथोपकथन। इसमें श्रीकृष्ण और अर्जुन परस्पर विचार-विमर्श कर रहे हैं। एक बात अर्जुन बोलते हैं, दूसरी बात श्रीकृष्ण बोलते हैं। यह वाद नहीं, जल्प नहीं, वितण्डा नहीं है। यह कोई

अनुशासनात्मक शास्त्र नहीं है। कानूनकी पोथी नहीं है। यह तो मित्र-संवित् है। जैसे एक मित्र दूसरे मित्रको हृदयकी बात समझाता है, वैसा है यह। इसमें बड़प्पनका आदेश-उपदेश नहीं है। यह नर-नारायणका, जीव-ईश्वरका सम्वाद है। एक ही हृदयमें जीव और ईश्वर दोनों हैं—'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (मुण्डक ३.१.१)। जीव दुनियाकी ओर देखना बन्द करके ईश्वरकी ओर देखता है तो ईश्वरकी वाणी सुनाई पड़ती है। जबतक हम दुनियामें बोलते रहते हैं तबतक ईश्वरकी आवाज नहीं सुनाई पड़ती। जब हम दुनियाकी ओरसे चुप हो जाते हैं तो हृदयमें बैठे हुए परमेश्वरकी आवाज सुनाई पड़ने लगती है।

उदाहरण के तौरपर आजकल विश्वमें जो ब्राडक्रास्ट होते हैं, उनकी बात लो। ब्राडकास्ट अमेरिकामें होते हैं, रूसमें होते हैं, चीनमें होते हैं, भारतमें होते हैं। सबकी आवाज यहाँ आती है। लेकिन आप कब सुन पाते हैं। तब सुन पाते हैं, जब रेडियो या ट्रांजिस्टरकी सूई यथा-स्थान लगा देते हैं। आपका रेडियो या ट्रांजिस्टर शक्तिशाली होना चाहिए। यह आवाज ऐसी है, जो आकाशमें फैल जानेपर नष्ट नहीं होती। अर्जुन और श्रीकृष्णकी आवाज भी आकाशमें भरी हुई है। वेदके मन्त्र भी भरे हुए हैं। इसीलिए उनका श्रवण होता है, दर्शन होता है, साक्षात्कार होता है। आवश्यकता यह है कि आप अपने हृदयके रेडियोको, ट्रांजिस्टरको बिल्कुल ठीक-ठीक उस जगहपर लगाइये, जहाँसे वह आवाज सुनायी पड़ती है। फिर आप देखेंगे कि यहाँ तो सब कुछ श्रवणगोचर है।

संवादमिमम् अश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्।

युद्ध हो रहा है कुरुक्षेत्रमें और सञ्जय इन्द्रप्रस्थमें धृतराष्ट्रके पास बैठकर श्रीकृष्ण अर्जुनको देख रहे हैं और उनकी आवाज भी सुन रहे हैं। सञ्जयके पास कोई टी० वी० नहीं थी। उनका हृदय ऐसा था, जिसमें उन्होंने टी० वी० के तत्त्व बना लिये थे। वे दूरका देख सकते थे, दूरका सुन सकते थे, दूरका समझ सकते थे। आजकल के वैज्ञानिक, भी इसके लिए प्रयास कर रहे हैं। यदि वैज्ञानिक उन्नति हो गयी तो श्रीकृष्णार्जुनका संवाद सुना जा सकता है। इसी तरह वसिष्ठकी सनत्कुमारकी तथा अन्य ऋषि-महर्षियोंको वाणी भी सुनाई पड़ेगी, क्योंकि शब्द नित्य होते हैं और वे आकाशमें परिपूर्ण रहते हैं। उनको

ग्रहण कर लेनेकी केवल शक्ति चाहिए। यदि हम चाहें तो धर्मानुष्ठानके द्वारा, संयम द्वारा, तपस्याके द्वारा, सद्गुरु-प्रसादके द्वारा भी उन शब्दोंको ग्रहण कर सकते हैं। इसलिए सञ्जयने कहा कि श्रीकृष्ण बोल रहे हैं और मैं सुन रहा हूँ।

तो यह गीता श्रीकृष्णके हृदयका गान है। आप जरा उनकी करुणा पर ध्यान दीजिये—'विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः' अर्जुन रो रहा है और श्रीकृष्ण चुप हैं। उनके दिलमें जो बात जमी है, उसको वे निकालते नहीं हैं। यह बात साफ-साफ है।

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥

गीता कागज की किताबका नाम नहीं है, श्लोकोंकी रचनाका नाम भी गीता नहीं है। इसी तरह बोली, भाषा, रचना या लिपिका नाम भी गीता नहीं है। हमारे देशमें लिपिके लिए, भाषाके लिए जो लड़ाई होती है, उससे ज्ञानका तिरस्कार होता है। जिस ज्ञानकी प्राप्तिके लिए भाषा बनी, लिपि बनी, पुस्तक बनी, उसी ज्ञानकी उपेक्षा हो गयी। हाथी तो रह गया और कहीं, अङ्कुशके लिए विवाद होने लगा। जेवर तो रह गया और कहीं, उसके केसके लिए झगड़ा होने लगा। भाषा, लिपि या किताब तो ज्ञानको सुरक्षित रखनेका केस है। इसके लिए लड़ाई! हे भगवान् सुबुद्धि दो लड़नेवालोंको। जातिके लिए लड़ाई होती है और मनुष्यताका संहार होता है। मजहबके लिए लड़ाई होती है और धर्मका संहार होता है, अहं के लिए लड़ाई होती है और ईश्वर भूल जाता है। यह कोई समझदारीकी बात नहीं है कि नीति तो भूल जाये, राजनीति तो भूल जाये देश तो छूट जाये और पार्टीके लिए लड़ाई हो। छोटी-छोटी बातोंमें उलझ जाना तो अपनी नासमझीका ही इजहार हैं। नासमझीको ही जाहिर करना है।

गीता विद्या है और वह अन्तःकरणमें वृत्तिके रूपमें रहती है। श्रीकृष्णके हृदयमें जो विद्या है, वह स्वयं प्रकाशविद्या है। वे वक्ता नहीं बने। उन्होंने जानबूझकर वाणीका यह कर्तृत्व अपने ऊपर नहीं लिया कि मैं बोलता हूँ। उनके हृदयमें जो बैठी हुई विद्या है, वह करुणाका उद्रेक होनेपर स्वयं प्रकट हो गयी। ब्रह्माजी तो नाभि-कमलमें धरे

रह गये। वे नाभि-कमलसे प्रकट होते हैं और वेद बोलते हैं। देखो, एक तो है भगवान् और एक है उनकी आकाशरूप नाभि 'नभ एवं नाभिः'। उसमें आकाश-कुसुमके समान पैदा हुआ कमल, उसपर पैदा हुए ब्रह्मा और ब्रह्मा देते हैं अपने चारो मुँहोंसे व्याख्यान। अतः वे नभो-नाभिके विलास हैं। परन्तु गीता नाभिसे नहीं निकली, हृदयसे निकली। हृदयसे चलकर मुँहमें आयी और फिर वह मुखकमलसे निकली। भगवान्का मुख ब्राह्मण है। उन्होंने ब्राह्मणके द्वारा उपदेश किया। इसप्रकार गीता अपने आप निकली।

गीतापर एक स्वयंविमर्श नामक टीका है। उसमें कहा गया है कि गीता अपौरुषेय वेदवाणीके समान स्व-प्रकाश है, वह किसी पुरुषविशेषकी रचना नहीं है। गीता श्रुति है, उपनिषद् है, साक्षात् श्रीकृष्णके हृदयकी विद्या है, उनके अनुभवकी पोथी है। जरा श्रीकृष्णके मुस्कानपर ध्यान दीजिये। वे जेलखानेमें पैदा हुए, तब भी मुस्करा रहे थे और उनके पाँवमें बहेलियेका बाण लगा, तब भी मुस्करा रहे थे। मुस्कुराते हुए पैदा हुए और मुस्कुराते हुए चले गये। संसारकी किसी भी परिस्थितिने उनपर प्रभाव नहीं डाला। किसीके आनेसे किसीके जेल जानेसे, जेलमें पैदा होनेसे, जहर पिलानेसे, मामाको मारनेसे, नगर छोड़कर भागनेसे, भीख माँगनेसे, धरतीमें सोनेसे, डाका पड़नेसे, अविश्वास करने से, बच्चोंके आज्ञाकारी न होनेसे, किसी भी कारणसे श्रीकृष्णके चेहरेपर शिकन नहीं पड़ी, उनका चेहरा कभी मुरझाया नहीं।

यही है श्रीकृष्णका जीवन! किसी भी देशमें, किसी भी कालमें, किसी भी वस्तुकी प्राप्ति-अप्राप्तिसे, किसी भी व्यक्तिकी निन्दा-स्तुतिसे, श्रीकृष्णके मुखकी प्रभा म्लान नहीं हुई—नोदेति नास्तमेत्येषा सुखे दुःखे मुखप्रभा। श्रीकृष्णके सामने सुख आया तो भी मुस्कुरा रहे हैं और दुःख आया तो भी मुस्कुरा रहे हैं। उनके मुखकी प्रभा धूप-छाँह सरीखी नहीं बनी थी कि जब चाहे चमक गयी और जब चाहे मिट गयी। श्रीकृष्णका मुख तो एक सरीखा चमाचम, चमाचम चमक रहा है। यह बात स्वयं संजय करते हैं। यह भी कहते हैं कि मैंने देखी भी और सुनी भी। वह अद्भुत है, अद्भुत है और इतना रोमहर्षक है कि हमारे रोंगटे खड़े हो जाया करते हैं, हमें रोमाञ्च हो जाया करता है—'अद्भुतं रोमहर्षणं संवादम् इममश्रौषम्।

अद्भुतका अर्थ है कि पहले ऐसा संवाद न कभी देखनेमें आया और न कभी सुननेमें आया। वह संवाद नहीं, आश्चर्य है, महदाश्चर्य है। श्रीकृष्णने भी कहा कि 'आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः' (२.२९)। वेदने भी कहा कि 'आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः' (क० १.२.७)। मतलब यह कि जिसको देखकर मनुष्यके मुँहसे आः, आः, निकले—आह इतना मीठा! आह इतना महत्त्वपूर्ण! आह इतना गम्भीर! इस प्रकार आह-आहकी चर्याका नाम आश्चर्य है।

श्रीकृष्णकी एक बात आप और देखिये! उन्होंने गीतापर कमीशन दिया है, यह बात आपके ध्यानमें है या नहीं? आप लोग भी कमीशन लेना चाहते हों तो ले सकते हैं। सबके लिए छुट्टी है। स्वयं श्रीकृष्ण कहते हैं—

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥ १८.६८

इसका अर्थ क्या है? पहले बोले कि हमारे भक्तोंको गीता सुनाओ तो मेरी प्राप्ति होगी, मैं मिल जाऊँगा। फिर बोले कि मैं अपनेसे तो उतना प्रेम नहीं करता हूँ। इसलिए मैं मिल भी जाऊँगा तो तुमको कुछ बाकी रह जायेगा। वह क्या है? बोले कि मेरा प्रेम। इससे बढ़कर कमीशन और क्या हो सकता है? 'न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः'—लो भाई कमीशनका दस्तावेज। लिखकर देता हूँ। यह देता हूँ। यह सर्वथा प्रामाणिक है! क्या? यही कि जो इस गीताको पढ़ेगा, उससे ज्यादा प्यारा हमारा और कोई नहीं हो सकता? बोले कि बाबा, कहीं बात बदल गयी और कह दिया कि उस समय तो कोई नहीं था, अब आगे हो गया तो क्या होगा? बोले कि ना-ना उससे बढ़कर और कोई प्रिय नहीं होगा—'भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि' (१८.५९)। इस प्रकार श्रीकृष्ण गीता पढ़ने-पढ़ानेवालोंको कमीशन देते हैं।

अब अर्जुनकी बात लो। वे कहते हैं—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥ १८.७३

भगवान्‌ने अर्जुनसे पूछा कि तुमने एकाग्र मनसे श्रवण किया—'कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा' (१८.७२)। इस श्रवण—मनन और निदिध्यासनसे क्या तुम्हारा अज्ञान, सम्मोह नष्ट हुआ? अर्जुनने उत्तर दिया कि हाँ, नष्ट हुआ। आगयी धर्मकी स्मृति, हो गयी स्वरूपकी स्थिति। अब मरना-मारना कुछ नहीं, सगे-सम्बन्धी भी नहीं, मोहमें नहीं पड़ना चाहिए, मोह भी नष्ट हो गया। तब? 'करिष्ये वचनं तव'—अर्जुन आज्ञाकारी हो गया। सचमुच अर्जुन अर्जुन हो गया, ऋजु हो गया। उसके जीवनमें अहंकारका जो कड़ापन था, वह मिट गया। अहंकार बड़ा कड़ा होता है, कठोर होता है और विनय बहुत कोमल होता है।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैव व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥ १८.५९

अर्जुनने दूसरे अध्यायमें कहा था—'न योत्स्य इति।' और, अब अठारहवें अध्यायमें ऐसा कह रहे हैं। श्रीकृष्णको यह याद है, इसलिए उन्होंने अर्जुनके शब्दको उद्धृत कर दिया कि तुम जो कहते हो कि मैं नहीं लड़ूँगा, इसके पीछे तुम्हारा अहंकार है। 'अरे बाबा, वह तो शुरु-शुरुमें कहा था, अब थोड़े ही कहता हूँ। नहीं, नहीं अभी तुममें अहंकार है! है बेटा, जरूर है, मैं समझ गया। देखो, जब कभी मित्र आपसमें बात करते हैं तो एक दूसरेको बच्चू भी कह देते हैं, यार भी कह देते हैं, बेटा भी कह लेते हैं। इसलिए श्रीकृष्ण कहते है कि ठीक है, मुझे याद है, तुमने कहा था कि युद्ध नहीं करूँगा। इसीलिए अर्जुनको कहना पड़ा कि अच्छा बाबा, अब नहीं कहूँगा। जो-जो कहोगे, वही करूँगा—'करिष्ये वचनं तव!' इस वाणीमें विनय है, कोमलता है, जो गीता सुननेके बाद अर्जुनमें आगयी।

ऋषिकेशमें एक महात्मा रहते थे। उनकी उम्र नब्बे बरसकी होगी। जब उनका शरीर छूटने लगा तो जिज्ञासुओंने उनको घेर लिया और कहा कि महाराज, अपने जीवनका अनुभव बताओ! महात्मा बोले कि देखो, मेरे मुँहमें दाँत है? जिज्ञासुओंने कहा कि नहीं महाराज, दाँत तो सब टूट गये हैं। महात्माने कहा कि जीभ है? जिज्ञासुओंने उत्तर

दिया कि जीभ है, तभी तो आप बोल रहे हैं। महात्माने कहा कि बस, मेरे जीवनका यही अनुभव है। जो कड़ा होता है, वह टूट जाता है और जो कोमल होता है, वह बना रहता है।

अब धृतराष्ट्र और सञ्जयकी बात देखो। धृतराष्ट्रने सञ्जयसे पूछा—'किमकुर्वत सञ्जय ?' (भीष्मपर्व २५.१)। इस प्रश्नमें यह बात नहीं है कि युद्ध किया कि नहीं किया ? बल्कि यह बात है कि क्या विशेष किया—'किं विशिष्टं अकुर्वत ?' क्योंकि युद्धके दसवें दिन, जब कि भीष्मपितामह शरशय्यापर शयन कर रहे थे, धृतराष्ट्रने सञ्जयसे यह प्रश्न किया। धृतराष्ट्रको यह तो मालूम ही था कि युद्ध हो रहा है। युद्धमें जो होता है, वह उनको जाननेकी जरूरत नहीं थी, उनको सञ्जयके द्वारा सब समाचार मिल रहे थे। उनका ख्याल यह था कि जहाँ श्रीकृष्ण हैं, वहाँ केवल युद्ध ही नहीं हुआ होगा, कुछ-न-कुछ अद्भुत हुआ होगा। इसलिए उन्होंने सञ्जयसे पूछा कि वहाँ आश्चर्यजनक अथवा अनहोनी घटना क्या घटित हुई ? अनहोनी घटना यह हुई कि युद्ध-भूमिमें जहाँ दोनों ओरसे हथियार चलनेवाले थे वहाँ गीताके रूपमें वेदान्त-विद्या, उपनिषद्-विद्या प्रकट हुई और सञ्जयने उसे धृतराष्ट्रको सुनाया। यह विशिष्ट प्रश्नका विशिष्ट उत्तर था। न साधारण घटना विषयक प्रश्न था और न साधारण घटना विषयक उत्तर था। युद्धभूमिमें गीताका अवतरण कोई साधारण घटना नहीं है।

अध्यात्म-विद्या ऐसी है जो क्रोधके प्रसङ्गमें, हिंसाके प्रसङ्गमें, युद्धके प्रसङ्गमें, यहाँतक कि कामके प्रसङ्गमें भी प्रकट हो सकती है। गीता प्रकट हुई युद्धमें, अर्जुनको प्रवृत्त करनेके लिए और योगावासिष्ठ कब प्रकट हुआ ? जब श्रीरामचन्द्र विवाह करने, गृहस्थ बनने और राज्य करनेको तैयार नहीं थे, तब योगवासिष्ठ प्रकट हुआ। इसी तरह जब जनक राज्यमें लिप्त थे तब उनको असङ्ग बनानेके लिए ब्रह्मविद्या प्रकट हुई। इस प्रकार हमारी जो साक्षात्, जगज्जननी, जगदम्बा, पराम्बा स्वयं प्रकाश ब्रह्मविद्या गीता है, यह कृपा करके कभी-भी, किसी भी अवसरपर प्रकट हो जाती है। यह अद्भुत है, परम अद्भुत है। इससे बढ़कर आश्चर्यजनक और कुछ हो नहीं सकता।

परन्तु धृतराष्ट्र ने गीता सुनकर भी कोई निश्चय नहीं किया, किसी निश्चयपर नहीं पहुँचे, क्योंकि वे अन्धे थे। अन्धा माने केवल मेरा-मेरा-

मेरा माननेवाला, उसको मेरेके सिवा और कुछ दीखता ही नहीं। 'धृतं राष्ट्रं येन' धृतराष्ट्र अन्धा होनेके कारण सारी दुनियाको पकड़कर बैठे हुए थे कि यह मेरी है, मेरी है, मेरी है। इसलिए उनको और क्या सूझता ? लेकिन सञ्जयको सुदृष्टि प्राप्त थी, इसलिए उन्हें सूझ गया और उन्होंने गीता सुनकर उसका निष्कर्ष निकाला—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥१८.७८

ऐसा क्यों हुआ ? इसलिए हुआ कि सञ्जय वास्तवमें सञ्जय थे। 'सम्यक् जयति इन्द्रियाणि मनश्च' जो इन्द्रिय और मनोवृत्तिपर सम्यक् विजय प्राप्त करके बैठा हुआ है, उसका नाम सञ्जय है। जो जीवन्मुक्त है, अन्तर्मुख है, वह सञ्जय है। इसीलिए वे गीताका निष्कर्ष निकालनेमें समर्थ हैं।

अब सञ्जय के निष्कर्षपर विचार करो और इसीके साथ अपने जीवनकी सफलताका रहस्य समझ लो। देखो, जीवन कैसे सफल होता है ? आप जो भी योग करते हैं, चाहे वह कर्मयोग हो, भक्तियोग हो, ज्ञानयोग हो अथवा अष्टाङ्गयोग हो, वह क्या है ? संस्कृत भाषामें योग शब्दका अर्थ है उपाय—'योगः संहननोपाय' कोषकार अमरसिंह (नानार्थं वर्ग २२)ने योगका अर्थ उपाय किया है। जैसे वैद्य-लोग कई दवाओं, कई बूटियोंको एकमें मिलाकर योग बना देते हैं, उनका संघटन कर देते हैं, वैसे ही संस्कृतमें योग उपायके अर्थमें हैं। उपायके स्वामी कौन है ? भगवान् श्रीकृष्ण हैं ? उन्हींसे उपायकी प्रेरणा आयी, उन्होंने ही साधनाकी प्रेरणा दी और फिर साधनाका निर्वाह भी उन्होंने ही किया। साधनाकी प्रेरणाके लिए भी ईश्वरकी जरूरत है, साधनाके निर्वाहके लिए भी ईश्वरकी जरूरत है और साधनाकी फल-प्राप्तिके लिए भी ईश्वरकी जरूरत है—'फलमतः उपपत्तेः ( ब्रह्मसूत्र ३.२.३८ )।

तो, ईश्वर प्रेरक है काम नहीं, ईश्वर निर्वाहक है अहंकार नहीं, ईश्वर फलदाता है कर्म नहीं। यही 'यत्र योगेश्वरः कृष्णः'का तात्पर्य है। तब फिर जीव हाथ-पर-हाथ रखकर बैठ जाये ? नहीं, तुम यदि अपना कर्तव्य छोड़ दोगे तो ईश्वर अपने कर्तव्यका, पालन क्यों करेगा ? अगर ईश्वरकी सहायता लेनी है तो तुम्हे अपना काम करना चाहिए।

यही आशय है—'यत्र पार्थो धनुर्धरः'—का ! यहाँ अर्जुनके लिए पार्थ शब्दके प्रयोगका संकेत यह है कि वह भगवान्का सगा-सम्बन्धी है, भाई है, पृथाका पुत्र है, कुन्तीका पुत्र है। यह पार्थ है, माने जीव है, सखा है। 'पः परमात्मा इव अर्थः प्रयोजनम् यस्य'—जिसके जीवनका प्रयोजन केवल परमात्मा है, जिसको श्रीकृष्णके सिवाय और कुछ नहीं चाहिए, उसको पार्थ कहते हैं। परन्तु पार्थ निकम्मा नहीं है, 'धनुर्धरः'—

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं संधयीत।
(मुण्डक उप० २.२.३)

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते॥
(मुण्डक उप० २.३.४)

ये मुण्डकोपनिषद्के मन्त्र हैं, जो अर्जुनके मुँहमें हैं। ज्ञान उसके हृदयमें है और वह बारबार श्रीकृष्णका आदेश पालन करनेके लिए तैयार है। फिर ?

तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।

लो निष्कर्ष ! जहाँ ऐसा है, वहीं श्री है, वहीं शोभा है। वहाँ जीव अपने कर्तव्य-पालनमें डटा हुआ है और ईश्वर उसको प्रेरणा दे रहा है, वहाँ आयेगी लक्ष्मी, वहाँ आयेगी विजय, वहाँ आयेगा वैभव और वहाँ आयेगा नीतिका ज्ञान। संस्कृत भाषामें नीतिका अर्थ आँख होता है—'नयनम् नीति, णीञ्प्रापणे'। जैसे हम पहले आँख से देखकर उसके बाद पाँव आगे रखते हैं, वैसे ही पहले नीतिसे अपने उद्देश्यको, अपने उपायको परखनेके पश्चात् कर्ममें प्रवृत्त होते हैं। सञ्जय कहते हैं कि मैंने गीता सुनकर यह निश्चित निष्कर्ष निकाला है—'ध्रुवानीतिर्मतिर्मम'।

अब देखो गीता 'धर्म' शब्दसे शुरू हुई है और 'मम' शब्दसे समाप्त हुई है। धर्मका ले लो धर् और ममका ले लो म, फिर देखोगे कि गीता धर्म शब्दसे सम्पुटित है, धर्मके पेटमें गीताका निवास है। यही है सञ्जयका निष्कर्ष और अर्जुनका निष्कर्ष। धृतराष्ट्रका तो कोई निष्कर्ष ही नहीं है।

अब श्रीकृष्णका निष्कर्ष क्या है ? यह देखिये। एक हँसीकी बात है, लेकिन आप ध्यान देंगे तभी आपको हँसी आयेगी, क्योंकि यह कोई

चुटकुला या कहानी नहीं है। किसीने एक महात्मासे पूछा कि आपने गीता पढ़कर क्या समझा है? किसी निष्कर्षपर पहुँचे हैं? महात्मा बोले कि हाँ, 'सर्वा गीता मयाधीता'—मैंने सारी गीता पढ़ ली और 'तत्र प्राप्तो विनिश्चयः'—वहाँ मैं एक निश्चय पर पहुँच गया। वह निश्चय क्या है महाराज? यही है कि 'सर्वधर्मपरित्यागी सर्वपापैः प्रमुच्यते।' तो, हँस लो भाई, श्रीकृष्ण भी यही कहते हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥१८.६६

अब यहाँ एक बात देखो, धर्म तुम्हें पापसे मुक्त नहीं करेगा, तुम्हारे पापोंको दबा देगा। मान लो किसी गोदाममें पहले कोयलेसे भरे हुए बोरे रक्खे हैं। वहाँ बादमें चीनीसे भरे हुए बोरे और रख दिये। अब कोयले वाले बोरे पड़ गये भीतर और चीनीवाले बोरे आगये आगे। इसी तरह पापको दबानेके लिए पुण्य होता है, पापका नाश करनेके लिए नहीं होता। पाप-पुण्यका नाश तो ब्रह्मज्ञानसे ही होता है, ब्रह्मज्ञानके बिना पाप-पुण्य दोनोंका नाश नहीं हो सकता। इसीलिए श्रीकृष्णने कहा कि धर्मका आश्रय संसारसे नहीं छुड़ावेगा। संसारसे छूटनेके लिए मेरा आश्रय लो—'मामेकं शरणं व्रज'। देखो, कृष्णका 'माम्'। यह एक है। इसमें दोकी गुंजाइश नहीं है। 'मामेवैष्यसि सत्यम्—श्रीकृष्णका 'माम्' सत्य है। श्रीकृष्णका 'माम्' एक है। अतः वे बोले कि आओ, मेरी एक ही शरणमें आजाओ। सत्यकी शरणमें आजाओ। आत्माका परित्याग हो नहीं सकता, अनात्माको कोई पकड़कर रख नहीं सकता। इसलिए समझो इस बातको। जब श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि' तो उसका क्या अर्थ है? 'अहंत्वेन अभिव्यक्तः अहम्' मतलब यह कि मैं तुम्हारे अहम् के रूपमें प्रकट होकर तुमको—'सर्वपापेभ्यः सर्वपुण्येभ्यश्च' सम्पूर्ण पाप पुण्योंसे मुक्त कर दूँगा। श्रीकृष्णके अशोच्यानन्वशोचत्वम्' से समझना प्रारम्भ किया और मा शुचः पर समाप्त किया। प्रारम्भमें 'अशोच्यान्' है और अन्तमें 'मा शुचः' है।

तो यह गीता शोक-मोह छुड़ानेके लिए है। भगवान्ने अर्जुनको या अन्य श्रोताओंको सन्तान देनेके लिए, धन देनेके लिए, मकान देनेके लिए, कुर्सी देनेके लिए अथवा दूसरे भोग देनेके लिए गीता नहीं सुनायी।

इसीलिए सुनायी कि तुम्हारे हृदयोंमें जो शोक-माह है और जिसके फल स्वरूप तुम दुखी हो रहे रहो, उसका निवारण हो जाये तथा तुम्हें शाश्वत शान्तिकी प्राप्ति हो जाये।

तो भाई, भगवान्‌की कृपासे आज सात दिन पूरे हो गये। इन सात दिनोंमें लगभग सात घण्टोंतक आप लोगोंने इतनी शान्तिसे, इतने प्रेमसे सुना कि आपको देखकर मेरे हृदयमें आनन्दकी उमंग उठती थी। जैसे गंगाजीमें लहर उठती है, वैसे ही मेरे हृदयमें भी लहर उठती थी, यह सोचकर कि आप लोग कितनी शान्तिसे बैठे हैं, कितने प्रेमसे सुन रहे हैं। मैं जिस किसीकी ओर भी देखता तो ऐसा लगता कि सबकी आँखें मेरी ओर हैं, और उनमें ज्ञान भरा हुआ है। आपका जो सुननेका संकल्प है, जाननेका संकल्प है और आपका जो प्रेम है, वह आपकी आँखोंमें-से निकल-निकलकर मेरे रोम-रोममें घुस गया और फिर आप सब लोगोंका ज्ञान ही मेरे मुँहसे निकलने लगा। आप ही श्रोता हैं और आप ही वक्ता है; आपने सुना और आपने ही बोला। 'नाहं वक्ता नाहं श्रोता यः कर्ता स्तूयतां वा स निन्द्यताम्'–इस ग्रन्थके जो वक्ता हैं, उनकी आप स्तुति करो या निन्दा करो, कोई फर्क नहीं पड़ता। 'मयि नास्त्येव कर्तृत्वमभेदानुभवात्मनि'—मैं तो साक्षात्, अकर्ता, अभोक्ता, असङ्ग, अद्वितीय परब्रह्म परमात्मा हूँ। फिर बोलना और सुनना क्या ? यह सब तो आपकी विद्या है, सब आपका भाव है, सब आपकी श्रद्धा है। 'यत्कृतं यत्करिष्यामि तत् सर्वं न मया कृतम्'—मैंने जो कुछ किया, जो कुछ करूँगा; उससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। 'त्वया कृतं तु फलभुक् त्वमेव परमेश्वर'—हे परमेश्वर, तुमने किया है, इसलिए उसका फल भी तुम्हीं भोगो।

हमारे परमेश्वर न तो नाम-रूपसे परे रहते हैं, न वैकुण्ठमें रहते हैं और न हृदयमें रहते हैं। वे न निराकार हैं, न अदृश्य हैं, न अज्ञेय हैं, न अव्यक्त हैं, न सृष्टिके आदिमें हैं और न अन्तमें हैं। हमारे परमेश्वर तो आप लोग हैं। आपके सिवाय हमारा कोई दूसरा परमेश्वर नहीं है। हमें तो, जो हम हैं सो आप हैं, जो आप हैं सो हम हैं। आप ही वक्ता, श्रोता, धाता, विज्ञाता सब कुछ हैं। आपने सुना, आपने बोला, आपको वस्तु आपको !

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

## आभार ज्ञापन

देवियो और सज्जनो,

अभी-अभी श्रीस्वामीजी महाराजने जिन शब्दोंमें इस समारोहका समापन किया है, उसको सुनने-समझनेके बाद कुछ कहना शेष नहीं रह जाता। जहाँ सब कुछ परमात्मा है और वक्ता-श्रोतामें कोई भेद नहीं; वहाँ कौन किसको क्या कहे ?

लेकिन अभेदमें भी लोक-व्यवहार तो चलता ही है। अतः उसी दृष्टिसे मैं अपनी ओरसे अपने परिवारकी ओरसे, इस मन्दिरके ट्रस्ट-मण्डलकी ओरसे तथा आप सबकी ओरसे भी श्रीस्वामीजी महाराजके प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ, जिन्होंने हमारे ऊपर इतनी कृपा की और हमारा इतना ज्ञानवर्द्धन किया।

प्रभुसे प्रार्थना है कि श्रीस्वामीजी महाराजने गीतामें वर्णित मानव-धर्मकी जो सारगर्भित व्याख्या प्रस्तुत की है, वह हमारे हृदयकी गहराईमें उतरे और हमारा जीवन तदनुरूप बने।

मुझे आशा है कि अगले वर्ष भी इन्हीं दिनों श्रीस्वामीजी महाराज यहाँ पधारेंगे और हमें पुनः उनके ज्ञानोपदेशोंसे लाभान्वित होने का सुअवसर प्राप्त होगा।

—लक्ष्मीनिवास बिरला

# गीतामें भक्ति-ज्ञान समन्वय

## प्रस्तावना

उपस्थित सज्जनो! हम पूज्य स्वामी श्रीअखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज के वड़े आभारी हैं कि उन्होंने कृपा करके इस बार फिर हमें अपना सारगर्भित प्रवचन सुननेका अवसर दिया। इस वारका विषय है— 'गीतामें भक्ति-ज्ञानका समन्वय।'

गीतामें कहीं-कहीं परस्पर—विरोधी बातें मिलती हैं। उसके चतुर्थ अध्यायमें कहा है—'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' और आगे चलकर यह कहा है—'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।' इसके विरुद्ध अठारहवें अध्यायमें यह कह दिया है—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

अर्थात् मेरी पूजा करो, मुझे नमस्कार करो, मेरेमें सबको देखो। उपनिषदोंमें कहा गया है कि 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'—ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं है। रामचरितमानसके एक प्रसंग के अनुसार गरुड़जी कागभुशुण्डिके पास गये। वहाँ ज्ञानकी चर्चा हो रही थी। लेकिन कागभुशुण्डिजी केवल भक्तिकी बात करते थे। गरुड़जीने कहा कि क्या भक्ति-भक्तिकी बातें करते हो, ज्ञानकी बातें नहीं पूछते? कागभुशुण्डिजीने जवाब दिया कि 'भक्तिहि ज्ञानहि नहिं कछु भेदा। उभय हरइ भव संभव खेदा'—ज्ञान और भक्तिमें कोई फर्क नहीं है।

तो, ऐसे परस्पर-विरोधी वचनोंसे हम लोगोंको जो दुविधा हो जाती है, उसके सम्बन्धमें मैं श्री स्वामीजी महाराजसे प्रार्थना करूँगा कि वे हमारा मार्ग-दर्शन करें और हमें अपनी अमृतमयी वाणीसे तृप्त करें।

—लक्ष्मीनिवास बिरला

: १ :

अम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम् ।

आइये, अब गीताके सम्बन्धमें कुछ विचार करें। वर्तमान स्थितिमें मनुष्यका जीवन वासनानुसारी हो गया है। जिसके मनमें जैसी वासना है, उसके अनुसार वह काम करना चाहता है। अनुशासनानुसारी जीवन नहीं है और जबतक जीवनमें अनुशासन नहीं होता, तबतक किसी दिशामें प्रगति नहीं हो सकती। जब मनुष्य अपनी वासनाके अनुसार चलने लगता है, तब न धर्मको मानता है, न कानूनको मानता है और न किसीके सुख और शान्तिका विचार करता है। वह स्वार्थ और भोगमें इतना लिप्त हो जाता है कि दूसरेकी तरफ कोई ध्यान ही नहीं देता। उसके सामने न व्यक्तिगत जीवन रहता है, न जाति रहती है, न मजहब रहता है, न मानवता रहती है और न प्रान्त, राष्ट्र या विश्व रहता है। स्वार्थ-वासना और भोगवासना मनुष्यको उच्छृङ्खल बना

देती है। इसलिए हमारे चित्तकी शुद्धि आवश्यक है। आत्मशुद्धि अनिवार्य है। हमारा जीवन मर्यादित होना चाहिए। कोई भी पुलिस, फौज कानून या सरकार मनुष्यको शुद्ध नहीं रख सकती, यदि स्वयं उसके मनमें शुद्धचित्त रहनेकी प्रेरणा न आवे।

यह प्रेरणा हमारे धर्मग्रन्थ देते हैं और मनुष्यके हृदयमें ऐसा संस्कार बैठाते हैं कि वह सुव्यवस्थित हो जाय। यदि हमारे मनमें धर्मका संस्कार रहे तो उसके विरुद्ध जो काम है, उनकी ओरसे स्वयं विमुखता आजाय। इसलिए जीवनमें धर्म आना चाहिए। उसके लिए थोड़ी वीरताकी भी आवश्यकता है। यदि मनुष्यमें वीर्य न हो तो वह अपने धर्मपर दृढ़ नहीं रह सकता। जो कष्ट सहन करके अपने नियमका, धर्मका पालन करनेके लिए तत्पर नहीं है उसके जीवनमें आत्मबल कहाँसे आयेगा ? इसलिए ऐसे रास्तेसे चलो, ऐसे नियम रखो, जिसमें थोड़ा कष्ट उठाना पड़े। वीरता आती है उत्साहसे। साहित्यमें वीररसका स्थायीभाव उत्साह होता है। उत्साह दिलानेके लिए कोई बोलनेवाला भी चाहिए। इसीलिए श्रीकृष्ण अर्जुनको उद्‌बोधित करते हुए कहते हैं कि नपुंसक मत बनो, वीर बनो। जिसके मनमें उत्साह होता है, वीरता होती है, वही जीवनमें सफलता प्राप्त करता है।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥

अब आत्मशुद्धि अथवा चित्तशुद्धिके लिए आवश्यकता किस बातकी है, यह देखो। वासनाकी निवृत्तिके लिए उपासना होती है और अज्ञानकी निवृत्तिके लिए ज्ञान होता है। दोनोंका अपना-अपना विषय-विभाग है। जैसे एक रोगके लिए एक ओषधि होती है, दूसरे रोगके लिए दूसरी ओषधि होती है और किसी-किसी रोगके लिए दोनों ओषधियोंका योग होता है। फिर डाक्टर-वैद्य यह देखते हैं कि किस रोगीको कौन-सी ओषधि देनी है या दोनों मिलाकर देनी है; वैसे ही अधिकारके अनुसार आत्मशुद्धि अथवा चित्तशुद्धिके उपायोंका निश्चय करना पड़ता है।

पहले हम आपको भक्तिकी बात सुनाते हैं। वासना उच्छृङ्खल होती है। यदि उसपर कोई रोक-टोक नहीं है तो वह बेधड़क कहीं भी दौड़

जाती है—कभी किसीके धनकी ओर, कभी किसी स्त्री-पुरुषकी ओर, कभी किसीसे मारपीट करनेको ओर और कभी किसीको पकड़ रखनेकी ओर। इस प्रकार वासना अनेक रूप धारण करती रहती है। 'वासना एव संसार:'—वासनाका ही नाम संसार है। किन्तु जब धर्म जीवनमें आता है तब वह वासनाओंको पचास प्रतिशत नियन्त्रित कर देता है। इसी प्रकार जब भक्ति आती है तब वह वासनाओंको निन्यानवे प्रतिशत नियन्त्रित करती है। इसीलिए हमारे मनमें ईश्वरकी वासना और ईश्वरकी उपासना रहनी चाहिए।

यदि जीवनको शुद्ध करना है तो उसकी पहली सीढ़ी है सदाचार और दूसरी सीढ़ी है भक्ति। भक्ति माताकी भी होती है—'मातृदेवो भव' पिताकी भी होती है—'पितृदेवो भव' और आचार्यकी भी होती है—'आचार्यदेवो भव' ( तै० उप० १.११.२ ) देशकी भी भक्ति होती है। परन्तु भक्ति उस एककी होनी चाहिए जो मातामें भी है, पितामें भी है, गुरुमें भी है और देशमें भी है। हमें किसकी भक्ति करनी है यह जाननेके लिए ज्ञानकी आवश्यकता होती है। केवल माला पहनानेका नाम भक्ति नहीं होता। आजकल जो बड़ी-बड़ी कूटनीतिक या राजनीतिक सभाएँ होती हैं और उनमें लोग अपनी ओरसे मालाएँ मँगाकर दूसरोंके हाथमें थमाते हुए कहते हैं कि तुम सभामें पहना देना, उसके पीछे कोई भक्ति-भावना थोड़े ही होती है। यहाँतक कि भगवान्‌के नामका जप भी करो किन्तु मनमें दूसरोंका बुरा सोचो, तो वह भक्ति नहीं होती। भक्तिके लिए भजनीयके सम्बन्धमें निश्चय होना चाहिए कि हमें किसकी भक्ति करनी है। 'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढ: सर्वतोऽधिक:। स्नेहो भक्ति-रितिख्याता तया मुक्तिर्न चान्यथा'। ( ब्रह्मतर्क श्लोक, महाभा० ता० नि० १.८६ में उद्धृत )। जिसकी भक्ति करनी है, उसकी महिमाको पहले जानो और उससे सर्वापेक्षा अधिक स्नेह करो। स्नेह माने हृदयकी द्रुति, हृदयका पिघलना। हमारे हृदयमें कोई कठोरता न रहे। जब हम हाथमें कोई चीज पकड़ते हैं और सोचते हैं कि यह गिर न जाये इसे कोई छीन न ले, तो हमें अपनी मुट्ठी कड़ी रखनी पड़ती है। इसी तरह जब हम अपने दिलमें चाहते हैं कि यह वस्तु हमसे छूट न जाये, गिर न जाये, कोई छीन न ले तो दिलको कड़ा करके उसको पकड़ना पड़ता है। जब भगवान्‌से प्रेम करना होता है तो चित्तमें जो कठोरता

है, उसको मिटाना पड़ता है। उसके लिए चाहिए स्नेह और जिसकी भक्ति करना चाहते हैं, उसकी महिमाका ज्ञान।

अब ज्ञान और भक्तिका अन्तर देखो। ज्ञान तो अपने दुश्मनका भी होता है। आप अपने दुश्मनको जानते हैं कि नहीं जानते? जानते हैं, पर दुश्मनकी भक्ति नहीं करते। यही बात सुरेश्वराचार्यजीने कही कि शत्रुका ज्ञान तो होता है परन्तु शत्रुके प्रति भक्ति नहीं होती। किन्तु जब भलेमानुषका ज्ञान होता है तो हम न चाहें तब भी उसके प्रति पहले कृपाका उदय होता है और फिर श्रद्धा तथा बादमें भक्ति हो जाती है। गीतामें यह बताया है कि भक्ति कैसे होती है?

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥

ईश्वरके बारेमें थोड़ी जानकारी होनी चाहिए। उनके गुणका ज्ञान होना चाहिए। वे सारी सृष्टिके माता-पिता-स्वामी और अन्तर्यामी हैं तथा सबका संचालन वही करते हैं। सबके दिलकी जानते हैं, सर्वज्ञ हैं, सर्वशक्तिमान् हैं और परमकृपालु हैं। जो उनकी भक्ति करता है, उसके हृदयमें आकर बैठ जाते हैं। यदि वह बुरा काम करनेके लिए चले तो इशारा भी करते हैं कि यह काम तुम्हारे करनेका नहीं है। यदि मेरा भक्त कहलाकर तुम बुरा काम करोगे तो केवल तुम्हारी नहीं, मेरी भी बदनामी होगी।

तो, हृदयमें भगवान्को बैठाना अपने सत्कर्मके साथ, सद्भावके साथ जोड़ना—यह भक्तिकी पहली शर्त है। आज सर्वत्र कलियुगका विस्तार है। जहाँ देखो वहीं कलह है—माँ-बेटेमें कलह है, पति-पत्नीमें कलह है, भाई-भाईमें कलह है और मित्रका मित्रके प्रति विश्वास नहीं। आज जो लोग बड़े-से-बड़े स्थानपर बैठे हैं, वे कल कुछ कहते हैं और आज कुछ कहते हैं। ऐसी अनियन्त्रित अनुशासन रहित और धर्महीन प्रवृत्ति क्यों आयी? इसलिए आयी कि हृदयमें ईश्वरका भय नहीं रहा, ईश्वरके प्रति प्रीति नहीं रही, धर्ममें निष्ठा नहीं रही और हृदयमें बैठकर जो हमको रास्तेपर चलानेवाली चीज थी, वह छूट गयी।

तो भक्ति प्रारम्भ होती है तब, जब हम ईश्वरकी महिमाको थोड़ा-

थोड़ा समझने लगते हैं। 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते'—सबके हृदयोंमें अन्तर्यामी रूपसे बैठे हुए भगवान् सबका संचालन कर रहे हैं। जीव और जीवके निवासस्थान अन्तःकरण दोनोंके प्रवर्तक भगवान् ही हैं। 'इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः'—विद्वान् पुरुष यह ज्ञान पहले प्राप्त करते हैं और ज्ञान प्राप्त करके भावसहित भगवान्का भजन करते हैं। यहाँ भगवान्का ज्ञान पहले हुआ और भक्ति बादमें हुई।

अब यही बात लोक-व्यवहारमें देखो। आप किसीके साथ प्रेमसे रहो और उसकी सेवा करो। उससे जितना-जितना आपका प्रेम बढ़ेगा, उसकी जितनी-जितनी सेवा बढ़ेगी, उसका जितना-जितना सान्निध्य प्राप्त होगा, उतना-ही-उतना उसके बारेमें आपका यह ज्ञान बढ़ता जायगा कि इसको कैसे सोना है, इसको क्या खाना है और इसको क्या रुचता है आदि आदि। यह सब दूर रहनेसे पता नहीं चलता, भीतर घुसनेसे पता चलता है। इसलिए यहाँ भक्तिसे ज्ञानकी वृद्धि होती है। स्वयं भगवान् कहते हैं—

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

जब तुम भगवान्की भक्ति करोगे तो भगवान्से तुम्हारी जान-पहचान बढ़ेगी। जितनी-जितनी भगवान्के प्रति प्रीति बढ़ेगी, उतनी ही उतनी भगवान्की जान-पहचान बढ़ेगी। अतः भक्ति भगवान्की भक्तिमें साधन है। वस्तुतः भक्ति और ज्ञान दोनों तत्त्वतः एक दूसरेके मददगार हैं, एक दूसरेके बाधक नहीं हैं। यह जान लेनेके बाद दोनोंका समन्वय अपने आप हो जाता है।

अब देखो समन्वयकी रीति क्या होती है? यही होती है कि यदि भक्ति और ज्ञानका समन्वय करना हो तो पहले दोनोंका यह सामान्य ज्ञान होना चाहिए कि भक्ति क्या है और ज्ञान क्या है, ज्ञानसे भक्ति अलग क्यों है और भक्तिसे ज्ञान अलग क्यों है? दोनोंका अपना-अपना विशेष क्या है? फिर किन-किन विषयोंमें दोनों अलग रहते हैं। पहले दोनोंका सामान्य ज्ञान, फिर दोनोंका विशेष ज्ञान और दोनों कहाँ मिलते हैं, दोनोंमें मतभेद क्या है और मतभेद मिटानेका उपाय क्या है,

किस युक्तसे यह मतभेद मिट जाता है ? इतनी जानकारी होनेके बाद फैसला हो जायेगा। पहले बयानतलफी हुई, उसके बाद फैसला हो गया। इसको संस्कृत भाषामें बोलते हैं 'विषय, संशय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष और सिद्धान्त'। इन पाँच बातोंके विचारसे एक अधिकरणकी निष्पत्ति होती है। एक वस्तुको सिद्ध करनेके लिए हमको किस विषयपर विचार करना है, उसके स्वरूप-संशय क्या हैं, उसमें पूर्वपक्षीका क्या कहना है तथा उत्तरपक्षीका क्या कहना है, मतलब यह कि मुद्दई क्या बोलता है, मुद्दालह क्या बोलता है ? उसमें किस संशयका, किस समस्याका क्या समाधान किया गया है और सारे समाधानपर विचार करके सिद्धान्त बनता है ? यह है समन्वयकी पद्धति।

समन्वय दो तरहका होता है—एक क्रम-समन्वय, दूसरा सम-समन्वय। एक पहले, दूसरा पीछे, सीढ़ी-दर-सीढ़ी—यह क्रम हो गया। ऐसे भी समन्वय होता है कि पहले भक्ति और फिर ज्ञान। गोस्वामी तुलसीदासजीने दोनोंका बहुत अच्छा समन्वय किया है—

भरि लोचन बिलोकि अवधेसा। तब सुनिहौं निरगुन उपदेसा॥
जाने बिनु न होय परतीती। बिनु परतीति होय नहिं प्रीती॥
प्रीति बिना नहि भगति दृढाई। जिमि खगेस जलकी चिकनाई॥

एक बात यह है कि ज्ञानसे भक्ति होती है, दूसरी बात यह है कि दोनों साथ-ही-साथ रहते हैं।

दुनियामें जितना भी दुःख है, स्वार्थकी प्रवृत्ति है, भोगमें आसक्ति है, यह सब क्यों है ? ऐश्वर्यके लिए, हकूमतके लिए, कुर्सीपर बैठनेके लिए जो अनुचित आचरण है उसका कारण क्या है ? यही कारण है कि लोग भगवान्से, वेदशास्त्रसे विमुख हो गये हैं और उनके हृदयोंमें धर्मकी प्रतिष्ठा नहीं है। संसारके सारे दोष-दुःख ईश्वर और धर्मसे विमुखताके कारण ही होते हैं।

इसलिए आओ गीताके मैदानमें। आपके ध्यानमें यह बात होगी कि उपनिषदोंको आरण्यक बोलते हैं, इसलिए कि वे अरण्यभूमिमें उपजते हैं। गंगाका किनारा हो, पहाड़ हो, जंगल हो, बड़े-बड़े अनुभवी पुराने महात्मा हों और उनके सामने श्रद्धावनत जिज्ञासु बैठकर पूछ रहा हो तथा केवल पूछ ही नहीं रहा हो समझ भी रहा हो, उस

अरण्यभूमिमें उपनिषदोंका जन्म होता है। स्वयं वेदमें ऐसा कहा गया है—

अपह्वरे गिरीणां संगथे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत॥
(ऋग्वेद ८.६.२८)

परन्तु गीता अरण्य-भूमिमें नहीं, रणभूमिमें निकलती है, विलक्षण है। कहाँ जंगल, कहाँ गंगाका किनारा, कहाँ पर्णकुटीर, कहाँ ऋषि-महात्मा, कहाँ जिज्ञासु और कहाँ रणभूमि? रणभूमि भी कैसी? 'प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते'—दोनों ओरसे हथियार चलने ही वाले हैं। एक दूसरेके सम्मुख मृत्यु है, संघर्ष है, वैमनस्य है, कटुता है। ऐसी रणभूमिमें गीताका अवतरण होता है।

दूसरी विलक्षणता देखो। हर जगह परम्परा है कि वक्ता गुरु होता है, ऊँचे सिंहासनपर बैठता है, श्रोता नीचे बैठता है और बड़ी श्रद्धाके साथ श्रवण करता है। यहाँ श्रोता अर्जुन तो रथी है और वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण सारथि हैं। इसका अर्थ यह निकलता है कि यदि तुम छोटेके मुँहसे भी गीता सुन लो तो तुम्हारा काम बन जायेगा। देखो सञ्जय भी तो धृतराष्ट्रसे बहुत छोटे हैं। वह भी राजपुत्र नहीं, सूतपुत्र हैं। धृतराष्ट्रके नौकर हैं। लेकिन सञ्जय उनको गीता सुनाते हैं। कितना अद्भुत है। कहाँ अरण्यभूमि, कहाँ रणभूमि, कहाँ शान्ति और कहाँ शस्त्रसंपात। कहाँ बड़े-बड़े विद्वान् ऋषि-महर्षि, कहाँ हिनहिनाते चञ्चल घोड़ोंकी बागडोर सँभाले सारथि। इस प्रकार गीता हमारे व्यवहारको भूमिमें आयी है।

और भी अन्तर देखो। मीमांसा शास्त्र यज्ञशालामें होनेवाले धर्मका विचार करता है कि वेदी कैसे बनायी जाये, देवताका आवाहन कैसे हो और मन्त्र कैसे पढ़ा जाये। परलोक-प्रधान धर्मका निरूपण करती है मीमांसा, अन्य धर्मशास्त्र भी यही करते हैं, किन्तु गीता हमारा जो दैनिक कर्तव्य है, हमें अपने जीवनमें जो करना-धरना है उसका निरूपण करती है।

अब भक्तिकी बात लो। भक्तिका अवतरण कहाँ होता है? जहाँ बड़ा छोटा हो जाता है। भक्ति गंगा है; जो हिमालयके उत्तुङ्ग शिखरसे आकर नीचे मैदानमें गिरती है, इसलिए भक्ति भी विनम्रका ही वरण

करती है। भगवान्की कृपा विनयीको ही प्राप्त होती है। यहाँ भी भगवान्की कृपालुताका अवलोकन करो। वे अर्जुनके सारथि बन गये—

**सारथि ह्वै अर्जुन रथ हाँक्यौ।**

किसी भक्तने पूछा कि भगवान् सच्चे सारथि बने हो कि झूठे ? बोले कि नहीं, मैं सच्चा सारथि हूँ। मैंने जो पार्ट लिया है, जो नाटक कर रहा हूँ, उसमें कोई त्रुटि नहीं होने पायेगी। और, सचमुच जब रथी अर्जुनने आज्ञा की कि—'सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत'—दोनों सेनाके बीचमें हमारा रथ ले चलो, तब सारथि श्रीकृष्णने, जैसे जी हजूर जो आज्ञा बोलते हैं, वैसे ही रथको दोनों सेनाओंके मध्यमें ले जाकर खड़ा कर दिया। अर्जुनने सोचा कि अरे ये श्रीकृष्ण, जिनको लोग भगवान् कहते हैं हमारी आज्ञाका पालन करते हैं। इनके अन्दर तो अभिमानका लेश भी नहीं। ये अभिमानी होते तो कहते कि चलो हटो, तुम कौन होते हो आज्ञा देनेवाले। लेकिन भगवान् भक्तकी आज्ञाका पालन करते हैं। जब भक्तको इस माहात्म्यका ज्ञान होता है तब उसके हृदयमें भगवान्के प्रति भक्ति आती है और बढ़ती है। और भगवान्की कृपा देखो। जब, अर्जुनका उत्साह भङ्ग होने लगता है तब वे उसके भीतर पुरुषोचित उत्साह भरते हैं। इसलिए कि 'युवा: आशिष्ठो दृढिष्ठो बलिष्ठः (तै. उप. २.८.१)। जवान आदमीके जीवनमें उत्साह चाहिए। उसे यह आशा होनी चाहिए कि सफलता मिलेगी और आशाके साथ उसको अपने साधनमें दृढ़ होना चाहिए। मनुष्यके जीवनमें उत्साह हो, सफलताकी आशा हो और वह अपने इष्टदेवसे जुड़ जाये, फिर सफलता-ही-सफलता है।

गीताकी भक्ति बड़ी विलक्षण है। उसमें भक्ति शब्दके प्रयोग अनेकार्थवाची हुए हैं। गीतामें इसकी चर्चा कहीं नहीं है कि उसकी वेशभूषा कैसी होनी चाहिए ? उसे तुलसीकी माला पहननी चाहिए या रुद्राक्षकी ? उसको सफेद कपड़ा पहनना चाहिए या लाल-पीला-काषाय पहनना चाहिए ? उसे चन्दन आड़ा लगाना चाहिए या खड़ा लगाना चाहिए ? किस ढंगका नाम रखना चाहिए, इसका भी निर्देश गीतामें नहीं है। गीता तो भक्तिको नामरूपात्मिका न मानकर हृदयकी वृत्ति मानती है। उसकी दृष्टिमें भक्ति हृदयकी एक खास बनावटका नाम है। जैसे रोगकी निवृत्तिके लिए रसायन होता है, वैसे ही हमारे हृद्रोगोंका निवारण करनेके लिए भक्ति रसायन है। लोगोंका दिल कानून बनाकर

बदला नहीं जा सकता, लेकिन उसमें भगवान्की भक्ति भरकर बदला जा सकता है। भक्तिसे हृदयका निर्माण होता है। और भी देखो—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

यहाँ 'मानवः' शब्दपर ध्यान दो, जिसका अर्थ है मनुष्यमात्र। इसमें न तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रका भेद है और न हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदिका। इसमें स्वदेशी, विदेशी, भाषा, जाति, राष्ट्र किसीका भेद नहीं है। सिद्धि अथवा भक्ति मनुष्य मात्रके लिए है। जो भी ईश्वरसे पैदा हुआ है और जिसके भी स्वामी ईश्वर हैं, वह अपने माता-पिता और स्वामीकी सेवा करनेका अधिकारी है। यहाँ तक कि वेश्यापुत्र भी यदि श्रद्धा-भक्तिसे अपनी माताकी सेवा करेगा तो उसको वही फल मिलेगा, जो एक पवित्रात्माको अपनी माताकी सेवा करनेसे मिलता है। मतलब वेश्यासे नहीं, पुत्रके हृदयकी श्रद्धा-भक्तिसे है। कोई भी मनुष्य, चाहे वह किसी भी देश, किसी भी जाति अथवा किसी भी लिंगमें पैदा हुआ हो, भक्तिका अधिकारी है।

अब भक्ति की कैसे जाये? कौन-सा काम करें, जो भक्ति हो? मन्दिरमें बैठें, आँख बन्द करें या पीठकी रीढ़ सीधी करें? भक्ति कैसे हो? इसका उत्तर स्वयं श्रीकृष्ण दे रहे हैं कि—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।

तुम जो काम कर रहे हो, उस कामके द्वारा यह देखो कि भगवान्की अभ्यर्चा हो रही है या नहीं? झाड़ू लगाते हो तो उससे भी सेवा होती है, भक्ति होती है। इस रास्तेसे हमारे गुरुदेव निकलते हैं, हमारे पतिदेव निकलते हैं अथवा वे जब घर पधारें तो उनको कोई गंदी चीज नहीं दीखनी चाहिए, हमारा घर मन्दिर है, इसमें भगवान्का निवास है, यह साफ सुथरा रहना चाहिए। यह सेवा है, भक्ति है। इसी तरह उनके लिए उनकी अपेक्षित वस्तु उपस्थित करना भी सेवा-भक्ति है, पहरा देना भी सेवा-भक्ति है, उनको कुछ पढ़कर सुनाना भी सेवा-भक्ति है। मतलब यह कि श्रद्धेयको जैसे सुख पहुँचे, वैसा करना सेवा-भक्ति है। इसलिए आप जो भी काम कर रहे हैं, उसमें यह ध्यान रखिये कि यह ईश्वरकी दृष्टिसे हो रहा है या नहीं। कहीं वह व्यक्तिगत सुख-स्वार्थके लिए, पारिवारिक सुख-स्वार्थके लिए, जातिगत सुखस्वार्थके

लिए तो नहीं हो रहा है? आपका काम उस प्रभुकी सेवाके लिए होना चाहिए जो सबमें एक है। भक्तिमें तो प्रभुका अनुरोध है—'जा भेसां म्हारा साइँ रीझे सोई भेस धरूंगी'।

भक्ति ऐसी ही होती है। मजहबमें दूसरोंका विरोध होता है, भक्तिमें भगवान्का अनुरोध होता है। योगमें वृत्तिका निरोध होता है, ज्ञानमें अविरोध होता है। ज्ञानमें किसीका विरोध नहीं है, उसका हाथ सबके सिरपर है। ज्ञानके बिना कर्म भी नहीं, ज्ञानके बिना योग भी नहीं। वह सबमें रहकर भी सबसे निराला रहता है। इसलिए मनुष्यको सतत सावधान रहकर यह देखना चाहिए कि वह जो भी काम कर रहा है, किसके लिए कर रहा है? सर्वात्मा प्रभुकी सेवाके लिए कर रहा है या नहीं। यदि कर रहा है तो यही भगवद्भक्ति है।

अब जिनकी भक्ति हम कर रहे हैं वे मिलते कहाँ हैं, यह देखो। गीता कहती है—'अतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्'। गीतामें ईश्वर वैकुण्ठवासी नहीं है। गीतामें वैकुण्ठका तो नाम ही नहीं है, गोलोकका भी नहीं है, साकेतका भी नहीं है। वहाँ केवल भगवान्का नाम है, किन्तु सीधे नहीं 'माम्, अहम्, मया, मह्यम्, मत्, मयि आदि शब्दोंके माध्यमसे है। इनसे सिद्ध है कि भगवान् हैं, परन्तु वे किस खास जगहमें रहते हैं, यह नहीं है। वे किसी खास समयमें रहते हैं, यह भी नहीं है और किसी खास रूपमें रहते हैं, यह भी नहीं है, लेकिन गीतामें भगवान् हैं—यह आप देख लो।

'यतः प्रवृत्तिर्भूतानाम्'—जिसकी वजहसे हमारी आँखें देखती हैं, नाक सूँघती है, जीभ बोलती है, हमारे कान सुनते हैं, हाथ काम करते हैं, पाँव चलते हैं, दिलमें प्यार आता है, बुद्धिमें विचार आता है, वह भगवान् हैं। हमारे और सबके जीवनमें जितनी भी प्रवृत्तियाँ हैं, उनका मूल उत्स, मूल उद्गम भगवान् ही है। उपनिषदोंमें उसीको बोलते हैं—'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्, चक्षुषः चक्षुः, मनसो मनः।' (केन उप० १.२) वह हमारी आँखकी आँख है, हमारे मनका मन है, हमारी वाणीकी वाणी है। सबका संचालन वही करता है। उसकी सत्ताके बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता।

'येन सर्वमिदं ततम्'—जैसे कपड़ेमें सूत होता है, वैसे ही इस

संसारका ताना और बाना दोनों भगवान् ही हैं। आप भगवान्के इस स्वरूपको देखोगे तो आपको ज्ञानका कहीं भी विरोध नहीं मिलेगा। भगवान् सर्वात्मा हैं और भक्ति उस सर्वात्मा भगवान्की है। जब आप भगवान्को किसी एक कोनेमें बिठा दोगे तो उसकी भक्तिमें कहीं ज्ञानका विरोध आ सकता है। जब आपको छोटी चीजका ज्ञान होगा, पूर्णताका ज्ञान नहीं होगा तब वह भक्तिके विरुद्ध पड़ जायेगा। ज्ञान छोटा होगा तो भक्तिका विरोध करेगा और भगवान्को छोटी जगहमें बाँधोगे तो ज्ञानका विरोध हो जायेगा। इसलिए 'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्'—यह तो हुआ ज्ञान और 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य'—यह हुई भक्ति। इससे मिलेगा क्या? सिद्धि मिलेगी। किसको मिलेगी? मनुष्यको मिलेगी।

अब देखो, एक ज्ञान ऐसा होता है जो भक्तिका मददगार होता है। जितना-जितना भगवान्को जानोगे उतना-उतना भगवान्से प्रेम बढ़ता जायेगा। एक भक्ति ऐसी होती है जो ज्ञानकी सहायक होती है। जितनी-जितनी भगवान्की भक्ति करोगे, उतना-उतना ही भगवान्के बारेमें जानकारी बढ़ती जायेगी। एक ज्ञान ऐसा होता है जिससे भक्ति अभिन्न होती है। एक भक्ति ऐसी होती है जिससे ज्ञान अभिन्न होता है। इससे क्या तात्पर्य निकला? यही निकला कि भगवान् एक वस्तु है। उसका केवल ज्ञान रक्खें, भक्ति न करें तो ज्ञान पूर्ण नहीं रहता छोटा हो जाता है। इसी तरह उसके प्रति केवल भक्ति करें, उसका ज्ञान न रक्खें तो भक्ति अधूरी रह जाती है। इसलिए भगवान् भक्ति और ज्ञान दोनोंका लक्ष्य है। उसको प्राप्त करने, उसतक पहुँचनेके लिए भक्ति और ज्ञान ये दो मार्ग हैं।

एक बार किसीने श्री उड़िया बाबाजीसे पूछा कि महाराज, भक्ति बड़ी है कि ज्ञान बड़ा है? बाबा बोले कि भक्ति बड़ी है। पूछनेवाला वेदान्ती था। उसने कहा कि महाराज, आपने भक्तिको तो बड़ी कर दिया, ज्ञान क्या उससे छोटा है? बाबा बोले कि बेटा ज्ञानमें छोटे-बड़ेका भेद नहीं होता। भक्ति सबसे बड़ी है। पूछनेवालेने कहा कि महाराज भक्ति सबसे बड़ी है, हम मान लेते हैं। किन्तु भक्तिसे भी कुछ बड़ा होता होगा? बाबा बोले कि हाँ होता है और वह होता है भगवान्। जिनकी भक्ति की जाती है, वे भक्तिके आराध्य हैं, पूजनीय हैं,

भजनीय हैं। इसलिए सबसे बड़ी भक्ति और भक्तिसे बड़े भगवान्। ज्ञानसे बड़ी भक्ति और भक्तिसे बड़ा ज्ञान। ये दोनों परस्पर मिलकर चलते हैं।

अब एक दूसरी बात देखो। भक्त लोग जिस ज्ञान शब्दका प्रयोग करते हैं, उसका मतलब ईश्वरके ज्ञानसे होता है। जो ईश्वर सृष्टिका कर्ता है, भर्ता है, हर्ता है, सर्वज्ञ है, सर्वान्तर्यामी है, परम दयालु है, भक्तका पक्षपाती है, उसके ज्ञानको भक्तलोग ज्ञान कहते हैं। वह ज्ञान भक्तिका मददगार होता है। किन्तु निर्गुणिया लोग अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अरस, अगन्ध, अह्रस्व, अदीर्घ, अनघ परमात्माके ज्ञानको ज्ञान कहते हैं। उनका परमात्मा निर्गुण है, निर्विशेष है, निर्धर्मक है, इसलिए वह ज्ञान भक्तिमें उपयोगी नहीं होता। भक्त लोग ज्ञान शब्दका प्रयोग करते हैं सगुण परमेश्वरके ज्ञानके अर्थमें और अद्वैत वेदान्ती ज्ञान शब्दका प्रयोग करते हैं आत्मा और ब्रह्मकी एकताके अर्थमें। वे निर्विशेष ज्ञानको ज्ञान कहते हैं। दोनोंके शब्दार्थमें भेद है।

देखो भाई, यदि आपको मुक्ति चाहिए तब तो वह निर्विशेष ज्ञानके बिना, निर्धर्मक ज्ञानके बिना नहीं होती—'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।' मुक्ति देनेमें ज्ञान परम स्वतन्त्र है। किन्तु जहाँ सगुणका ज्ञान, सगुणका दर्शन, सगुणका साक्षात्कार प्राप्त करना है वहाँ भक्ति ही स्वतन्त्र है। निर्गुण ज्ञान भक्तिमें उपयोगी नहीं है। सगुण ज्ञानसे ही भक्ति होती है। निर्गुण ज्ञान परम स्वतन्त्र है। वह बिना कर्मके, बिना उपासनाके, बिना योगके मुक्ति देनेमें समर्थ है। तब ? दोनोंका विषय अलग हो गया।

अब देखो दोनोंको अलग-अलग। जिसका हृदय कोमल है, जो भगवान्का नाम सुनकर, रूप सुनकर, गुणानुवाद सुनकर, सौन्दर्य-माधुर्य सुनकर पिघल जाता है, जिसके हृदयमें भगवान्-ही-भगवान् दीखने लगते हैं, जिसको रोमांच हो रहा है, जिसकी आँखोंमें आँसू आ रहे हैं, जिसका कण्ठ गद्‌गद हो रहा है, जो भगवान्की भक्तिमें मस्त हो रहा है, वह चाहे स्त्री हो या पुरुष, उसको भक्तिके मार्गसे हो चलना चाहिए। किन्तु जिसका हृदय भगवान्का नाम सुनकर, गुण सुनकर, सौन्दर्य माधुर्य सुनकर भी द्रवित नहीं होता, कण्ठ गद्‌गद नहीं होता, वह अद्रुतचित्त अधिकारी है ज्ञानका, उसके लिए ज्ञानका ही मार्ग होता है।

अब जिसमें ये दोनों हों, वह क्या करे ? यह करे कि भक्ति भी करता चले और ज्ञानकी प्राप्तिका प्रयास भी करता रहे। सगुण ईश्वरकी प्राप्तिमें भक्ति स्वतन्त्र है—'भक्ति सुतन्त्र सकल गुनखानी' और निर्गुण निर्विशेष निर्धर्मक परमात्माकी प्राप्तिमें भक्ति अन्तःकरणको शुद्ध करती है और भक्तिकी प्राप्तिमें ज्ञान भजनीयके स्वरूपको प्रकट करता है। इसलिए दोनों अपने-अपने विषयमें स्वतन्त्र हैं।

अब एक और बात आपको सुनाता हूँ। जो शमदमादिसे सम्पन्न और विचारमें निपुण होता है, वह तत्त्वज्ञानका अधिकारी होता है। किन्तु जो श्रद्धालु होता है वह भक्तिका अधिकारी होता है। भक्तिमें बार-बार इष्टाकार वृत्ति दोहरायी जाती है और तत्त्वज्ञानमें जहाँ ठीक-ठीक प्रमा हुई वहाँ अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है। एक ही चोटमें अज्ञानकी निवृत्ति होती है।

तो ज्ञानका फल है भक्ति, भक्तिका फल है अपने इष्टदेवकी प्राप्ति। बारम्बार प्रेमसे भगवदाकार वृत्तिको दोहराना है—उसका स्वरूप और श्रद्धा है उसका मूल। तत्त्वज्ञानमें शम-दमादि सम्पन्न व्यक्तिकी प्रमा-मूलक प्रवृत्ति है और वस्तुका यथार्थ ज्ञान प्रमा है। प्रमा हो जानेके पश्चात् अज्ञानकी निवृत्ति मोक्ष है। परन्तु दोनों दोनोंमें मददगार हैं। यदि आपको भगवान्‌के मार्गमें चलना है तो आप बिना भक्तिके नहीं चल चकेंगे और यदि आप भगवान्‌को जानेंगे नहीं, तो भक्ति किसकी करेंगे ? इसीलिए गीतामें भगवान् कहते हैं कि तुम भक्ति करोगे तो तुम्हें बुद्धियोग मिलेगा—

> मच्चिता मद्‌गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
> कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
> तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
> ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
> तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
> नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥

इसका तात्पर्य यह है कि अपना प्यार और अपना विचार मुझे दे दो। मेरे लिए जीओ। एक दूसरेको समझो और समझाओ, मेरी चर्चा

सुनो और सुनाओ और उसमें सन्तोष मानो, उसमें रम जाओ। ऐसे ही लोगों पर कृपा करनेके लिए मैं उन्हें बुद्धियोग देता हूँ और परम प्रकाशवान, भासमान ज्ञानदीप ले करके उनके अज्ञानान्धकारको दूर कर देता हूँ।

यह देखो भक्तिका परिणाम। करोगे भक्ति और मिलेगा ज्ञान। मच्चित्त होनेसे बुद्धियोग मिलता है और बुद्धियोग होनेसे मच्चित्तता आती है। भगवान् यहाँ तो कहते हैं कि–'मच्चित्ता मद्गतप्राणा, ददामि बुद्धियोगं तं'—अर्थात् तुम मन लगाओ मुझमें और मैं तुमको देता हूँ बुद्धियाग। किन्तु दूसरी जगह गीतामें ही बोलते हैं कि 'बुद्धियोगमुपाश्रित्य, मच्चित्तः सततं भव'। अर्थात् पहले समझदार बनो, बुद्धियोग करो, तब तुम्हारा मन मुझमें लग जायेगा। मुझमें मन लगाओगे तो मुझको समझोगे और मुझको समझोगे तो मुझमें मन लगेगा।

अब गीताके संवाद देखो—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात् परां शान्ति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्‌गुह्यतरं मया।

इसका नाम है ज्ञान और उसके बाद है भक्ति—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेकं शरणं व्रज, अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि।

गीतामें अर्जुन भक्त है कि ज्ञानी है—यह बात रहने दो। श्रीकृष्णने अर्जुनसे पूछा कि 'कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय'—अर्जुन क्या तुम्हारा अज्ञान नष्ट हुआ ? अर्जुनने उत्तर दिया कि हाँ तुम्हारी कृपासे 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा'—मेरा मोह नष्ट हो गया और स्मृति मिल गयी। फिर करोगे क्या ? 'करिष्ये वचनं तव'—तुम्हारी आज्ञाका पालन करूँगा। यहाँ भक्ति आगयी।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

: २ :

अम्ब त्वामनुसन्दधामि भगववद्गीते भवद्वेषिणीम् ।

उपनिषदोंमें भी ज्ञान और भक्तिका वर्णन है, परन्तु वहाँ अधिकारी होनेकी शर्त है—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो
निर्वेद मायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥
मुण्डको० १.२.१२

शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः श्रद्धावित्तो भूत्वा ।
माध्यन्दिन शतपथ ७.२.२८

तात्पर्य यह कि ज्ञान-भक्तिका अधिकारी वह है जो शान्त हो, दान्त हो, उपरत हो, तितिक्षु हो, समाहित हो और श्रद्धाकी पूँजी लेकर आत्मदर्शन करनेके लिए चले, किन्तु गीताने तो ज्ञानको अरण्यभूमिसे रणभूमिमें पहुँचा दिया; ऋषि-महर्षि विरक्त वक्ताओंसे उठाकर एक सारथिको, एक सूतपुत्रको ज्ञानका उपदेशक बना दिया और शान्त, दान्त, उपरत श्रोताओंकी जगह एक शोक-मोहसे ग्रस्त अन्धे धृतराष्ट्रको श्रवणका अधिकारी बना दिया। इसका अर्थ है कि गीता पिछड़े हुए लोगोंका ज्यादा ध्यान रखती है। जिनके पास कोई सम्बल नहीं, कोई साधन नहीं, उनके लिए गीता माता अवतीर्ण हुई है। जैसे एक मित्र

अपने मित्रको अपना हृदय दान करता है, वैसे ही भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको अपना हृदय दान करते हैं, क्योंकि जैसा पहले बताया जा चुका है, गीता भगवान्का हृदय है—'गीता मे हृदयं पार्थ' और उस हृदयमें भरी है करुणा। इसीलिए गीतामें ज्ञानी होनेके लिए किसी खास अधिकारकी आवश्यकता नहीं। जैसा भक्तिका अधिकारी है, वैसा ही ज्ञानका भी अधिकारी है। इस दृष्टिसे गीता अपूर्व है।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥

प्रसंगानुसार कभी-कभी एक ही बातको अनेक बार कहना पड़ता है। इस श्लोककी चर्चा पहले की जा चुकी है। परन्तु यह इतना महत्त्व-पूर्ण है कि इसको बार-बार सुननेसे भी श्रोताओंको लाभ ही होगा। इसका अर्थ यह है कि दुनियामें जितने भी पापी हैं, चाहे वे पापकृत् हों, पापकृत्तर हों, पापकृत्तम हों, उन सबको इकट्ठा करो और उनमें सबसे बड़े पापीको छाँट लो। उसको हमारा आमन्त्रण है कि वह आवें और हमारे ज्ञानकी नावपर बैठ जायँ। फिर क्या होगा? यही होगा कि वह 'सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि—सम्यक् संतरिष्यसि केवलं ज्ञानप्लवेनैव'। बिना किसी योगाभ्यासके 'योगादि-अनपेक्षम्' और बिना किसी अन्य साधनाके। भगवान्को इस आश्वासन-वाणीमें जो 'एव' है वह अन्य साधनोंकी व्यावृत्तिके लिए है। उनकी दृष्टिमें मनुष्यका यह सोचना कि ज्ञानके लिए बड़े भारी साधनकी आवश्यकता है, ठीक नहीं है। इसीलिए वे कहते हैं कि आओ, हमारी नावपर बैठो। यदि तुम्हारी जाति हीन है, तुम आचरणहीन हो, ज्ञानहीन हो तो क्या हुआ? आओ तुम्हारे लिए भी इस ज्ञाननौकापर बैठने और संसार-सागरसे तरनेकी इजाजत है। तुम अपने पाप-तापसे डरो मत। अपनी हीन जातिसे, अपने भ्रष्ट जीवनसे डरो मत। आओ हमारे पास आजाओ। तुम्हारे सब पाप-ताप नीचे रह जायेंगे और तुम इस नौकासे पार हो जाओगे।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

देखो, कभी-कभी मनुष्यके पाँव फिसल जाते हैं। ऐसा कौन है, जो रास्तेमें चलता रहे और उसके पाँव फिसल न जायें, कभी कीचड़में न जायें? पाँव तो ब्रह्माके भी फिसल जाते हैं, इन्द्रके भी फिसल जाते हैं। पाँव फिसल जाना अपराध नहीं है, गिर जाना भी अपराध नहीं है; अपराध है फिसलकर, गिरकर फिर न उठना और आगे न बढ़ना। इसलिए फिसलनेके बाद, गिरनेके बाद उठे तो फिर पाँव आगेकी ओर ही बढ़ें, पीछेकी ओर न लौटे। यदि आप आगेकी ओर बढ़ते जा रहे हैं तो आपके पीछेके सब पाप-ताप नष्ट होते जा रहे हैं और प्रतिक्षण पिछले कर्मोंका नाश होता जा रहा है। इसलिए श्रीकृष्ण कहते हैं कि बड़े-से-बड़ा दुराचारी भी यदि अनन्य भावसे मेरा भजन करता है तो उसे तुम साधु ही समझो, क्योंकि वह भजनके प्रभावसे जल्दी ही महात्मा हो जायेगा। इससे बढ़कर कोई आश्वासन और क्या हो सकता है?

देखो, भागवतमें गोपियोंका ऐसा वर्णन किया है कि उसे पढ़-सुनकर जो गोपियोंके भक्त हैं, वे व्याकुल हो जाते हैं—

क्वेमाः स्त्रियो वनचरीर्व्यभिचारदुष्टाः
कृष्णे क्व चैष परमात्मनि रूढभावः।
नन्वीश्वरोऽनुभजतोऽविदुषोऽपि साक्षा—
च्छ्रेयस्तनोत्यगदराज इवोपयुक्तः॥
—श्रीमद्भा० १०.४७.५९

श्रीधर स्वामीने इसकी तीन व्याख्या की है। गोपियाँ जातिहीन हैं, आचारहीन हैं, ज्ञानहीन हैं, परन्तु उनके हृदयमें भगवान्‌का प्रेम है। यदि कोई अनजानमें भी अमृत पीले तो वह अमर हो जायेगा। अनजानेमें भी उसके हृदयमें भगवान्‌की भक्ति आजाये तो वह अमर हो जायेगा। भगवान्‌की भक्ति ऐसी है जो पीछे छूट जानेवालेको आगे बढ़ाती है, गिरे हुएको ऊपर उठा लेती है, मूर्खको विद्वान् बना देती है, आचारहीनको पवित्रतम कर देती है और पतितसे पतितको चुटको बजाते धर्मात्मा बना देती है—'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा।' गीताकी भक्ति और गीताका ज्ञान दोनों पतितपावन हैं।

अब आपको एक विचारकी बात सुनाते हैं। आपने कभी ध्यान दिया है कि आप क्या चाहते हैं? अद्भुत बात है आपके जीवनमें कि

आप चाहते हैं कुछ किन्तु प्रयास करते हैं किसी औरके लिए। निस्सन्देह आप चाहते सुख हैं। कोई भी प्राणी ऐसा नहीं, जो सुखको न चाहता हो। 'सुखं मे भूयात् दुःखम् मे माभूत'—सब प्राणियोंकी यह स्वाभाविक लालसा होती है कि हमको सुख हो, दुःख न हो। इसलिए एक चीज ऐसी हुई जिसको सब चाहते हैं। किन्तु अब आप देखिये कि आपको सुख किस समय मिलना चाहिए? सब समय मिलना चाहिए या किसी अवसर-विशेषपर मिलना चाहिए? आपको कहाँ-कहाँ सुख मिलना चाहिए? आप किस-किससे सुख चाहते हैं? पराधीन सुख चाहते हैं या स्वाधीन सुख चाहते हैं? अवश्य ही आप ऐसा सुख चाहते हैं जो सब समय हो, सबमें हो, सब जगह हो, स्वाधीन हो, मालूम पड़ता हुआ हो, सबसे मिलनेवाला हो, बिना श्रमका सिद्ध सुख हो और ज्ञानस्वरूप हो। अब आप इन सब बातोंको ध्यानमें रखिये, आपकी चाहमें ये सब बातें हैं कि नहीं? यदि हैं, तो भाई मेरे, ऐसे सुखका नाम केवल ईश्वर हो सकता है।

अब यह निश्चय हो गया कि आप उस सुख-स्वरूप परमेश्वरको ही चाहते हैं। परन्तु यह भी तो देखिये कि आप उसको ढूँढ़ने कहाँ जाते हैं? आप तो 'अनित्यमसुखं लोकम्'—अनित्यमें नित्यको ढूँढ़ने जाते हैं, जड़में चेतनको ढूँढ़ने जाते हैं और दुःखमें सुखको ढूँढ़ने जाते हैं। जहाँ जो चीज है, वहाँ उस चीजको न ढूँढ़कर दूसरी-दूसरी जगह भटकते फिरते हैं। इसलिए पहले आप उसका ज्ञान प्राप्त कीजिये, उसको पहचानिये फिर भी वह आपको मिलता नहीं है तो भी बड़ी श्रद्धासे बड़ी रुचिके साथ उसको ढूँढ़िये। जो चीज दीखती नहीं, उसको ढूँढ़ना हो तो उसके लिए श्रद्धा चाहिए, रुचि चाहिए और लगन चाहिए। इन तीनोंको एकमें मिला दोगे तो उसका नाम होगा भक्ति। अपनी किसी भी प्रिय परोक्ष वस्तुको प्राप्त करनेके लिए श्रद्धा, रुचि और लगन; इन तीनोंका आश्रय ग्रहण करना अनिवार्य है। इसीलिए गीता कहती है—'श्रद्धवाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।'

अब आओ कुछ निर्गुण सगुणकी चर्चा करें। यह बात आप बराबर ध्यानमें रखिये कि आप ईश्वरको चाहते हैं—'बिनु देखे रघुवीर पद जियकी जरनि न जाय।' जबतक आप भगवान्के पास नहीं पहुँचोगे तबतक आपके हृदयमें जो आग लग रही है, वह बुझेगी नहीं।

शङ्कराचार्य भगवान्से किसीने पूछा कि आप ज्ञानकी बड़ी महिमा बताते हैं, किन्तु क्या इससे हमारे जीवनमें भी कुछ मिलेगा या केवल बात-ही-बात रह जायेगी ? श्री शङ्कराचार्यने उत्तर दिया कि ज्ञानसे तुम्हारे राग-द्वेषकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जायेगी। दुनियामें किसीके प्रति राग न हो, द्वेष न हो, पक्षपात न हो, क्रूरता न हो, किसीके लिए बेईमानी न हो और किसीकी हिंसा न हो, तो इससे बढ़कर दूसरी उपलब्धि और क्या होगी ? इसलिए आप ज्ञानके मार्गमें आओ।

अब देखो गीतामें भगवान् एक जगह तो कहते हैं कि तुम भक्ति करो मेरी और तुम्हें मिलेगा ब्रह्म तथा दूसरी जगह कहते हैं कि तुम ब्रह्मका करो चिन्तन और तुम्हें मिलूँगा मैं—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

जो अव्यभिचारी भक्तियोगसे मेरी भक्ति करता है, वह गुणातीत होकर ब्रह्म हो जाता है। भक्ति करेगा भगवान्की और हो जायेगा ब्रह्म और भक्ति करेगा ब्रह्मकी, उपासना करेगा ब्रह्मका, चिन्तन करेगा ब्रह्मका और मिल जायेंगे भगवान्।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥

जो अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वत्र, अगम, अचिन्त्य, अचल, ध्रुवकी उपासना करते हैं तथा जो समबुद्धि हैं और 'सर्वभूतहिते रताः' हैं उनको मेरी प्राप्ति होगी। कितना अद्भुत है कि जिसका ज्ञान होता है, उसीकी भक्ति होती है।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः॥

भगवान्में मनको लगाओ 'मच्चिता मद्गतप्राणाः' हो जाओ, भगवान् तुम्हें बुद्धियोग देंगे। फिर कहते हैं—

बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव।

लो बुद्धियोग और मन लगाओ मुझमें। कहनेका अभिप्राय यह है कि जहाँ लक्ष्यपर दृष्टि है, वहाँ ज्ञानके रास्तेसे चलो चाहे भक्तिके रास्तेसे चलो, जबतक आपको अपने लक्ष्यकी प्राप्ति नहीं होती, तबतक आप बीचमें नहीं बैठ सकते। यदि आप लक्ष्यके पक्के हैं तो जबतक आपका तीर लक्ष्यमें नहीं लगे तबतक 'अप्रमत्तेन वेद्धव्यम्' प्रमाद नहीं करना और बीचमें फँसना नहीं।

अब इन दोनोंकी बात आपको सुनाता हूँ। यह जो ज्ञान और भक्ति शब्दोंका प्रयोग होता है इनके अर्थ भी जुदा-जुदा होते हैं। उदाहरणके तौरपर देखिये, गीताके एक श्लोकमें जहाँ भगवान्‌को ज्ञानस्वरूप बतलाया है, वहीं ज्ञानगम्य भी बताया है—

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।

यह ब्रह्मका वर्णन है। वह ज्ञानस्वरूप है और ज्ञानसे ही जाना जाता है। मतलब यह कि उनके मिलनेका साधन भी ज्ञान ही है और वह स्वयं भी ज्ञानस्वरूप है। अब यहाँ ज्ञान दो हो गये—एक साधन ज्ञान हो गया और दूसरा परमात्माका स्वरूप ज्ञान हो गया। इसको समझना पड़ता है कि कहाँ साधन ज्ञानका वर्णन है और कहाँ परमात्मस्वरूप ज्ञानका वर्णन है।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया।
× × ×
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोन्यथा॥

जीवनमें अभिमान नहीं करना, दम्भ नहीं करना, हिंसा नहीं करना और कुटिलता नहीं करना—इसका नाम ज्ञान है। इसके विपरीत अभिमान करना, दम्भ करना, हिंसा करना और कुटिलता करना इसका नाम अज्ञान है। तब परमात्माकी प्राप्तिका साधन ज्ञान क्या है? यही है कि—'निर्मानमोहा जितसङ्गदोषाः'। अभिमान छोड़ो, दम्भ छोड़ो, हिंसा छोड़ो और कुटिलता छोड़ो। इसीका नाम है साधन-ज्ञान और इसीसे परमात्माकी प्राप्ति होती है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'—ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है विज्ञानस्वरूप है। इस प्रकार जहाँ साधन-ज्ञानका वर्णन है वहाँ भक्तिका भी वर्णन है। ज्ञानके बीस साधन हैं जिनमें भक्ति भी सम्मिलित है—

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥

भक्ति क्या है? ज्ञानका साधन है अर्थात् साधन है। अब एक दूसरी बात देखो—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥

ब्रह्मभूतः परां मद्भक्तिं लभते—ब्रह्म होकर मेरी पराभक्तिको प्राप्त होता है। यहाँ ब्रह्म पहले हुआ; और भी साधन हैं—

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥

अन्तमें बताया कि—'समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्'—तत्त्वज्ञानसे भगवान्की पराभक्ति मिलती है, किन्तु महात्मा लोग दोनोंको एक कर देते हैं—'ज्ञानस्य या पराकाष्ठा सा भक्तिः परकीर्तितः' ज्ञानकी पराकाष्ठाका नाम है भक्ति और 'भक्तेषु या पराकाष्ठा तद्विज्ञानं प्रकीर्तितम्'। भक्तिकी जो पराकाष्ठा है, उसका नाम है ज्ञान, जहाँ हम लक्ष्यसे मिलकर एक हो गये। यदि ज्ञान और भक्तिका द्वैत रह गया तो अद्वैतकी सिद्धि भी नहीं हुई। यदि ज्ञान दूसरी चीज है और भक्ति दूसरी चीज है तो परमात्माकी प्राप्ति क्या हुई? वहाँ तो समग्र सृष्टि भी परमात्मासे पृथक् नहीं है तो ज्ञानसे भक्ति कैसे अलग हो जायेगी? यह तो अत्यन्त प्यारी है भगवान्की।

इसीलिए गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा कि—'भगतिहिं ज्ञानहिं नहिं कछु भेदा'—ज्ञान और भक्तिमें कोई भेद नहीं है। यही अभेद-दृष्टि है। उन्होंने जो यह कहा है कि माया नर्तकी है—'माया खलु नर्तकी बेचारी' और भक्ति भगवान्की बहुत प्यारी है, वह केवल काव्यका वर्णन है। यह समझनेकी बात है कि रामचरितमानस दर्शनशास्त्र नहीं है काव्य-शास्त्र है। काव्यशास्त्रमें और दर्शनशास्त्रमें फर्क होता है।

अब आपको एक दूसरी बात सुनाता हूँ। जिसके हृदयमें भक्ति आजाती है उसको फिर छोड़ती नहीं है। यह भक्तिका स्वभाव है। भक्ति चार प्रकारकी होती है—आर्तकी भक्ति, जिज्ञासुकी भक्ति, अर्थार्थीकी भक्ति और ज्ञानीकी भक्ति—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

गजेन्द्र आर्त होकर पुकारता है कि प्रभो, दौड़ो-दौड़ो, हमारी रक्षा करो। किन्तु गजेन्द्र तो जन्म-जन्मका भक्त है, वह डर कैसे गया? नहीं भाई, वह मृत्युसे नहीं डरता। यह जो प्रभुके और उसके बीचमें पर्दा आगया है, इससे डरता है। 'आत्मलोकावरणस्य मोक्षः'—हमारे आत्मा और परमात्माके बीचमें जो आवरण आगया है, पर्दा आगया है, वह न रहे, यह हम चाहते हैं। अन्यथा मौतमें क्या रखा है? भगवान् हमारे सामने हों तो हजार बार मौत आवे और हजार बार जाये। आर्त भक्त यदि मृत्युसे डर जायेगा तो भक्त नहीं होगा। एक अन्तः-करणमें मृत्युकी भी याद रहे और भगवान्‌की भी याद रहे—ये दो प्यार एक साथ कैसे रह सकते हैं? इसी तरह एक साथ दो ज्ञान भी नहीं हो सकते। इसीलिए आर्त भक्त कहता है कि प्रभो, हम मृत्युसे नहीं डरते, लेकिन आपके और हमारे बीचमें जो यह पर्दा है इससे बहुत डरते हैं। इसीलिए आप इस पर्देको हटा दीजिये।

अब जिज्ञासु भक्तकी बात लो। उद्धवजी जिज्ञासु भक्त हैं, वे कहते कि प्रभो ज्ञानका उपदेश आपके सिवाय और कोई नहीं कर सकता। ध्रुव अर्थार्थी भक्त हैं; लेकिन उनकी अर्थ-वासना निरस्त हो चुकी है। वे ध्रुवलोकमें रहते हैं। नारदजी भी कभी उनके यहाँ हो आते हैं तो देखते हैं कि ध्रुवजी बैठे हैं, उनकी आँखोंसे झर-झर आँसू गिर रहे हैं और प्रार्थना कर रहे हैं कि प्रभो, मैंने जो आपके सामने ऐश्वर्य, स्थिर-धाम, और राज्यकी वासना रख दी, वह मेरे जीवनमें सबसे बड़ी गलती हुई। हमें इस ध्रुवपदसे मुक्त कर दीजिये। भगवान्‌की शरण ऐसी है कि वहाँ कोई धनके लिए भी जाये तो अन्तमें धनकी वासना नहीं रहती, केवल भगवान्‌की वासना रह जाती है। ज्ञानी भक्त सनत्कुमार हैं, नारद

हैं, शिव हैं। उनको ज्ञान है, प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म तत्त्वका बोध है। ये ज्ञानी होनेपर भी भगवान्‌का भजन करते हैं।

यहाँ प्रश्न उठता है कि ये ज्ञान होनेपर फिर भक्त कैसे? श्री-मधुसूदन सरस्वतीने गीताटीकामें कहा कि जैसे ज्ञानी होनेपर प्रयत्नसे राग-द्वेषका अभाव नहीं करना पड़ता, स्वतः हो जाता है वैसे ही उनके स्वभावमें भगवान्‌की भक्ति हो जाती है। उनका स्वभाव कृत्रिम नहीं होता, उनमें कर्मजन्य भक्ति नहीं होती, स्वतः भक्ति होती है। इसकी एक युक्ति है। देखिये, अपने आत्मासे सबका प्रेम होता है कि नहीं? अपने आत्मासे तो सबका ही प्रेम होता है। इसी तरह ज्ञानीको ईश्वरके साथ एकताका बोध हो जाता है और जब आत्मा और ईश्वर एक हो जाते हैं, तब जो प्रेम केवल आत्मासे था, वह ईश्वरके साथ हो जाता है। इसको ऐसे समझो कि जो प्रेम पहले केवल त्वं-पदार्थसे था वह तत्पदार्थके साथ एकता होनेके बाद त्वं-पद और तत्पदके लक्ष्यार्थके साथ हो जाता है। इसीको आत्मरति बोलते हैं। गीतामें कहा है—

> यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
> आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥

जबतक ईश्वर अलग रहता है तबतक उससे प्रेम किया जाता है और जब ईश्वर आत्मासे अभिन्न हो जाता है तब प्रेम किया नहीं जाता, वही आत्म-प्रेम स्वाभाविक रूपसे चलता रहता है।

अब यदि कहो कि भक्ति ज्ञानमें कुछ बाधा तो नहीं डालती? नहीं, ऐसी बात नहीं है—

> उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
> आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥
> प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।

वहाँ तो भक्ति-ज्ञानमें प्रियताका आदान-प्रदान हो जाता है। भगवान्‌का प्रिय हो जाता है ज्ञानी, ज्ञानका प्रिय हो जाता है भगवान् और प्रियता होती है एक। ज्ञानमें अभिन्न हो जाता है।

अब एक बात और देखो, भक्त और ज्ञानी दोनों परमात्माको आनन्दरूप मानते हैं, सच्चिदानन्द मानते हैं तथा जगत्‌को दुःखरूप

मानते हैं—'दुःखालयम् अशाश्वतम् अनित्यसुखं लोकम्।' इसी तरह परमात्मा चेतन है और जगत् जड़ है, यह भक्त और ज्ञानी दोनों मानते हैं। ज्ञानीमें एक बात और है। वह यह है कि ज्ञानी परमात्माको तो मानता है सत् और प्रपञ्चको मानता है असत्। यदि सच्चिदानन्दमें आनन्दके विरुद्ध जगत् दुःख है और चित्के विपरीत जगत् जड़ हैं तो सत् परमात्माके विपरीत यह जगत् असत्य क्यों नहीं है ? यदि परमानन्द परमात्मा सच्चिदानन्द घन है तो जगत् असत् है, अज्ञान है, दुःख है। यह बात दूसरे भक्तोंने अपनी ओरसे कहनेमें थोड़ा संकोच किया है, किन्तु गोस्वामी तुलसीदासजीने सम्भवतः काशीवासी होनेके कारण शास्त्रीय निरूपण करते हुए कहा है—

रज्जौ यथाहेर्भ्रमः। सत् हरि भजन जगत् सब सपना। एहि विधि जग हरि आस्रित रहई। जदपि असत् देत दुःख अहई। भास सत्य इव मोह सहाया। योगवियोग भोग भल मन्दा।

जनम कर्म जहँ लगि जग जालू। संपति विपति कर्म अरु कालू॥
देखिय सुनिय गुनिय मन मांहीं। मोह मूल परमारथ नाहीं॥
जदपि मृषा छूटत कठिनई।

यदि प्रपञ्च आनन्दके विपरीत है, चित्के विपरीत है, तो सत्के विपरीत है। जो सत्के विपरीत होता है वह असत् होता है। इसलिए आओ यह समझें कि प्रपञ्च सत्के विपरीत है। ज्ञानी पुरुष जब प्रपञ्चसे उपराम होता है, तब भी भक्ति उससे अलग नहीं होती। उसने पहले जो भगवान्की भक्ति की है, वह बेचारी उसको छोड़कर कहाँ जायेगी ? जो भगवान्से प्रेम करनेवाला है, वह अपने प्रियतमके प्रेमीसे भी प्रेम करता है—'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः'। इस संसारकी भी यही रीति है कि पिताका कोई प्रिय व्यक्ति आजाये, पतिका कोई प्रिय व्यक्ति आजाये, पुत्रका कोई प्रिय व्यक्ति आजाये तो उसका भी सत्कार किया जाता है, उससे भी प्रेम किया जाता है।

जबतक ज्ञान नहीं हुआ तभीतक द्वैत बन्धनका हेतु है। जब ज्ञान हो गया तब जैसे शरीर है और दुनिया दीखती है, वैसे ही पहलेकी तरह भक्ति बनी रहती है और वह मोह नहीं उत्पन्न करती, सुख देती रहती है।

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचित् मत्पादसेवाभिरता मदीहाः ।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि ॥

अरे, एक होकर क्या बैठें ? हैं तो एक, पर एक होकर बैठेंगे नहीं। अपना पति बहुत प्यारा है, अपनी पत्नी बहुत प्यारी है, दोनोंमें कोई पर्दा नहीं है। एकान्तमें मिलते हैं हैं, निरावरण मिलते हैं पति और पत्नीका परस्पर रोम-रोम देखा हुआ है। लेकिन जब भरी सभामें बैठते हैं तब मर्यादानुसार अलग-अलग बैठते हैं। भेद नहीं है परन्तु भेदभक्तिसे आराधना करते हैं। जिस प्रकार पत्नीका प्राणेश्वरके साथ मन मिला हुआ रहता है, तन मिला हुआ रहता है, लेकिन जब वह लोगोंके बीच बैठती है तब घूँघटकी ओटसे देखती है, उसी प्रकार परमात्मासे एक होनेपर भी जब लोक-व्यवहारमें आते हैं तब उसकी वन्दना करते हैं।

प्रेयसी अपने प्रियतमके वक्षःस्थलपर रीतिसे विहार करे अथवा उसके चरणोंमें बैठकर उसके पाँव दबावे, इसमें कोई अन्तर नहीं है। इसी प्रकार तत्त्वज्ञानी पुरुष समाधिमें परमात्मासे अभिन्न होकर बैठे अथवा भगवान्‌की भक्ति करे—एक ही बात है। तत्त्वज्ञानी वह है जिसको किसी भी अवस्थामें भेद नहीं है। भक्तिमें भी भेद नहीं है।

'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः' गीतामें भगवान् कहते हैं कि ज्ञानी मेरा अत्यन्त प्रिय है। 'अत्यर्थम् अर्थं अतिक्रम्य प्रियः'। हमारे और उसके बीचमें कोई अर्थ, कोई दूसरी चीज, कोई आवरण नहीं है। देखो, ज्ञानमें यह होता है कि पर्दा अपने आप फाड़ना पड़ता है श्रवणके द्वारा, मननके द्वारा, निदिध्यासनके द्वारा, आत्मसाक्षात् करके आवरण भङ्ग करना पड़ता है। जिज्ञासुको अपने हाथसे अपना पर्दा फाड़कर प्रियतमसे मिलना पड़ता है। किन्तु भक्तिमें स्वयं भगवान् चीरहरण करते हैं, स्वयं पर्दा हटाकर मिलते हैं। पर्दा हटानेका काम प्रियतमका है, प्रभुका है—यह भक्ति है और हम पर्दा हटाकर भगवान्‌से मिलेंगे—यह ज्ञान है। मुग्धा और प्रौढ़ामें यही भेद होता है कि मुग्धाका पर्दा हटाना पड़ता है तथा प्रौढ़ा पर्दा हटाकर मिलती है। इस तरहसे केवल रसिक कवियोंने ही नहीं, सूफी महात्माओं और कवियोंने भी इसी प्रकार वर्णन किया है।

अब आओ फिर भक्तिकी बात करें—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूत गुणो हरिः॥
(श्रीमद्भा० १.८.१०)

आत्माराम हैं माने अनात्माराम नहीं हैं। जो किसी दूसरे बगीचेमें घूमनेके लिए नहीं जाते, अपने ही बगीचेमें विहरण करते हैं, अपने आपमें रमते हैं, वे आत्माराम हैं—'आत्मैव आरामो येषां आत्मारामो रमणं येषाम् मुनयः' माने मुनि, तल्लीन मानसाः—डूबे रहते हैं परमात्मामें। 'निर्ग्रन्था अपि' जिनकी सारी गाँठ छूट गयी हैं—जिनमें न कामग्रन्थि है, न लोभग्रन्थि है, न मोहग्रन्थि हैं, न शिखाग्रन्थि है, न सूत्रग्रन्थि है, न नीविग्रन्थि है, न हृदयग्रन्थि है और न अविद्याग्रन्थि है। निर्ग्रन्थ माने पोथी पन्ना भी नहीं है, जो वेद अवेदसे ऊपर उठ गये हैं। 'अपि उरुक्रमे कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिम्'—ऐसे ज्ञानी लोग भी भगवान्‌की भक्ति करते हैं।

एक बार हाथी बाबाजी महाराज हमारे पास बैठे थे। मैं उन दिनों वृन्दावनके परमहंस आश्रममें रहता था। एक सज्जन आये और उन्होंने हमसे पूछा कि स्वामीजी राम-राम कहनेसे क्या फायदा होता है? मेरे बोलनेके पहले ही हाथी बाबाजी बोल पड़े कि क्यों जी! यह बनिया है क्या? सब काममें इसको फायदा ही चाहिए। अरे भाई कुछ स्वाभाविक भी होता है।

मैंने सुना है, एक बनिया यमराजके दरवाजेमें गया तो यमराजने कहा भाई, तुम्हारे पाप भी हैं, पुण्य भी हैं। तुम पहले नरकमें जाना पसन्द करोगे कि स्वर्गमें? बनियाने सोच-विचारकर कहा—जहाँ दोनोंके मार्ग मिलते हों, चौराहा हो, वहाँ हमारी दूकान खुलवा दीजिये। जो लोग स्वर्गमें जायेंगे वे भी हमारा सौदा खरीदेंगे जो नरकमें जायेंगे, वे भी सौदा खरीदेंगे। हमारा तो माल बिकना चाहिए।

तो यह हँसीकी बात बीचमें आगयी। हम आपको भागवतके श्लोकका अर्थ बता रहे थे। 'कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिम्' ज्ञानी लोग अहैतुकी भक्ति करते हैं, किसी की आज्ञा मानकर भक्ति नहीं करते। वे आज्ञाकारी नहीं हैं, किसी प्रयोजनसे भक्ति नहीं करते। देखो, हेतुमें प्रेरणा भी है, प्रेर्य भी है। भगवान्‌की भक्ति करनेसे हमको यह मिलेगा, वह मिलेगा—

इसलिए नहीं करते और कोई डण्डा मारकर उनसे भक्ति करवाता हो, यह बात भी नहीं है। वे तो निर्हेतुक भक्ति करते हैं। क्यों करते हैं? इसलिए करते हैं कि उनमें अपना गुण नहीं होता, ज्ञानी लोग अपनेमें गुण नहीं रखते। यदि अपनेमें गुण रखें तो उनको गुणका अभिमान होगा और तब गुण-ही-गुण रह जायेंगे। चाहे वे सात्त्विक हों, राजस हों या तामस हों। कुछ-न-कुछ रहेंगे जरूर—या तो विषय रहेंगे या इन्द्रिय रूप गुण रहेंगे या अन्तःकरण रूप गुण रहेगा। इसीलिए ज्ञानी लोग अपनेमें गुण नहीं रखते। नास्तिक लोग कहते हैं कि गुण-दोषकी बात झूठी है, विवेकी लोग कहते हैं कि गुण प्रकृतिके हैं, भक्तलोग कहते हैं कि गुण न तो परमाणुओंके संयोगसे उत्पन्न हुए हैं न द्रव्याश्रित हैं माने द्रव्यमें नहीं हैं, न प्रकृतिके गुण हैं न मायाके गुण हैं, ये सारे गुण तो भगवान्‌के हैं। जो गुणोंकी प्रकृतिको समझेगा, उसको होगा वैराग्य, उसको होगी असङ्गता और असङ्गता होनेपर हो जायेगी अद्वितीयता। जो गुणोंको भगवान्‌का समझेगा, वह उनको देखकर मस्त होगा और कहेगा कि गुण भगवान्‌के हैं, इसलिए आनन्दमें रहो—'इत्थम्भूत-गुणो हरिः।

भगवान् कहते हैं कि मेरे प्यारे ज्ञानी! तुमने गुणोंको छोड़ दिया है। तुम घड़ी नहीं रखते हो, तो लो, अब मैं तुम्हारे लिए घड़ी रखा करूँगा, मैं तुम्हें समय बता दिया करूँगा। तुम अपने घरमें अन्न-पानी भी नहीं रखते तो मैं रखा करूँगा। इस प्रकार ज्ञानको जिन-जिन गुणोंकी आवश्यकता होती है, उन सब गुणोंको भगवान्‌ने धारण कर लिया और बोले कि यह नाच देखनेके लिए कहीं नृत्यशालामें तो जायेगा नहीं, इसलिए मैं ही इसको नाच दिखाऊँगा। यह संगीत सुननेके लिए कहीं जायेगा नहीं तो मैं ही इसको गाकर सुनाऊँगा और संगीतमें वाद्यके स्थानपर बाँसुरी बजाऊँगा। इस तरह ज्ञानीकी सेवा भगवान् करते हैं—'अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूजयाम्यङ्घ्रिरेणुभिः। भगवान्‌की यह नम्रता, यह विनय, यह कोमलता, यह सहृदयता देख-देखकर ज्ञानी मुग्ध होता रहता है। फिर वह भगवान्‌का भजन नहीं करेगा तो क्या संसार करेगा?

एक बार किसीने श्रीउड़िया बाबाजीसे पूछा कि महाराज मुझे ब्रह्मज्ञान हो गया, अब कुछ कर्त्तव्य नहीं है, मैं क्या करूँ? बाबा बोले

कि वेटा, अब ब्याह कर लो। अरे भाई जब तुम्हारे कोई कर्त्तव्य नहीं हैं, तुमको ब्रह्मज्ञान हो गया तो जो अच्छी-से-अच्छी चीज है सो करो।

अब एक वात देखो। इससे ज्ञानकी महिमा कम नहीं होती। इसमें एक साथ भक्ति भी है, ज्ञान भी है और उसकी तरफ मैं आपका ध्यान खींचता हूँ—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते॥

जीवन्मुक्त कौन है? वह है, जिसकी स्थिति यह है—'सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।' अब लो उसने 'यो मां पश्यति सर्वत्र'—सबमें देखा भगवान्को, 'सर्वभूतेषु चात्मानम्'—सबमें देखा अपने आत्माको और 'सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः'—इस प्रकार आत्मा और परमात्मकाकी एकता हो गयी। अब वह चाहे कैसे भी रहे—वसिष्ठकी तरह पुरोहित रहे, दत्तात्रेयकी तरह मस्त रहे, शुकदेवकी तरह समाधिस्थ रहे अथवा जनककी तरह राजा रहे, कोई अन्तर नहीं पड़ता। यह गीता-विद्या तो राजाओंकी भी विद्या है—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥

ज्ञानीके लिए यह विधि, यह नियम, यह अनिवार्य नहीं है कि वह भक्ति ही करे। यदि उसके स्वभावमें भक्ति है तो भक्ति करेगा, नहीं है तो नहीं करेगा। भक्ति न करनेसे उसकी मुक्तिमें कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। ज्ञानी चाहे जैसे भी रहे, लेकिन भक्त अपने प्यारे भगवान्को छोड़कर चाहे जैसे नहीं रह सकता। जबतक उसका अन्तःकरण है, तबतक भक्ति उसका पिण्ड छोड़कर कहीं नहीं जाती। 'ज्ञानी च मयि संन्यस्य'—अज्ञानकी निवृत्ति हो जानेपर ज्ञानवृत्तिका भी परित्याग हो जाता है, परन्तु भगवत्प्राप्ति हो जानेपर भक्ति छूटती नहीं, और-और बढ़ती जाती है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

## : ३ :

**अम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्।**

जब भगवान् यह कहते हैं कि अर्जुन गीता मेरा हृदय है—'गीता मे हृदयं पार्थ'। तब उसका तात्पर्य क्या है ? यही कि भगवान्के हृदयमें जो करुणा है, प्रेम है ज्ञान है, वह सब गीताके रूपमें प्रकट हुआ है। एक महात्मा कहा करते थे कि गीता शास्त्र नहीं, मित्रके प्रति मित्रकी वाणी है। अर्जुन और श्रीकृष्ण दोनों नित्यसखा हैं। जिस प्रकार एक मित्रके मनमें कोई दुविधा आजाये तो दूसरा मित्र सहज स्नेहसे, प्रेमसे उसको सुझाव देता है, सलाह देता है, कभी-कभी बलात् भी, कुछ चुटकी लेकर भी, हँसकर भी, डाँटकर भी अपने मित्रको ठीक रास्तेपर ले चलता है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको ठीक रास्तेपर चलनेके लिए गीताका उपदेश करते हैं। उपदेश माने मार्ग दिखाना, पाससे लक्ष्यको दिखा देना।

अब आओ कुरुक्षेत्रमें। एक ओर धर्मक्षेत्र है दूसरी ओर कुरुक्षेत्र है। जिधर पाण्डव हैं उधर धर्मक्षेत्र और जिधर कौरव हैं उधर कुरुक्षेत्र। एक ओर आसुरी सम्पत्ति है दूसरी ओर दैवी सम्पत्ति है। ऐसी बात प्रधानतासें ही कही जाती है, अन्यथा कौरवपक्षमें भी दैवी सम्पदा है

पाण्डव पक्षमें भी आसुरी सम्पदा है। घटोत्कच आदि आसुरी सम्पदा-वाले पाण्डव पक्षमें हैं और कर्ण भीष्म आदि दैवी सम्पदावाले कौरव पक्षमें हैं। यदि दोनों पक्षोंमें थोड़े-थोड़े दैवी सम्पदावाले न हों तो युद्ध टिक नहीं सकता और आसुरी सम्पदावालोंका नाश नहीं हो सकता। कुछ उधरसे लेकर आये और कुछ इधरसे लेकर आये। दोनों भगवान्‌की इच्छा पूरी कर रहे हैं, आसुरी सम्पदावालोंका विनाश हो रहा है।

भगवान्‌में जितने गुण हैं और जितनी शक्तियाँ हैं, वे परस्पर विरुद्ध भी होती हैं। उनमें एक ओर वात्सल्य है, स्नेह है तो दूसरी ओर असंगता भी है। वे सबसे असंग भी हैं और सबपर स्नेह भी करते हैं। कभी-कभी स्नेह और असंगतामें लड़ाई हो जाती है। जब लड़ाई हो जाती है तब भगवान् पंचायत करनेके लिए अपनी सर्वशक्ति—चक्रवर्तनी भगवती करुणाको न्यायासनपर बैठा देते हैं और कहते हैं कि हे करुणा, तुम निर्णय करो। भगवान्‌के हृदयमें जो सर्वोत्तम शक्ति है, उसका नाम करुणा है—'है तुलसी परतीति एक प्रभुमूरति कृपामयी है'। यदि भगवान्‌के हृदयमें करुणा न हो, अपने भक्तोंके प्रति पक्षपात न हो तो सब लोग यमराजके दरवाजेपर ही जाकर पाप-पुण्यका निर्णय करवा लेंगे, भगवान्‌के पास जानेकी आवश्यकता ही क्या रहेगी ? तो भगवान्‌का हृदय करुणासे भरपूर है और वह सब जीवोंपर समानरूपसे है।

एक बात आपके ध्यानमें रहनी चाहिए। धर्म केवल बड़े-बड़े विद्वानों योगियों, भक्तों अथवा सदाचारियोंके लिए नहीं होता। कोई भी धर्म तभी टिकाऊ रह सकता है, जब वह नीचे गिरे हुएको ऊपर उठावे। जो जातिसे हीन है, आचारसे हीन है, ज्ञानसे हीन है उसकी हीनताका निवारण करके उसको ऊपर उठानेके लिए भागवत-धर्म आता है और बोलता है कि दुराचारीसे दुराचारी भी हमारी ओर आजाये तो हम उसका कल्याण कर देते हैं। इसलिए जो हीनको उत्तम बनावे, उसीका नाम धर्म होता है। वही धर्म गीताके द्वारा प्रकट हुआ है, उसीको गीता धर्म बोलते हैं। अद्भुत है इसकी महिमा।

भगवान्‌का गीतारूप हृदय उनके शरीरके भीतर नहीं रह सका, छलक पड़ा, भगवान्‌ने बोलकर गीताका उपदेश नहीं किया। भगवान्‌की नाभिमें एक कमल है, कमलमें ब्रह्मा हैं, ब्रह्माके मुँहसे वेदका उच्चारण

हुआ है। गीता भगवान्‌के हृदयमें छिपी रह गयी। वह नाभिपद्ममें अथवा ब्रह्माजीके मुँहमें नहीं आयी, स्वयं छलक पड़ी हृदयसे और नाभि-पद्म तथा ब्रह्माका सहारा लिये बिना भगवान्‌के मुखपद्मसे प्रकट हुई—

या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता।

(गीतामाहात्म्य)

यह भगवान्‌की करुणा ही है, जो गीताके रूपमें दीन-हीनका उद्धार करनेके लिए आयी। इसमें सबके लिए स्थान है। असलमें भगवान्‌की वाणी होती ही वही है, जो उनके सब पुत्रोंके लिए हो। बाप वही है, जो अपने सब बेटोंका भला करना चाहता है—चाहे कोई तमोगुणी हो, रजोगुणी हो, सत्त्वगुणी हो अथवा गुणातीत हो। कोई भी हो, हैं तो सब भगवान्‌के। इसलिए भगवान्‌की वाणी सबका मङ्गल, सबका कल्याण करनेके लिए प्रकट हुई है। यह भगवद्वाणी सारी प्रजाका हित करनेके लिए और सबके अन्दर सद्भाव, चिद्भाव और आनन्दभाव भरनेके लिए प्रकट हुई है। इसमें भगवान्‌का जो सद्भाव है उससे कर्म-योग निकलता है, भगवान्‌का जो चिद्भाव है उससे ज्ञानयोग निकलता है और भगवान्‌का जो आनन्दभाव है उससे भक्ति निकलती है। भगवान्‌की सच्चिदानन्दमयी वाणी वही है जो सबको जीवन दान दे, सबको ज्ञानदान दे और सबको आनन्ददान दे। सबके आनन्दके लिए, सबके ज्ञानके लिए और सबके जीवनके उत्थानके लिए जो हो उसीका नाम भगवान्‌की वाणी होता है। 'त्रिगुणभावमयत्वात् भगवद्वाक्यस्य' त्रिगुण अर्थात् सत्त्व, रज, तमकी प्रकृतिवालोंमें सद्भाव, चिद्भाव और आनन्दभाव भरनेके लिए ही भगवान्‌की वाणी निकलती है।

इसलिए जब हम गीताका उपक्रम करते हैं तब 'अम्ब त्वामनुसन्द-धामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्' बोलते हैं। अम्ब माने वर्णमयी अक्षरमयी माँ होता है—अवि वर्णे। इसी अम्बका अम्मा हो गया और गुजरातमें केवल बा बनकर रह गया। आप वर्णात्मा अक्षरात्मा, शब्दात्मा माँ गीताकी शरण लें।

अब सद्भाव, चिद्भाव तथा आनन्दभावमें-से आनन्दभावकी ही बात करते हैं। आनन्दभावमें भक्ति आती है। अशुद्धान्तःकरणमें जो आनन्दका प्रतिबिम्ब ग्रहण होता है, उसका नाम प्रीति हो जाता है।

प्रीति क्या है ? जब अन्तःकरण भगवान्‌के सम्मुख होता है और उसमें भगवान्‌का आनन्दभाव प्रतिबिम्बित होता है तब उसका नाम भक्ति हो जाता है। पर इसमें एक बात जल्दी ध्यानमें नहीं आती। यदि आनन्द निष्क्रिय होता, निर्गुण होता, निर्विशेष होता, तब तो यह कहना पड़ता कि हृदयमें आनन्दका प्रतिबिम्बन होता है, लेकिन आनन्दस्वरूप भगवान् स्वयं जब प्राणीके हृदयमें प्रकट होते हैं, तब उसका नाम भक्ति होता है। हृदयमें भगवान्‌के आनन्दभावकी अभिव्यक्तिको भक्ति कहते हैं। प्रयत्नवादी, पौरुषवादी लोग कहते हैं कि हमने पौरुष किया, उससे हमारा हृदय शुद्ध हुआ और उसमें आनन्दका आविर्भाव हुआ। किन्तु भक्त कहते हैं कि भगवान्‌की कृपा हुई, करुणा हुई और उन्होंने अपने आनन्दरूपको हमारे हृदयमें प्रकट किया। असलमें जीवके पौरुषकी प्रधानतासे धर्म, योग तत्त्वज्ञान तो हो सकते हैं, परन्तु भक्ति भगवान्‌के अनुग्रहसे ही हृदयमें आती है।

अब देखो, एक भक्ति तो आयी साधनहीनके हृदयमें और एक भक्ति आयी बड़े-बड़े योग्य पुरुषों—योगियों, ज्ञानियोंके हृदयमें। ज्ञानी भक्त होते हैं, गीतामें यह बात बहुत स्पष्ट है। ज्ञानीके हृदयमें भक्ति आती है, ज्ञानीके हृदयमें जीवन्मुक्ति आती है और ज्ञानी भगवान्‌का अत्यन्त प्रिय है। यह सब तो ठीक है, परन्तु जो ज्ञानी नहीं है, दीन-हीन है, मलिन है, उसका क्या होगा ? उसका यह होगा कि भगवान् उसको अपने पास बुलानेके लिए अक्ल दे देते हैं। इस बातपर ध्यान दो कि अक्ल भगवान् ही देते हैं—'ददामि बुद्धियोगं तम्। अब उस अक्लसे क्या होता है कि वे भगवान्‌के पास पहुँच जाते हैं अथवा स्वयं भगवान् स्वप्रदत्त बुद्धिके द्वारा उसको अपने पास बुला लेते हैं। जहाँतक भजनकी बात है वह दुराचारी भी करता है, सदाचारी भी करता है।

एक बार प्रयागराजमें श्री ईश्वरशरणजीने कहा कि जबतक दिल साफ नहीं होगा तबतक राम-राम करनेसे क्या फायदा है ? इसपर डा० पन्नालालजीने पूछा कि आखिर दिल साफ कैसे होगा ? क्या किसी हँसिया-हथौड़ेसे होगा ? अरे भाई, राम-राम करेंगे, तब दिल साफ होगा और ज्यों-ज्यों दिल साफ होगा, त्यों-त्यों राम-रामका मजा आवेगा। दिल साफ करनेके लिए किसी धोबीके पास जाकर यह कहनेकी जरूरत नहीं है कि तुम हमारा दिल धोओ, उसके बाद हम राम-राम

करेंगे। राम-राम स्वयं ऐसा धोबी है कि जब वह दिलमें आता है तो दिलको साफ कर लेता है और वहाँ विराजमान हो जाता है।

प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम्।
धुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरत्॥

भगवान् अपने आप हृदयमें आते हैं और हृदय-सरोवरके सलिलको निर्मल कर देते हैं। गीतामें स्वयं उन्होंने ही उद्घोषणा की है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।

इसकी चर्चा पहले भी आचुकी है लेकिन प्रसङ्गवश फिर इसका उल्लेख करना पड़ता है। भगवान्ने यह ठेका ले लिया है कि हमारे भक्तका नाश नहीं होता और उनका यही आश्वासन लेकर यह गीतामाता आयी है। यह ऐसा वेद है जिसके लिए ब्रह्माकी आवश्यकता नहीं। वेदकी उत्पत्तिमें ब्रह्मा हेतु हैं। ब्रह्माके चारों मुखसे वेदका प्रथम उच्चारण होता है। किन्तु गीता बिना ब्रह्माका वेद और बिना वेणुका संगीत है। भगवान् व्रजमें गाते हैं तो बीचमें वह बाँसकी बँसुरिया रहती है किन्तु उन्होंने गीता गाते समय उस बँसुरियाको भी बीचमें नहीं रक्खा। सम्पूर्ण प्राणियोंके कल्याणके लिए भगवान्की करुणा, भगवान्का हृदय गीताके रूपमें प्रकट हुआ है।

तो आनन्दभावकी अभिव्यक्ति भक्ति है, चिद्भावकी अभिव्यक्ति ज्ञान है और सद्भावकी अभिव्यक्ति धर्म है। जब भगवान्की कृपा आती है तब अपने-आप भक्ति भी आजाती है, ज्ञान भी आजाता है और मनुष्य धर्मात्मा भी हो जाता है। गीतामें भक्तिका साधारण-से-साधारण रूप भी है और गम्भीर-से-गम्भीर रूप भी है।

संसारमें दो तरहकी प्रवृत्तिके लोग होते हैं। एकाकी प्रवृत्ति यह होती है कि जो कठिन-से-कठिन काम होगा वह हम करेंगे। हम आसान काम, मामूली काम करनेवाले नहीं हैं। यदि ज्ञानका मार्ग कठिन है तो पहले हम ज्ञान ही प्राप्त करेंगे। यदि वह उत्तम अधिकारीके लिए है तो क्या हम किसीसे कम अधिकारी हैं? हमको तो उत्तम अधिकारवाली वस्तु चाहिए। किन्तु दूसरी प्रकृतिके लोग कहते हैं कि बाबा, हमको

तो कठिन काम नहीं चाहिए, बहुत आसान काम चाहिए, सरल काम चाहिए।

भक्ति ऐसी चीज है जो सरल भी है और कठिन भी है। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि 'रघुपति भगति करत कठिनई'—भगवान्‌की भक्ति करना बहुत कठिन है। इसपर कठिन काम करनेवालोंने कहा कि तब हम जरूर करेंगे। लेकिन आसान काम चाहनेवालोंको कहा गया कि—

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा।
जोग न जप तप मख उपवासा॥
सरल सुभाव न मन कुटिलाई।
जथा लाभ संतोष सदाई॥
मोर दास कहाइ नर आसा।
करइ त कहउ कहा विस्वासा॥

अरे, यह तो बिल्कुल घरकी है जैसे साग-भाजी-मूली होती है। इसके लिए न योग करना है, न जप करना है, न तप करना है, न यज्ञ करना है, न उपवास करना है। यह तो बड़ी सरल है।

इसका अर्थ है कि भक्ति पौरुषहीनके लिए भी है और पुरुषार्थीके लिए भी है। किसीके लिए भी इसका मार्ग बन्द नहीं होता। यह मनुष्यमात्रके लिए ही नहीं, पशु पक्षीके लिए भी है। भगवान्‌की भक्ति पशु भी करते हैं, पक्षी भी करते हैं। भागवतमें तो वर्णन आया है कि भगवान्‌की भक्ति लता और वृक्ष भी करते हैं, दूर्वा भी करती है, पृथिवी भी करती है, जल भी करता है।

भागवतमें ही आया है कि गाँवकी भीलनें भी भगवान्‌की भक्त हैं। आपको सृष्टिमें ऐसा कौन-सा साधन मिलेगा जो कुब्जाके घर भगवान्‌को ले जाये ? आप कुब्जाकी साधना बताओ ? जाति ? नाईन, सैरन्ध्री। काम ? शरीरमें उबटन लगाना, कंसकी दासी। वह अंगरागकी सामग्री लेकर कंसकी सेवामें जा रही थी और बीचमें कूद पड़े श्रीकृष्ण। क्या यह गिरे हुओंके उद्धारके लिए, मंगलके लिए, कल्याणके लिए कूद पड़नेका नमूना नहीं है ! कुब्जासे गया बीता कौन है ! लेकिन भगवान् उसका भी कल्याण करते हैं।

तो, जहाँ सारा बल, सारा पौरुष भगवान्का है, सारा आग्रह भगवान्का है, सारी कृपा भगवान्की है, वहाँ जीवके लिए पौरुष क्या है ? लेकिन ऐसा मत समझना कि भक्ति सरल है, इसलिए चाहे जब कर लेंगे। गीतामें ही देखो, कितनी कक्षा पार करनेके बाद भक्ति आती है। बहुत सारी कक्षायें पार करनी पड़ती हैं भक्तिके लिए—'बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च'। पहले बुद्धि शुद्ध करो और फिर अपनी धारणा-शक्तिके द्वारा अपने आपको नियन्त्रित करो और 'शब्दादीन् विषयाँस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्यच' शब्द-स्पर्श आदि संसारके विषयोंका त्याग करो और राग-द्वेषको निकाल फेंको। इतना ही नहीं—'विविक्तसेवी लध्वाशी यतवाक्कायमानसः'—एकान्तमें रहो, विविक्त अर्थात् विवेक सिद्ध पदार्थका सेवन करो। जो तुम्हारी नासमझोसे तुम्हारे अविवेकसे जीवनमें घुस आया है, उसका सेवन मत करो। सोच-विचारकर चलो। 'लघ्वाशी'—हल्का भोजन करो। 'यतवाक्कायमानसः'—जो मनमें आवे सो मत बोलो और चाहे जहाँ मनको मत भेजो। 'ध्यानयोगपरो नित्यम्'—ध्यान करो। 'वैराग्यं समुपाश्रितः'—वैराग्यका आश्रय लो। 'अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् विमुच्य'—अहंकारादिको छोड़ो। 'निर्ममः शान्तः'—निर्मम बनो, शान्त बनो। 'ब्रह्मभूयाय कल्पते'—बिल्कुल ब्रह्म जैसे हो जाओ। 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति'—हर समय तुम्हारा अन्तःकरण निर्मल रहे, प्रसन्न रहे, न कोई शोक हो, न कोई आकांक्षा हो। 'समः सर्वेषु भूतेषु'—सबके प्रति समता आजाये। इतना होनेके बाद ही 'मद्भक्तिं लभते पराम्'—पराभक्तिकी प्राप्ति होगी।

कई लोग जो कठिनाइयोंसे घबराते हैं, ऐसी भक्तिकी बात सुनकर डर जायेंगे और कहेंगे कि हमसे न तो ऐसा होगा और न हमको भक्ति मिलेगी। पर जो बहादुर हैं वे बोलेंगे कि बस बस, ऐसी भक्ति हमारे प्राप्त करने योग्य है। जो लोग बाजार जाते हैं, उनमें कई ऐसे होते हैं कि हम सस्ती-से-सस्ती चीज खरीदें और कई ऐसे होते हैं कि जिसकी कीमत सबसे ज्यादा हो, वही खरीदेंगे। भगवान्ने दोनों तरहके ग्राहकोंको अपने पास बुलाया है और कहा है कि आओ हमारे यहाँ तुम दोनोंके लिए सौदा है। वे नियम-धर्मका पालन न कर सकनेवालोंसे

कहते हैं कि यदि तुमने स्नान नहीं किया है तो कोई बात नहीं, भोजन कर लिया है तो कोई बात नहीं, तुम्हारे आचारमें दोष है तो कोई बात नहीं, मेरा नाम लेना शुरु करो, मेरी भक्ति करना प्रारम्भ करो।

असलमें साधन ऐसा होना चाहिए जो विद्वद्-भोग्य भी हो, बड़े-बड़े साधकोंके लिए भी हो और ब्रह्मज्ञानियोंके लिए भी हो। किन्तु जो दीन-हीन और पिछड़े हुए हैं उनके लिए भी उन्नति—प्रगतिकारक तथा उद्धारक हो। ऐसी वस्तु भक्ति है। वह दोनोंको लेकर चलती है, यही भक्तिकी विशेषता है। इसीका नाम भगवद्वाणी है। गीताको गीता इसीलिए कहते हैं कि वह सब प्रकारके अधिकारियोंके लिए कल्याण-कारिणी है।

अब प्रश्न उठता है कि भक्ति कहाँसे और कैसी करें? उत्तर है कि तुम जहाँ हो, वहींसे भक्ति शुरू करो। एक बात आप ध्यानमें रख लो। जहाँ ईश्वर है, वहाँसे साधना प्रारम्भ नहीं होती, जहाँ पहुँचना है वहाँसे यात्रा प्रारम्भ नहीं होती। रास्ता वहाँसे शुरू होता है जहाँ हम हैं। आपको पूर्व जाना है तो कहाँसे शुरू होगा पूर्व? जहाँ आप हैं, वहींसे पूर्व शुरू होगा। आपको पश्चिम जाना है तो जहाँ आप हैं वहींसे पश्चिम प्रारम्भ होगा।

अब बोले कि भाई, यह तो ठीक है, परन्तु भक्तिकी प्राप्तिके लिए हम कौन-सा यज्ञ करें, कौन-सा योगाभ्यास करें, कौन-सा स्वाध्याय करें और कौन-सा श्रवण-मनन-निदिध्यासन करें? इसका उत्तर है कि ये सब चीजें अभी तुमसे दूर हैं—

न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी न भक्तिमांस्त्वच्चरणारविन्दे।
अकिञ्चनोऽनन्यगतिः शरण्य त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये॥

भक्त कहता है कि हममें धर्मनिष्ठा बिल्कुल नहीं है। न जाने कितनी बार हम झूठ बोलते हैं, दूसरोंके मालकी बेईमानी करते हैं। कितनी बार हमसे हिंसा होती है, ब्रह्मचर्यका भङ्ग होता है। हममें ढूँढ़नेपर भी पूरी-पूरी धर्मनिष्ठा मिलनी मुश्किल है। आत्मज्ञान है? जब वैराग्य ही नहीं है तो आत्मज्ञान कहाँसे आवेगा? भगवान्‌के चरणारविन्दमें भक्ति है? नहीं बाबा, हममें नाना आसक्तियाँ भरी हैं—

पुत्रकी, मित्रकी, धनकी और न जाने किस-किसकी ? तब तुम भगवान्के मार्गमें कैसे चलोगे ? भक्त बोला कि देखो, एक विशेषता है हममें। हमारे पास हमारा कुछ है नहीं। देखो यहाँ शरणागतिका अधिकार! शमदमादि साधन सम्पत्ति होनेपर ही ज्ञानके मार्गमें चलना होता है। इस साधन-चतुष्टयको साधन-सम्पदा बोलते हैं। उपनिषद्में आया है कि 'श्रद्धावित्तो भूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्येत्'—( माध्यन्दिन बृहदारण्यक ७.२.२८ ) आत्मज्ञानके लिए श्रद्धाका धन चाहिए। किन्तु हम तो दोनों हाथ उठाकर कहते हैं कि हमारे पास कुछ नहीं है। अरे भाई, कोई पोटली-वोटली है ? कोई तिजोरी है ? कोई बैंक बैंलेंस है ? नहीं-नहीं, कुछ भी नहीं है, हम तो अकिञ्चन हैं। अच्छा तुम्हारे साथ कोई मुनीम होगा वह रुपया लेकर चलता होगा या कोई सेठ-साहूकार होगा जो तुम्हारी मदद करता होगा ? भक्त बोला कि नहीं-नहीं, यह सब कुछ नहीं, हम तो 'अनन्यगति' हैं, कोई दूसरी गति है ही नहीं।

अब देखो यहाँ शरणागतिका अधिकार उपस्थित हो गया। शरणागतिमें दो अधिकार माने गये हैं—अकिञ्चनत्व और अनन्यगतित्व। भगवान् आश्रित-सौकर्य-पालन हैं, जो भगवान्की ओर चलना चाहे उसके लिए नाव लेकर खड़े रहते हैं—'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्'। भगवान् कहते हैं कि यदि तुम्हारे पास कुछ नहीं है, किसीका भरोसा नहीं है, तुम्हें तैरना नहीं आता, तुममें गायकी पूँछ पकड़कर वैतरणी पार करनेकी सामर्थ्य नहीं है तो आओ हमारी गोदमें बैठ जाओ, हम तुम्हारा उद्धार करेंगे। यह है भगवान्का 'आश्रय-सौकर्य-पालन' और आश्रितकार्य निर्वाह'। वे स्वयं अपने आश्रितके काम बना देते हैं।

देखो, भगवान् जिसको जन्म देते हैं, उसको अपनी प्राप्तिके लिए साधन भी दे देते हैं। जब जीव भगवान्के पाससे चलने लगता है तब हाथ जोड़कर प्रार्थना करता है कि प्रभो! हम संसारमें जायेंगे तो आपको भूल जायेंगे। इसपर भगवान् कहते हैं कि हम तुम्हारे अन्तः-करणमें एक चुटकी चूर्ण डाल देते हैं। इसका प्रभाव यह होगा कि जबतक तुम हमारे पास लौटकर नहीं आओगे तबतक दुःख तुम्हारा पीछा करेगा। जब तुम लौटना चाहोगे तब अपने पास पहुँचनेके लिए जो उपकरण चाहिए वह मैं तुमको दे देता हूँ। ऐसा कौन-सा उपकरण है भगवन् ? आपके पास पाँवसे चलकर तो आना सम्भव नहीं होगा।

हाथ भी क्या काम करेंगे ? भगवान् बोले कि—'अरे जीभ है तुम्हारे पास ?' यह जीभ भी हमारे पास पहुँचनेका साधन है—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥

जीभसे नाम-सङ्कीर्तन करो। हाथमें केवल करनेकी शक्ति है, पाँवमें केवल चलनेकी शक्ति है, आँखमें केवल देखनेकी शक्ति है, लेकिन जीभमें बोलने और स्वाद लेने दोनोंकी शक्ति है। यह अन्य सब इन्द्रियोंसे विलक्षण है, एकमें दो इन्द्रिय हैं। इसी जीभसे मधुरवाणी द्वारा भगवान्‌के नामका, गुणका, लीलाका सङ्कीर्तन करो—'सङ्कीर्तनं भगवतो गुणकर्म-नाम्ना'—फिर देखो भक्ति कितनी आसान है। किन्तु यदि जीभ न हो तो, गूँगे हों तो क्या करें ? बोले कि 'नमस्यन्तश्च माम्'—वार-वार सिरको झुकाओ, प्रणाम करो। बड़ी आसान है भक्ति, जो सिर झुकानेसे हो जाती है, मुँहसे बोलनेसे हो जाती है, हाथ जोड़नेसे हो जाती है।

देखो, यहींसे भक्ति शुरु होती है। जहाँ हम हैं वहींसे साधन प्रारम्भ होता है। जो साधन हमारे पास नहीं हैं, वह साधन हमारे करनेका नहीं है। हमारे पास जीभ है तो जीभसे साधन करेंगे। हमारे पास आँखे हैं तो आँखोंसे देखेंगे, हमारे पास कान हैं तो कानोंसे सुनेंगे। भगवान् इन सब रास्तोंसे हृदयमें आयेंगे। यह भक्तिकी विशेषता है। भक्ति माने व्यक्तिके अन्दर भगवान्‌को अभिव्यक्ति देनेकी शक्ति, भक्ति जीवनमें भगवान्‌को जाहिर करनेकी ताकत—'भगवतः अभिव्यञ्जिका शक्तिः।' भक्तिकी यह महिमा है कि जब वह हमारे हृदयमें आती है तो अकेली नहीं आती, भजनीयको लेकर आती है—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः॥
श्रीमद्भा० ५.१८.१२

जिसके हृदयमें भगवान्‌की भक्ति आजाती है, उसकी पहचानन क्या है ? ईश्वर पर आस्था होना, एक अचिन्त्य, अनन्त, दिव्य, अदृश्य-शक्तिके प्रति श्रद्धा-विश्वास होना, उसका ज्ञान होना, उसका स्मरण होना और उसके प्रति प्रेम होना। ऐसी भक्तिके आते ही सब देवता अपने-अपने श्रेष्ठ गुणोंको लेकर उस भक्तके पास आजाते हैं। उससे भेंट

करने भी आते हैं और उसको भेंट देने भी आते हैं। 'सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः' का अर्थ यह भी है कि कान अच्छी-अच्छी बातें सुनने लगते हैं, बुरी बातें नहीं सुनते, आँखें अच्छी-अच्छी चीजें देखने लगती हैं, नासिका अच्छे गन्धको सूँघती है, जीभ अच्छी वाणी बोलती है, पाँव अच्छी जगह जाता है, हाथ अच्छा काम करता है। हमारे शरीरमें जो इन्द्रियरूप देवता हैं वे सब अपने-अपने सद्गुण धारण करके प्रकट हो जाते हैं, हमारा जीवन सद्गुण-सम्पन्न हो जाता है। 'हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथे नासति धावतो बहिः'—जिनके हृदयमें भगवान्की भक्ति नहीं है, उनके जीवनमें महद्गुण कहाँसे आयेंगे? वे तो पार्टी-बन्दी करेंगे जबकि भगवान्में पार्टीबन्दी नहीं है। वह दलका दलदल नहीं है। भगवान् तो सबके आत्मा हैं, सर्वात्मा हैं। ऐसी भक्तिका वर्णन भागवतमें भी है, गीतामें भी है। 'अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा'—भगवान् कहते हैं कि मैं सबके शरीरमें प्रत्येक व्यक्तिकी आत्मा बनकर बैठा हुआ हूँ।

'अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयानघे' (श्रीमद्भा० ३.२९.२४)—भगवान् हजार मनका भोग लगानेसे सन्तुष्ट नहीं होते। वे इससे सन्तुष्ट होते हैं कि किसीसे द्वेष मत करो। यह मत कहो कि जो हमारे मजहबमें हमारी जातिमें, हमारी पार्टीमें, हमारे दलमें है वह दूधका धुला है और दूसरे सब बुरे हैं। यह बात भक्तिमें नहीं होती। भगवान् सबके हृदयमें हैं, सबमें हैं। यही भगवान्का रूप है। इसलिए 'अर्हयेद्दान-मानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा।' सबके प्रति मित्रताका भाव होना चाहिए। सबको कुछ-न-कुछ दो, जो बने सो दो, नहीं तो सम्मान करो, मैत्रीका भाव रखो। जैसे हमारी आत्मा है वैसे ही दूसरोंकी भी आत्मा है—यह ध्यान रक्खो।

अब आप भगवान्की यह बात देखिये—'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन!' यह अपूर्व है, स्वर्णाक्षरोंमें लिखने योग्य है। इसमें भगवान् कहते हैं कि 'अर्जुन, मैं अमृत हूँ और मृत्यु भी मैं ही हूँ।' अमृतमें भी भगवान्, मृत्युमें भी भगवान्। मृत्युसे तो नव-नवायमान अमृतकी उपलब्धि होती है, परन्तु उसके बाद जो है वह आपको कहीं जल्दी नहीं मिलेगा। कितना आश्चर्यजनक है भगवान्का यह कथन कि 'सदसच्चाहमर्जुन'—सत् भी मैं ही हूँ और असत् भी मैं ही हूँ। सत् भी

भगवान् असत् भी भगवान् । इसलिए तुम अपने हृदयको भगवान्से भर लो । 'सदसत् तत् परं यत्'—सत् असत्से परे भी वही और 'न सत् तन्नासदुच्यते'—उसको न सत् कह सकते हैं, न असत् कह सकते हैं । ऐसा भगवान् आपको कहाँ मिलेगा, जिसको आप सत्, असत् दोनोंमें देख सकें । गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि—'सर्व सर्वगत सर्व उरालय'—भगवान् सब हैं, सबमें हैं और सबके हृदयोंमें रहते हैं । ऐसे भगवान्की भक्ति जब हृदयमें आती है तो स्पर्द्धा, असूया, तिरस्कार और अभिमान ये चार दोष तुरन्त निवृत्त हो जाते हैं ।

जहाँ भगवद्दर्शन होने लगा, वहाँ किसीसे यह होड़ नहीं लगेगी कि यह हमसे आगे कैसे बढ़ेगा ? होड़को ही स्पर्धा कहते हैं । असूया कहते हैं दूसरेके गुणमें दोष देखनेकी प्रवृत्तिको—'परगुणेषु दोषाविष्करणम्'—यह अपराध है । तिरस्कार वह है जिसकी भावना आनेपर हम कहते हैं कि हट-हट तू नीच है । एक बार स्वयं शङ्कराचार्यने एक चाण्डालको कह दिया था कि 'दूरं गच्छ'—दूर हटो । इसपर उस चाण्डालके भीतरसे शङ्करजी बोल पड़े—'दूर हटो' किसके लिए बोल रहे हो ? देहको दूर हटाना चाहते हो या देहीको दूर हटाना चाहते हो ? देह तो हमारा और तुम्हारा अन्नमय कोश है, एक ही है, मिट्टी, पानी आगसे बना हुआ है । किन्तु देहीमें तो भेद ही नहीं है । फिर तुम किसको हटाना चाहते हो ? अब श्रीशङ्कराचार्यजीकी आँख खुली, उन्होंने देखा और बोले कि 'बस-बस महाराज, मैं आपको पहचान गया ।' तो भक्ति वह चीज है, जो स्पर्द्धाको असूयाको तिरस्कारको और अहंकार अर्थात् अपने बड़प्पनके अभिमानको मिटा देती है !

अब आप यह देखिये कि ज्ञान किसको कहते हैं ? यह बात पहले बतायी जा चुकी है कि 'ज्ञानस्य या पराकाष्ठा सैव भक्तिः प्रकीर्तिता'—ज्ञानकी जो पराकाष्ठा है, उसका नाम भक्ति है । असलमें दोनोंका लक्ष्य एक ही है, चाहे प्रीति विशिष्ट वृत्तिके द्वारा उसका अनुसन्धान करो, चाहे प्रमाण-विशिष्ट वृत्तिके द्वारा उसका अनुसन्धान करो । ज्ञान होता है प्रमाण-वृत्ति विशिष्ट और प्रमा होती है यथार्थ-अनुभव-वृत्ति-विशिष्ट । ज्ञान प्रमाणको प्रधानतासे होता है और अपने भजनीयकी प्राप्ति प्रीतिविशिष्ट वृत्तिके द्वारा होती है । प्रेम लबालब भरी हुई वृत्तिसे ही भगवान्की प्राप्ति होती है ।

अब आओ, गीतामें इसका अनुसन्धान करें। जैसा कि कहा जा चुका है गीता छोटेके लिए भी है, बड़ेके लिए भी है, सबके लिए है। इसमें एक ऐसा प्रश्न है जिसकी व्याख्या करनेके लिए बड़े-बड़े विद्वानोंको थोड़ा-थोड़ा हेर-फेर करना पड़ा, क्योंकि जितने भी मजहब हैं वे कहते हैं कि जो हमारे शास्त्रको नहीं मानेगा वह हमारे मजहबका नहीं है। आपने सुना ही होगा कि जो बाइबिलको न माने वह ईसाई कैसा? ईसाई मजहबमें उसके लिए कोई माँग नहीं है। आपने यह भी सुना होगा कि जो कुरानको न माने वह मुस्लिम कैसा? उसके लिए मुस्लिम मजहबमें खुदाका रास्ता बन्द है; वह तो काफिर है और दोजखमें जायेगा। वैदिक लोग भी यह कहते हैं कि जो वेदको नहीं मानता, उसका क्या पूछना। वह तो सर्वधर्म-बहिष्कृत है।

किन्तु गीताने इस बातपर दृष्टि डाली है और टीकाकारोंको उसमें बुद्धि लगानी पड़ी है। आप गीता पढ़ते होंगे और न पढ़ते हों तो जरूर पढ़ें। अधिक न पढ़ें तो आप एक नियम यह ले लें कि केवल दो श्लोक रोज पढ़ेंगे। इस तरह एक वर्षमें गीता पूरी हो जायेगी। आप गीतामें यह श्लोक देखिये—

> ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
> तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहोरजस्तमः॥

अद्भुत प्रश्न है। इसका जैसा उत्तर गीतामें दिया गया है, वैसा दुनियाके किसी भी मजहबमें—किसी भी पन्थमें नहीं मिलेगा। इसमें अर्जुन पूछते हैं कि जो शास्त्रविधिका परित्याग कर देते हैं, उनका क्या हाल होगा? उनकी अन्तिम गति क्या होगी? 'उत्सृज्य'का अर्थ मैं क्या सुनाऊँ, वह आचार्योंके विरुद्ध पड़ता है। किन्तु उत्सृज्यका अर्थ होता है जान-बूझकर फेंक देना। अब आप देखें कि कोई किताबी मजहब किताब छोड़नेको कितना बड़ा अपराध मानता है। किताब छोड़नेवालोंमें भले ही श्रद्धा हो, लेकिन वह श्रद्धाको बड़ा सद्गुण नहीं मानेगा। किन्तु गीताका कहना है कि भले ही किसीने किताब छोड़ दिया, किन्तु उसके हृदयमें तो श्रद्धा है—'यजन्ते श्रद्धयान्विताः।' हम उस दिलको देखते हैं, उस हृदयको देखते हैं जिसमें श्रद्धाका निवास है।

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेतितां शृणु ॥

स्वाभाविक श्रद्धा भी सात्त्विक होती है और वह जिसके हृदयमें है, उसकी ऊर्ध्व गति होती है—'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः। भगवान् किताब नहीं देखते, लाल-पीला कपड़ा नहीं देखते, चन्दन माला नहीं देखते, भगवान् देखते हैं—हृदय। इस संसारमें भी सहृदय पुरुष हृदय ही देखते हैं। भगवान् तो सहृदयोंके शिरोमणि हैं और कहते हैं कि स्वाभाविक श्रद्धा, सात्त्विक श्रद्धा जिसके हृदयमें है, जो श्रद्धालु है, वह शास्त्रविधिको छोड़ भी दे तो उसकी श्रद्धा उसको ऊपर उठाकर ले जायेगी। यह श्रद्धा भक्तिकी माँ है। श्रद्धासे भक्ति प्रारम्भ होती है। 'आदौ श्रद्धा ततः सङ्गः ततोऽस्ति भजनक्रिया'—पहले श्रद्धा होती है, उसके बाद सत्सङ्ग होता है और जब सत्सङ्ग होता है तब भजन होता है। जब भक्तिकी आदि—जननी, भक्तिकी दादी, भक्तिकी नानी श्रद्धा तुम्हारे हृदयमें है तो कभी-न-कभी उस श्रद्धाकी पौत्री भी आयेगी, दौहित्री भी आयेगी।

तो शास्त्रहीन व्यक्तिके लिए भी कल्याणका मार्ग बतानेवाली भगवद्गीता है और वह कहती है—

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

भगवान्‌को भक्ति द्वारा 'अभिजानाति–अभितः जानाति, आभिमुख्येन जानाति।' भगवान् हजारों बार, लाखों बार, करोड़ों बार देखे हुए हैं। वे सबके हृदयोंमें बैठे हुए हैं, सबके रूपमें प्रकट हैं, परन्तु अभिमानका लोप हो गया है। मुहर खो गयी है। तब हम क्या करें? गीताका कहना है भक्ति करो। जब भगवान्‌में भक्ति होगी तो अभिज्ञान, ज्ञान तो अपने आप ही आजायेगा। जब तुम श्रद्धापूर्वक, रुचिपूर्वक, प्रीतिपूर्वक भगवान्‌का अनुस्मरण करोगे तो क्या भगवान् तुम्हारे हृदयमें नहीं प्रकट होंगे?

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

: ४ :

अम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम् ।

अब आप गीताकी एक विशेषतापर ध्यान दीजिये। धर्मात्माओंने धर्मको यज्ञशालामें, भक्तोंने भक्तिको मन्दिरमें, योगियोंने योगको गुफामें और ज्ञानियोंने ज्ञानको झोपड़ीमें ले जाकर रख दिया। परन्तु गीताकी विशेषता यह है कि उसने धर्मको हमारी दुकानमें, हमारे घरमें, हमारी सड़कमें, हमारे रोजमर्राके काम-काजमें लाकर रख दिया भक्तिको गीताने मन्दिरमें ही नहीं छोड़ा, युद्ध-भूमिमें भी लाकर खड़ा कर दिया। गीता कहती है कि 'मामनुस्मर युद्धय च' मेरा अनुस्मरण करते हुए युद्ध करो। इसी तरह गीता 'समत्वं योग उच्यते, सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा, योगः कर्मसु कौशलम् आदि वचनों द्वारा योगको कर्म-क्षेत्रमें पहुँचा देती है और कहती है कि कर्म करनेकी कुशलता इसीमें है कि सफलता-विफलतापर ध्यान न देकर अपने कर्त्तव्यका पालन करते जाना चाहिए।

ज्ञानको गीताने ऐसी जगहपर रखा है कि यदि युद्ध कर्तव्य हो तो युद्ध करो और युद्धमें मारना पड़े तो मार भी डालो। हमारा ज्ञान ऐसा है कि—हिंसा-अहिंसा दोनोंसे ऊपर है। अहिंसामें तो रहता ही है, अहिंसा और उपशान्ति तो परम धर्म है ही, लेकिन यदि कभी काम पड़ जाये तो जैसे शङ्करजी त्रिलोकीका, लोकत्रयका संहार कर देते हैं, वैसे ही यदि संहार भी करना पड़े तो ज्ञानको कोई हानि नहीं होती। गीताके इस वचनपर ध्यान दीजिये—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते ॥

इसमें श्रीकृष्ण यह नहीं कहते कि तीनों लोकोंको मार डालो, अपितु यह कहते हैं कि किसीकी हिंसा न हो तब तो कहना ही क्या, परन्तु यदि कदाचित् शङ्करजीके तीसरे नेत्रके समान संहार-शक्तिका भी प्रयोग

करना पड़े तो लोकत्रयका संहार करके भी 'न हन्ति न निवध्यते' न वह मारनेवाला है और न मरनेवाला है।

इस तरह गीता ज्ञानको ले आयी युद्धभूमिमें, भक्तिको ले आयी युद्धभूमिमें। युद्धभूमि माने कर्मक्षेत्र, जहाँ हम लोग रहते हैं। जो साधन, जो भावनाएँ हमसे दूर पड़ गयी थीं, उनको हमारे जीवनमें लाकर बैठा देना—यह गीताकी विशेषता है। समाधिमें भगवान्‌को देखो—यह गीताका उपदेश नहीं है। गीताका उपदेश तो यह है—'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।' अन्तमें कह दिया कि 'सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।' (६.३१) योगी समाधिस्थ नहीं है, गुहामें स्थित नहीं है, बल्कि अपने कर्त्तव्यका ठीक-ठीक पालन कर रहा है और वह मुझमें ही सब काम कर रहा है।

गीताकी यही अपूर्वता है कि जो बात और कहीं नहीं कही गयी, वह भगवान् श्रीकृष्णने युद्धभूमिमें कह दी है—वह भी उस स्थितिमें जब कि घोड़ोंकी बागडोर हाथमें पकड़े हुए हैं, रोते हुए अर्जुन सामने हैं और दोनों ओरसे हथियार चलनेवाले हैं। इस प्रकार हमारे जीवनका सम्पूर्ण निर्माण करनेके लिए ही इस भगवती गीताका आविर्भाव हुआ है। इसीलिए भक्त कहता है कि—'अम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्' ओ मेरी माँ, अम्ब, वर्णमयी, शब्दमयी, वाक्यमयी गीता माँ, आओ मैं तुम्हारा अनुसन्धान और ध्यान करता हूँ।

अब आपको संक्षेपमें एक बात और सुनाता हूँ। गीताका ज्ञान नहीं है कि उससे जीवनमें दुःख आवे ही नहीं अथवा दुःखका भान ही न हो। गीता कोई नशा नहीं है कि इसको पी लोगे तो तुमको दुःख मालूम नहीं पड़ेगा। गीताका कहना तो यह है कि जीवनमें दुःख आते ही रहते हैं, परन्तु उन आते हुए, बहते हुए, मालूम पड़ते हुए, दुःखोंसे उद्विग्न और व्याकुल नहीं होना चाहिए।

मैं आपको पहले भी सुना चुका हूँ कि गीता श्रीकृष्णके अनुभवकी पोथी है। ऐसा कौन-सा दुःख है जिसको उन्होंने अपने जीवनमें नहीं देखा? जेलखानेमें उनका जन्म हुआ, जन्म होते ही उन्हें छिपाकर पराये घरमें ले जाया गया और वहीं रख दिया गया। राजघरानेके लड़केको गायें चराकर रहना पड़ा, माखन चोरी करके खाना पड़ा।

कोई जहर पिलाने आता है, कोई छकड़ासे दबाने आता है और कोई ववण्डरमें उड़ाने आता है। कहीं उसके ऊपर पेड़ गिर पड़ता है, कहीं बछड़ेमें-से राक्षस निकल आता है और कहीं उसको अपने हाथपर पहाड़ उठाना पड़ता है। उसे अपने मामाको अपने हाथों मारना पड़ा। उसके माँ-बाप जेलखानेमें रहे। जब दुश्मनने चढ़ाई की तो कई बार जीत गये, परन्तु बादमें गाँव छोड़कर भागना पड़ा। कहाँ मथुरा और कहाँ गिरिनार स्थित मुचकुन्दकी गुफा! लेकिन भागते-भागते वहाँ पहुँच गये। जरासन्धके पीछा करनेपर जब द्वारकाकी ओर भागे तो पाँवमें पादुका भी नहीं थी, सिरपर पगड़ी भी नहीं थी। एक पीताम्बर पहने हुए नङ्गे पाँव भागना पड़ा और भाग-भागकर साधुओंके आश्रममें प्रसाद खाना पड़ा। कई दिनोंतक पहाड़में छिपकर रहे, लेकिन दुश्मनोंने वहाँ आग लगा दी तो कूदकर जान बचानी पड़ी। निवासके लिए उन्हें समुद्रके बीचमें बस्ती बसानी पड़ी, वहाँ भी क्या-क्या नहीं हुआ? वहाँ उनका बच्चा प्रद्युम्न दस दिनका भी नहीं होने पाया था कि शम्बरासुरने उसका अपहरण कर लिया। ससुर सत्राजितके घरपर मणिके लिए डाका पड़ा और वे मारे गये। जो उनके बड़े भारी भक्त थे, वे मणि लेकर दूसरे शहरमें चले गये। बड़े भाई बलरामजीका मणिके बारेमें श्रीकृष्णपर अविश्वास हो गया। पत्नियाँ चाहती थीं कि केवल हमारे ही घरमें रहें, दूसरोंके घरमें न रहें, छीना-झपटी होती थी। बाल बच्चोंका यह हाल कि एक भी बेटा बापका, श्रीकृष्णका, आज्ञाकारी नहीं निकला, एक भी पौत्र आज्ञाकारी नहीं निकला। श्रीकृष्ण स्वयं तो साधु महात्माओंपर श्रद्धा करते थे किन्तु उनके बच्चे हँसी उड़ाते थे। खान-पानमें भी श्रीकृष्णका कोई अनुयायी नहीं निकला। लेकिन इन प्रतिकूलताओंका श्रीकृष्णपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वे मुस्कुराते हुए आये और मुस्कुराते हुए अन्तर्धान हो गये। उनका जीवन आदिसे अन्ततक संघर्षोंकी लम्बी कहानी है, उसमें उनके अनुभवोंका विशाल भण्डार है और वे ही अनुभव गीताके रूपमें प्रकट हुए हैं।

अब देखो ज्ञान क्या है? क्या वेदान्तकी बड़ी-बड़ी पोथियाँ पढ़ लेना अद्वैतसिद्धि, खण्डनखण्डखाद्य आदि ग्रन्थोंका स्वाध्याय कर लेना, घटाकाश, मठाकाशकी एकता कर लेना और अन्तःकरणोपाधिक तथा

मायोपाधिक चैतन्यकी एकताकी चर्चा कर लेना ही ज्ञान है ? ज्ञान तो ऐसा होना चाहिए जो हमारे रोज-रोजके जीवनमें आचरण करने योग्य हो। यही बात हमें गीता बताती है।

अब आइये; आप गीताके सिद्धान्तपर ! भक्ति और ज्ञानका समन्वय तभी होगा जब हम इन दोनों विषयोंको अलग-अलग अच्छी तरह समझ लेंगे। यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि भक्ति और ज्ञान दोनों विषयोंमें वेद-शास्त्रको प्रमाण माना जाता है, सन्तको आज्ञाके अनुसार चलना पड़ता है और सदाचारका पालन करना पड़ता है। आप भक्त बनें या ज्ञानी, सदाचारका पालन किये बिना किसीमें भी प्रगति नहीं कर सकते। चाहे भक्तिके रूपमें 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च' को लीजिये और चाहे ज्ञानके रूपमें 'अमानित्वं अदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्' को लीजिये, दोनोंमें सदाचार और सद्भावकी आवश्यकता होती है। सदाचार और सद्भावके बिना न भक्ति बढ़ेगी और न ज्ञान बढ़ेगा।

जितने भी साधन होते हैं वे चेतनाको जाग्रत करनेके लिए ही होते हैं। उन साधनोंका यही लक्ष्य होता है कि हमारे शरीरमें जो चेतना है, वह चाहे जाग जाये, चाहे जागकर निष्पाप हो जाये, चाहे भगवान्‌से मिल जाये और शान्त हो जाये। चेतना धर्मसे निष्पाप होती है, भक्तिसे भगवान्‌में मिलती है, योगसे अपने स्वरूपमें स्थित होती है और ज्ञानसे अपनी पूर्णताका अनुभव करती है। यदि कोई आलस्य, प्रमाद और निद्रामें पड़ा रहता है अकर्मण्य या निकम्मा हो जाता है तो उसकी चेतना जागेगी नहीं, सो जायेगी और जब चेतना सो जायेगी तो वह व्यक्ति जड़तासे एक हो जायेगा। दो छोर हैं, एक ओर जड़ता है और दूसरी ओर पूर्णता है। यह देखना आपका काम है कि आप अपनी चेतनाको जड़तासे मिलाना चाहते हैं या इसको जाग्रत्, मन्त्र चैतन्य करके पूर्णतामें मिलाना चाहते हैं ?

श्रीकृष्णको, उनकी गीताको यह सर्वथा नापसन्द है कि कोई भी व्यक्ति अकर्मण्य हो जाये। इसीलिए वे कहते हैं कि 'मा ते सङ्गोऽस्त्व-कर्मणि'—मेरे प्यारे मित्र अर्जुन, निकम्मा मत बनो। निकम्मापन शैतानका घर होता है। जितनी भी बुराइयाँ हैं, वे निकम्मे मनमें ही उत्पन्न होती हैं। जब कोई कर्तव्य सामने नहीं रहता, मन खाली रहता

है तब उसमें बुराइयाँ पैदा होती हैं। इसलिए आप भी श्री कृष्णकी इस बातपर ध्यान दो कि आपके जीवनमें अकर्मण्यता न आने पाये।

अब कर्मकी बात लो। हम आपको जो कुछ सुना रहे हैं, उसको क्रमसे ही सुना रहे हैं। इसमें मनोरञ्जन या कहानी-चुटकुलेकी बात नहीं है। इसलिए आप थोड़ा ध्यान रक्खो।

आपने निकम्मापन तो छोड़ दिया और काम करने लगे! अब आप यह देखिये कि जो काम कर रहे हैं वह निषिद्ध है या विहित है? आपको जो नहीं करना चाहिए वह काम कर रहे हैं? निषिद्ध कर्मकी पहचान यह है कि वह वासनाके वेगमें होता है। जब काम प्रबल हो जाता है, तब व्यभिचारकी ओर प्रवृत्ति होती है। जब क्रोध प्रबल हो जाता है, तब हिंसामें प्रवृत्ति होती है। जब लोभ प्रबल हो जाता है, तब चोरी-बेइमानीमें प्रवृत्ति होती है। निषिद्ध कर्म करनेका अर्थ है वासनाके वेगमें बहना। यदि आपको अपनी वासनापर कोई नियन्त्रण नहीं है तो आपकी इन्द्रियाँ आपको अधोगतिके मार्गपर ले जायेंगी—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥

इसलिए आप कभी निकम्मे मत रहो। काम करो, लेकिन काम-क्रोध-लोभ-मोहके अधीन होकर काम मत करो, निषिद्ध कर्म मत करो। वह कर्म करो जो शास्त्रमें आपके लिए विहित है। विहित कर्म भी उद्देश्यको सामने रखकर किये जाते हैं। यदि आप स्वर्ग पानेके लिए विहित कर्म करते हैं तो वे सकाम हो गये। विहित कर्मोंके लिए शास्त्रोंमें निर्देश है, उन्हें करना चाहिए, परन्तु यदि उनका उद्देश्य स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्ति ही है तो वे श्री कृष्णको, उनकी गीताको नापसन्द है—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीतिवादिनः॥

क्योंकि विहित कर्मोंके फलस्वरूप होनेवाली स्पर्शादिकी प्राप्ति भी जन्म और मृत्युके फन्देमें फँसानेवाली चीज है। कर्म करोगे उससे स्वर्गमें जाओगे और जब वहाँ फल भोग पूरा हो जायेगा तो जैसे-पैसा खत्म होनेपर होटलसे निकाल दिये जाते हैं, वैसे ही आपके पुण्यकी पूँजी नहीं रहेगी तो आप स्वर्गसे निकाल दिये जाओगे। 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके

विशन्ति'—पुण्यका क्षय होनेपर फिर मर्त्यलोकमें आना पड़ेगा और यदि यहाँ पुनः सत्कर्म नहीं करेंगे तब तो पूछो ही मत, पहले जैसे स्वर्गमें गये थे वैसे ही अविहित कर्मोंके फलस्वरूप नरकमें जाना पड़ेगा।

'अदत्तदानश्च भवेद् दरिद्रः।'—जो दान-धर्मका अनुष्ठान नहीं करते वे दरिद्र होते हैं। दरिद्रावस्थामें दूसरोंकी सम्पदा देखकर ईर्ष्या होती है, चोरी बेइमानी करते हैं, पाप करते हैं, पापके प्रभावसे नरकमें जाते हैं, नरकसे निकलते हैं तो फिर दरिद्र होते हैं और दरिद्र होते हैं तो फिर पापी होते हैं।' इसलिए अपनेको सम्हाल करके सत्कर्ममें लगाना चाहिए, वासनाके वेगसे बचना चाहिए।

अब देखो, निकम्मापन गया, निषिद्ध कर्म गया, सकाम कर्म गया और बारी आयी सत्कर्मके अनुष्ठानकी। यहाँ प्रश्न उठता है कि सत्कर्म कैसे करें, किस उद्देश्यसे करें? सत्कर्म करनेके तीन तरीके हैं—एक तो प्रायश्चितके लिए, दूसरे अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए और तीसरे ईश्वरकी प्रसन्नताके लिए। इन उद्देश्योंको सामने रखकर आप अपने कर्त्तव्य कर्मका पालन अवश्य कीजिये।

अब यहाँ कर्त्तव्य तो रह गया और कामना चली गयी। किन्तु इसमें भी कुछ भेद होते हैं। कई लोग कर्म तो छोड़ देते हैं, किन्तु मनमें कामना रखते हैं और उसको पूरी भी करना चाहते हैं। ऐसे लोगोंके बारेमें कहना है कि वे ढोंगी हैं—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

यदि आप कर्म छोड़ देंगे और वासना रखेंगे अथवा वासना छोड़ देंगे और कर्म रखेंगे, तो यहाँ कर्मके दो भेद हो गये। वासना और कर्म दोनों रखेंगे तो सकाम कर्म होगा तथा वासना रखेंगे और कर्म नहीं करेंगे तो ढोंग हो जायेगा। किन्तु यदि वासना मिटाकर अपने कर्त्तव्य कर्मका पालन करेंगे तो उसका नाम योग हो जायेगा। यह विषय ऐसा है जो विस्तारकी अपेक्षा रखता है, यहाँ इतना समय है नहीं, इसलिए हम संक्षेपमें इसको पूरा करके आगे बढ़ते हैं। कर्ममें कर्तापनका अभिमान कर्मको हमारे साथ जोड़ देता है। यदि अभिमान नहीं हो तो कर्म हमारे

साथ जुड़ेगा नहीं। अतः भाई, करते चलो, करते चलो; पीछे लौटकर देखनेकी जरूरत नहीं है—'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।' जब हम कर्ताकी ओर देखते हैं तब दो बातोंकी ओर ध्यान जाता है—एक तो कर्तृत्वाभिमानी मैं-की ओर दूसरे ईश्वरकी ओर। यह सारी सृष्टि मैंने नहीं, ईश्वरने बनायी है—

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय॥

सारी सृष्टिका कर्ता ही वास्तविक कर्ता है। जिसने माटी बनायी वही कर्ता है, किन्तु जिसने माटीका खिलौना बनाया, वह क्या है? खिलौना बनानेवाला तो आकार-कर्ता है। खिलौना आकृति है और माटी मैटर है। मैटर सारा-का-सारा ईश्वरका बनाया हुआ है। उसमें आकृति बनानेका काम जीव करता है।

अब यहाँ देखो, माटी छूटनेसे कोई नहीं रोता, लेकिन खिलौना फूटनेसे बच्चे रोने लगते हैं। यह माया है। इसका अर्थ हुआ कि एक ईश्वर-सृष्टि है और एक जीव-सृष्टि है। ईश्वरने यह सारी सृष्टि बनायी है और इसमें जो मैं-मेरा है, यह जीवका बनाया हुआ है। दुःखका निवास ईश्वरकी बनायी चीजमें नहीं है। जो सृष्टि प्रकृति बनाती है अथवा ईश्वर बनाता है उसमें दुःख नहीं है। उसके साथ जो मैं-मेराका सम्बन्ध है, वही दुःख है। जितना भी दुःख है, वह सब-का-सब अविवेक-मूलक है।

अब जरा कर्मके कर्त्तापर ध्यान दो। जैसा कि पहले कहा गीता स्पष्टरूपसे कहती है कि ईश्वर कर्त्ता है, जीव कर्त्ता नहीं है। यह बात जब आप गीता पढ़ेंगे और उसके तत्त्वज्ञान-प्रसङ्गपर ध्यान देंगे तो आपको साफ-साफ मिलेगी। 'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः' प्रकृतिके जो सत्त्व, रज, तम गुण हैं वे कर्म करते हैं, आत्मा नहीं; प्रकृति कर्म करती है जीवात्मा नहीं। यह बात जरा जनसामान्यकी समझसे ऊपर उठ जाती है, परन्तु समझनेका प्रयास करना चाहिए। कर्त्तापनका अभिमान ईश्वरकी ओर नहीं देखनेसे और अपने आत्माका अनुभव नहीं करनेपर ही होगा। जब दृष्टि बीचमें अटक जाती है तभी कर्त्तापनका अभिमान होता है—

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

ईश्वर सबके हृदयमें बैठा हुआ है और वह यन्त्रारूढ़को, जीवको मायासे घुमाता है। इससे सिद्ध है कि आत्मा अकर्ता है। हम इस प्रसंगको ज्यादा नहीं बढ़ाना चाहते, शुरूमें ही एक बात कह दी गयी है—

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥

अर्जुन, तुम जो समझते हो कि मैं मारता हूँ या मैं अपनेको मृत्युका विषय बनाता है, यह ठीक नहीं है। तुम अपने अविनाशी आत्माको समझो। न तुम्हारे अन्दर वधकी योग्यता है और न वधका कर्तृत्व है। न तुम मरोगे न मारोगे। यदि कहो कि भई, हम अपने आत्माको नहीं जानते तो नहीं जाननेपर क्या होगा—यह समझ लो—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥

इसमें भक्ति भी है, ज्ञान भी है। भक्ति और ज्ञानमें कोई भेद नहीं है। एकका कहना है कि कर्म ईश्वरकी प्रेरणासे होता है, तुम कर्ता नहीं हो और दूसरेका कहना है कि कर्म मायासे, प्रकृतिसे, अविद्यासे होता है, तुम कर्ता नहीं हो। दोनों अलग-अलग बात नहीं बोलते, एक ही बात बोलते हैं। ज्ञान बोलता है कि अपना आत्मा—'न करोति न लिप्यते' न कर्ता है और न भोक्ता है। यही बात भक्तिमें भी ज्यों-की-त्यों है। वह कहती है कि 'अहं न करोमि'—मैं नहीं करता, ईश्वर करता है।

करी गोपालकी सब होय।
जो अपनो पुरुषारथ मानत अति मूरख है सोय ॥

तो भक्तिमें भी वही बात हो गयी—'अहम् अकर्ता द्रष्टा असङ्गः' अर्थात् मैं अकर्ता हूँ, द्रष्टा हूँ, असङ्ग हूँ।

तो, ज्ञान और भक्ति दोनों ही हमको कर्मके अभिमानसे छुड़ाते हैं।

दोनों वेदशास्त्रोंके अनुसार हैं, दोनोंमें सदाचार है, सद्भाव है और दोनों कर्मके वन्धनसे छुड़ानेवाले हैं। कहीं-कहीं तो भक्ति और ज्ञानकी एकता बिल्कुल साफ-साफ है। आप नवें अध्यायमें देखें। एक ओर भक्ति बोलती है तो दूसरी ओर ज्ञान बोलता है। ऐसा लगता है कि दोनों साथ-साथ दो मित्रोंकी तरह या प्रेयसी-प्रियतमकी तरह आपसमें खड़े होकर संवाद कर रहे हैं। भगवान् दोनोंकी ओर बोलते हैं। उदाहरणके तौरपर देखिये—

'मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः। न च मत्स्थानि भूतानि।' ज्ञानकी ओरसे बोलते हुए भगवान् कहते हैं:

'मत्स्थानि सर्वभूतानि'—ये सब प्राणी, सारे पदार्थ मुझमें स्थित हैं और भक्तिकी ओरसे बोलते हुए कहते हैं—'न च मत्स्थानि भूतानि' अर्थात् मुझमें कुछ नहीं है। सारी विश्व-सृष्टि भगवान्के अन्दर है। यह परस्पर विरोधी कथन कितना अटपटा है। एक बार तो यह कह दिया कि सब मुझमें स्थित हैं और दूसरी बार यह कहा कि सब मुझमें स्थित नहीं है। परन्तु यह तो साक्षात् भगवान्की वाणी है जो एक दूसरेके विरुद्ध प्रतीत होती हुई भी एक है। जब ज्ञान और भक्ति दोनों भगवान्के सामने खड़े हुए तो भगवान्ने कहा कि बोलो क्या कहते हो? भक्तिने कहा—सब कुछ आपमें, ज्ञानने कहा कि नहीं, आपमें कुछ भी नहीं। भगवान् बोले कि तुम्हारी बात भी सही, मेरी बात भी सही, दोनोंकी बात सही। आपको याद होगा कि जब श्रीकृष्णने मिट्टी खायी थी तब ग्वालबालोंने कहा कि इसने मिट्टी खायी है, बलरामने भी कहा इसने माटी खायी है। इसपर यशोदाने कहा कि अब बोल, तूने माटी क्यों खायी? तो भगवान् दोनों ओरसे बोलते हैं, भागवतमें ऐसा पद प्रयुक्त है—'नाहं भक्षितवान् अम्ब'—मैया मैंने माटी नहीं खायी। आगे कहते हैं कि 'सर्वे मिथ्याभिशंसिनः, सर्वे अमिथ्याभिशंसिनः'—ये सबके सब झूठ बोल रहे हैं, सबके सब सच बोल रहे हैं। दाऊ सामने आजायँ तो कहें कि हाँ भैया खायी, मैया कहे तो बोलें कि नहीं खायी। मैयाका स्नेह है उससे डरते हैं, कहते हैं कि नहीं खायी और दाऊसे भी डरते हैं कहते हैं कि हाँ भैया, तुम ठीक कहते हो। यहाँ देखो ग्वाल-बालोंकी नजरमें भगवान्ने माटी खायी तो बोलते हैं कि हाँ खायी और अपनी नजरमें भैयासे बोलते हैं कि नहीं खायी। जीवोंने देखा कि ईश्वर

खाता है तो ईश्वरने भी कहा कि हाँ-हाँ, जो लाओ सो खानेको तैयार हूँ। गीता भी बोलती है—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

अरे बाबा, प्रेमसे कुछ ले आओ, पत्ता ही लाओ—तुलसीदल खा लूँगा, बेलपत्र भी खा लूँगा, फूल भी खा लूँगा, फल भी खा लूँगा, पानी भी पी लूँगा। मैं तो सब कुछ खाने-पीनेको तैयार हूँ। लेकिन दूसरी जगह बोल दिया—

नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥

यह है गीताका भगवान्! यह है भगवती गीता! गीता कामधेनु है और भगवान् कल्पवृक्ष हैं। तुम जो भी भावना लेकर इनके पास पहुँचोगे, वह पूरी होगी। गीता मातासे कहो कि माँ! हमको कुछ ड्यूटी बताओ। वह कहेगी कि बेटा कर्म करो, तुम्हारा यही कर्तव्य है। लेकिन यदि तुम्हारी रुचि कर्ममें नहीं है और तुम कहो कि मैं तो प्रेम ही करूँगा तो गीता मैया कहेगी कि अच्छा प्रेम ही करो। यदि तुम कहो कि मैं तो आँख बन्द करके योगाभ्यास करूँगा तो कहेगी कि ठीक है वैसा ही करो। तुम कहो कि मैं तो घटाकाश, मठाकाशका प्रमाण-मूलक विचार करूँगा, उससे प्रमा होगी और भ्रमकी निवृत्ति होगी तो कहेगी कि हाँ ऐसा ही करो। यह माँ है। जिस बेटेकी जैसी रुचि होती है उसकी वैसी ही पूर्ति करती है। इसीलिए भक्त बोलते हैं कि 'अम्ब त्वामनुसन्दधामि'—गीता, तुम मेरी मैया हो। मैं तेरी ओर देख रहा हूँ, मैं तेरा अनुसन्धान कर रहा हूँ।

अब ज्ञान और भक्तिके कर्मकी बात भी देखो। कई लोग कहते हैं कि मैं कर्ता तो नहीं हूँ, परन्तु अकर्ता हूँ। इस वृत्तिको मायामल बोलते हैं। कर्तापनके भ्रमको मिटानेके लिए अकर्तापन अध्यारोपित किया गया है। यह वेदान्तका सिद्धान्त है। अकर्तापनका आश्रय लोगे तो कर्तापन-को भ्रान्ति मिट जायेगी और यदि 'मैं अकर्ता हूँ'—इसको धारण करोगे तो यह तुम्हारे ऊपर बोझ हो जायेगा। तब तो फिर बैठो समाधिमें और मैं अकर्ता हूँ, मैं अकर्ता हूँ-का ध्यान करो। कबतक करोगे? मैं अकर्ता

हूँ—ऐसा सोचना भी बुद्धिका एक कर्म है। वह भी एक विक्षेप है, समाधि नहीं है। समाधिमें कौन सोचेगा कि मैं अकर्ता हूँ।

यदि कहो कि अपना आत्मा तो ऐसा है, जो कर्ममें भी रहता है और समाधिमें भी रहता है—समाधिमें भी ज्यों-का-त्यों रहता है और कर्ममें भी ज्यों-का-त्यों रहता है। तो यह ठीक है। जब ज्यों-का-त्यों आगया तब जो कर्मका निषेध था, वह अपने आप ही कट गया। जो रणभूमिमे है, वही अरण्यभूमिमें है, जो विक्षेपमें है वही समाधिमें भी है। फिर अपने कर्तव्यका त्याग क्यों करते हो ? यही गीताका ज्ञान है। यह आपको जंगलमें भेजनेके लिए नहीं है, जहाँ आप हैं, वहीं मंगल करनेके लिए है। अर्जुनका मंगल रणभूमिमें ही हुआ जंगलमें नहीं हुआ।

एक सज्जनने अर्जुनकी मुक्तिके सम्बन्धमें लिखकर भेजा है। यदि वे मिल लेते तो बात करनेमें सुविधा होती। यह समझनेकी बात है कि अर्जुनके तीन रूप हैं—नररूप, नर-नारायणरूप और नित्यमुक्त रूप। उसका कभी बन्धन हुआ ही नहीं, वह इन्द्रांश है, आधिकारिक पुरुष है। वह शरीर छोड़नेके बाद भी स्वर्गमें जाता है और जबतक उस इन्द्रका मन्वन्तर रहता है तबतक वह मन्वन्तरपर्यन्त इन्द्रसे एक होकर रहता है। अर्जुन इन्द्रांश होनेसे कारक-पुरुष है, नर-नारायण होनेसे नित्य-मुक्त है और मनुष्य रूप होनेसे—कौन्तेय होनेसे अज्ञानी है, इसीलिए उसको भगवान् ज्ञानका उपदेश करते हैं। उस ज्ञानके उपदेशमें भी प्रतिबन्ध लगा हुआ है। समय बहुत बीत गया उपदेश सुननेमें, उपदेश सुनकर कर्ममें लगना पड़ा, कर्ममें लगने पर कभी रजोगुणका प्रभाव पड़ता है और कभी तमोगुणका प्रभाव आजाता है। इससे ज्ञानमें प्रतिबन्ध उपस्थित हो गया और जब ज्ञानमें प्रतिबन्ध उपस्थित हुआ तब उत्तर-गीताका कहना है कि अर्जुनने फिर योगाभ्यास किया और उसके बाद प्रतिबन्धकी निवृत्ति हुई। महाभारतका कहना है कि जब श्रीकृष्णने पुनः अर्जुनको अनुगीताका उपदेश किया तब प्रतिबन्धकी निवृत्ति हुई और भागवतका कहना है कि जब भगवान् परमधाम चले गये तब अर्जुनको उनका वियोग हुआ और वियोगमें उनका स्मरण हुआ। जब अर्जुनको श्रीकृष्णका स्मरण हुआ तब वह रोने लगा, झर-झर आँसू गिरने लगे और उसको व्याकुलता हो गयी। उसके बाद श्रीकृष्ण-स्मरणसे अर्जुनका अन्तःकरण

पवित्र होनेपर ज्ञानमें जो अवरोध था, प्रतिबन्ध था उसकी निवृत्ति हो गयी। यह प्रसंग भागवतमें इस प्रकार है—

गीतं भगवता ज्ञानं यत्तत्संग्राममूर्धनि।
कालकर्मतमोरुद्धं पुनरध्यगमद् विभुः॥
विशोको ब्रह्मसम्पत्या संच्छिन्नद्वैतसंशयः।
लीनप्रकृतिनैर्गुण्यादलिङ्गत्वादसम्भवः ॥

अर्जुन तुरन्त नित्यमुक्त हो गया। उसमें जो आवरण था, प्रतिवन्ध था, उसको श्रीकृष्णने उसी समय दूर कर दिया था। परन्तु इस प्रसङ्गमें यह भी दिखाना था कि जब किसी साधकके, जिज्ञासुके जीवनमें प्रतिबन्ध आता है तब उस प्रतिबन्धकी निवृत्ति कैसे होती है। मनुष्यरूप अर्जुनके ज्ञानमें प्रतिबन्ध आया और उसकी निवृत्ति हुई भगवान्‌के स्मरणसे। इन्द्रांशके रूपमें तो वह स्वर्ग चला गया, कारक-पुरुष हो गया और नर-नारायणके रूपमें बन्धन था ही नहीं।

अब भक्ति और ज्ञान दोनोंके सम्बन्धमें थोड़ी बात और सुन लीजिये। जब अर्जुन युद्ध भूमिमें अपने ममतास्पद लोगोंको देखकर व्याकुल हो गया तो उसके मनमें क्या विचार आया ? अरे, ये तो मेरे सगे-सम्बन्धी हैं, चाहे इधर हों चाहे उधर हों, दोनों पक्षोंसे जो आये हैं वे सब अपने हैं। जब ये मरेंगे तब अपने सम्बन्धी ही मरेंगे। यहाँ देखो सन्तकी दृष्टि। यह अवस्था देखकर सञ्जयने यह नहीं कहा कि अर्जुनके अन्दर कोई दोष आगया, यही कहा कि 'तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्। सञ्जय देखते हैं कि अर्जुनके अन्दर जो व्याकुलता है, वह मोहके कारण नहीं दयाके कारण आयी है। वह चाहता है कि लोग मरें नहीं। लेकिन दुर्योधनकी दूसरो स्थिति है। वे कहते हैं कि 'मदर्थे त्यक्तजीविताः'— ये सब मेरे लिए लड़-लड़कर मरेंगे और मैं राजा बन जाऊँगा। अर्जुनकी बुद्धि इस प्रकार है—

येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च॥

अर्थात् मैं जिनके लिए लड़ने आया हूँ वे यदि मर जायेंगे तो मैं जीतकर क्या करूँगा—'किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।' अर्जुन कहते हैं कि हम अपने लिए तो लड़ने आये नहीं हैं। हम तो इन

लोगोंके सुखके लिए, धर्मकी रक्षाके लिए लड़ने आये हैं। किन्तु ये बेचारे मर जायेंगे तो हम युद्धमें विजयी होकर क्या करेंगे? क्या हमको राज्य चाहिए, भोग चाहिए, धन चाहिए? हमें तो कुछ नहीं चाहिए। यह अन्तर है अर्जुन और दुर्योधनमें। इसलिए सञ्जय कहते हैं कि अर्जुनके हृदयमें कृपा है, करुणा है, वैराग्य है, इसलिए वे नहीं लड़ना चाहते। परन्तु श्रीकृष्णने तो अर्जुनको डाँट भी दिया—'कुतस्त्वा कश्मलमिदम्' यह उनका अर्जुनके प्रति अपनापन है। महात्मा वह होता है जो दोषको भी गुणके रूपमें ग्रहण करता है और मित्र वह होता है जो अपने मित्रसे साफ-साफ कह देता है कि तुम गलती करते हो। इसीलिए श्रीकृष्णने कहा कि अर्जुन तुम गलत काम कर रहे हो। अर्जुनने श्रीकृष्णकी बात स्वीकार की, किन्तु सञ्जयकी यह बात स्वीकार नहीं की कि मेरे अन्दर बड़ी दया भरी है, बड़ी करुणा भरी है, वे तो कहते हैं कि 'कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः' मैं मूढ़ हूँ, अज्ञानी हूँ, 'धर्मसंमूढचेताः।' इसके बाद अर्जुनके हृदयमें आयी भक्ति और उसने कहा कि 'शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'—मैं तुम्हारी शरणमें हूँ।

देखो, अज्ञानीका अज्ञान दूर करनेका उपाय यही है। यदि कोई अन्धा अपने अन्धेपनमें इधर-उधर टटोलने लग जाय तो उसके भटकनेका डर होता है। यदि किसी अन्धेके पीछे चले तब भी भटक जानेका डर होता है। लेकिन यदि वह किसी आँखवालेका सहारा लेकर, उसका हाथ पकड़कर चले तो अपने गन्तव्य पर पहुँच जाता है।

एक विद्यार्थी काशीमें पढ़ता था। वह बहुत वर्षोंसे घर नहीं गया। परन्तु उसके गुरुजी किसी कारणवश उसकी जन्मभूमिमें पहुँच गये। विद्यार्थीके पिता आये और बोले कि गुरुजी महाराज, हमारा बेटा आपके पास पढ़ता है। हाँ भाई पढ़ता तो है बहुत दिनोंसे। उसकी क्या स्थिति है? कितना पढ़ गया? गुरुजी बोले कि तुम्हारे बेटेकी स्थिति क्या बताऊँ? वह स्वयं तो कुछ समझता नहीं और दूसरेका समझाया मानता नहीं, इसलिए उसकी उन्नति इसी तरहसे हो रही है।

इसका तात्पर्य यह है कि यदि तुम्हें आगे बढ़ना हो और तुम्हारी अपनी समझ काम न करती हो तो किसी समझदारकी सलाह लेकर काम करना चाहिए। अर्जुनने जो पहला काम किया, वह बड़ी समझदारीका काम किया कि शरणागत हो गया—'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां

त्वां प्रपन्नम् ।' इसमें ज्ञान भी है भक्ति भी है। 'शिष्यस्तेऽहम्'का अर्थ है कि आप हमको शिक्षा दीजिये। ज्ञानका उपदेश दीजिये। आप गुरु; मैं शिष्य—यह ज्ञान हो गया। 'त्वां प्रपन्नम्'का अर्थ है कि मैं आपकी शरणमें हूँ। मैंने आपका पाँव पकड़ लिया, अब जो कहोगे करूँगा। यह भक्ति हो गयी। अर्जुन जिज्ञासा और प्रपत्ति दोनों लेकर श्रीकृष्णके सामने उपस्थित हुआ। जिज्ञासा पक्की निकली। उसमें जो थोड़ी त्रुटि थी, उसको भगवान्ने दूर कर दिया। वह त्रुटि क्या थी? यह थी कि 'न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह।' अर्जुनने पहले तो कहा कि मैं आपकी शरणमें हूँ, आप मुझे मार्ग बतलाइये, उपदेश दीजिये और बादमें कहा कि मैं नहीं लड़ूँगा। अरे भाई, एक ओर तो सलाह पूछ रहे हो और दूसरी ओर अपने निश्चयकी बात भी बता रहे हो तो यह कैसे बनेगा? जब तुम प्रपन्न हो गये तो बात मानो। इस प्रकार श्रीकृष्णने अर्जुनकी प्रपत्तिकी शुद्धि की गीताके अन्तमें और शिष्यताकी शुद्धि की प्रारम्भमें।

ज्ञानमें उपदेश लेना पड़ता है और भक्तिमें शरणागत होना पड़ता है। दोनों ही लेकर अर्जुन भगवान्के सामने आये। भगवान्ने उसकी जिज्ञासाका शोधन गीताके उपदेशसे किया और प्रपत्ति, शरणागतिका शोधन किया इस वाक्यसे 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।'

यदि कहो कि अर्जुन तो पहले ही श्लोकमें प्रपन्न हो गया था, उसको यह उपदेश करनेकी क्या जरूरत थी कि हमारी शरणमें आओ तो इसका उत्तर यह है—अर्जुनकी प्रपत्ति भी अधूरी थी और जिज्ञासा भी अधूरी थी। शिष्यमें जो अधूरापन होता है, उसको गुरु लोग ही पूर्ण करते हैं। यहाँ भगवान् अर्जुनके गुरु भी हैं, मित्र भी हैं—'भक्तोऽसि मे सखा चेति' और ईश्वर भी हैं—'परं ब्रह्म, परम धाम, पवित्रं परमं भवान्।' अर्जुन भी भगवान्को भगवान्के रूपमें पहचानते हैं। 'शिष्यस्तेऽहम्'का तात्पर्य हुआ कि भगवान् गुरु हैं, 'सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तम्'का तात्पर्य हुआ कि भगवान् सखा हैं और 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि'का तात्पर्य हुआ कि भगवान् साक्षात् शरण्य हैं, परमेश्वर हैं।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

: ५ :

अम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम् ।

अपने हृदयकी प्रियभावनाको प्रकट करनेका नाम गीत है। बहुधा गीतोंके द्वारा संयोग भावना, वियोग भावना, ललित भावना प्रकट की जाती है। गा-गाकर बोलना माने विरह या संयोगकी रसानुभूतिको जाहिर करना, अभिव्यक्त करना, प्रकट करना। अनुष्टुप् छन्दमें बहुत संगीत होता है। सारा वाल्मीकि-रामायण गाकर बोला गया है। लव और कुश दोनों भाई ताल, स्वर, लय आदिके साथ वाल्मीकि-रामायणका गान किया करते थे। गीतामें भी अधिकांश अनुष्टुप् छन्द हैं। इसलिए यह गानके योग्य है। इसमें किसका गान है? जो साँपके फणपर नाचकर बाँसुरी बजा सकता था, उसका गान है। गीत-संगीत ललितकला है। इसी तरह बाहरकी वस्तुओंका ठीक-ठीक अनुकरण कर लेना, नकल कर लेना भी कला है। कागजपर पेड़-पौधा पशु-पक्षी बना लेना, कोयलकी

तरह कुहू-कुहू बोलना, गधेकी तरह रेंकना और मोरकी भाँति नाचना आदि भी कला है। संगीतके सात स्वरोंमें जहाँ कोयलका पंचम स्वर है वहाँ गधेका भी स्वर है।

अब ज्ञान-विज्ञानकी बात देखो। विज्ञान बाहरकी वस्तुओंको स्वच्छ करनेके लिए होता है—जैसे रुई साफ करना, कपड़ा बनाना, लोहा, मिट्टी, हीरा, सोना आदि साफ करना। बाहरकी वस्तुओंका विश्लेषण करके उनके विश्लिष्ट अर्थात् अलग-अलग रूपको एकमें-से निकालकर उन्हें शुद्ध रूपमें दिखानेकी प्रक्रियाको विज्ञान कहते हैं।

जो वस्तु जैसी है और जो अनेकमें एक है, उसको जान लेना ज्ञान है। दूसरे शब्दोंमें एक अनेक कैसे होता है, इस प्रक्रियाको जानना विज्ञान है और अनेकमें एक कैसे समाया हुआ है इसको जानना, जो चीज जैसी है उसको ज्यों-का-त्यों समझना उसमें अपनी ओरसे कुछ भी नमक-मिर्च न लगाकर वस्तुकी यथार्थताका अनुभव करना—ज्ञान है। यदि जानी हुई वस्तु अपनी आत्मा है तब तो उसके प्रति सहज प्रीति हो जाती है। जैसे अपनी सहज प्रीतिका प्रकाश अपने शरीरमें है, अपने संकल्पमें है, अपने विचारोंमें है, अपनी स्थितिमें है वैसे ही अपने स्वरूपमें सहज प्रीति रहती है, अपनेमें प्रेम करना नहीं पड़ता, वह तो सबका स्वभाव है।

अब देखो उस प्रेमका स्वरूप। यदि अपनेको छोटा मानोगे तो तुम्हारी प्रीति छोटेमें रहेगी और यदि अपनेको बड़े रूपमें जान लोगे तो बड़ेमें प्रीति हो जायेगी। जैसे देहानन्द होता है, वैसे ही ब्रह्मानन्द भी होता है। अपनेको देह जानोगे तो देहमें प्रीति रहेगी और अपनेको ब्रह्म जानोगे तो ब्रह्ममें प्रीति हो जायेगी। लेकिन यदि उस एकको अन्यके रूपमें जानोगे तो उससे जो प्रीति होगी, उसे भक्ति कहेंगे। अपने विविक्त अर्थात् विवेक किये हुए आत्मामें जो प्रीति होती है, उसको आत्मरति और विश्वासपूर्वक परोक्ष रूपसे माने हुए परमेश्वरमें जो प्रीति होती है, उसको भगवद्रति, भगवद्भक्ति कहते हैं। तत्त्वज्ञानके द्वारा उपाधिका निरसन करके, निषेध करके जब दोनोंकी एकता हो जाती है तब उसको जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख, विलक्षण आनन्द मानते हैं। ईश्वर पराया नहीं है, दूसरा नहीं है। उससे प्रेम करना नहीं पड़ता। अपने-से जो

सहज प्रेम है वह ब्रह्मरूप, अद्वितीय सत्तारूप, अद्वितीय चेतनरूप, अद्वितीय आनन्द रूपके प्रति भी हो जाता है। इस प्रेमको संकुचित करनेवाला कोई पदार्थ नहीं होता। जब अनन्त अद्वितीय आत्मप्रेमका उदय होता है तब पृथिवीकी सुगन्ध अपने पर्देको फाड़कर सर्वत्र मह-मह-महकने लगती है। जल अपना आवरण त्यागकर रस ही रस हो जाता है। रूप अपना आवरण त्यागकर सौन्दर्य ही सौन्दर्य हो जाता है। वायु अपना आवरण त्यागकर सुकुमारताके रूपमें प्रकट हो जाता है, आकाश अपना आवरण त्यागकर मधुर-मधुर संगीतसे भर जाता है, इसलिए मन अपना आवरण त्यागकर सुखस्रोत हो जाता है और सुखकी नदियाँ वहने लगती हैं, सुखका समुद्र उमड़ पड़ता है और बुद्धि अपना आवरण त्यागकर निर्भ्रम हो जाती है, उसमें प्रमा ही प्रमा, ज्ञान ही ज्ञान, प्रकाश ही प्रकाशका अवतरण हो जाता है।

विज्ञान शिल्पके अन्तर्गत आता है। हम किसी लेबोरेटरीमें, प्रयोगशालामें, किसी मशीनसे ईश्वरको सिद्ध करना चाहें तो वहाँ विज्ञानकी गति नहीं है। यदि कहो कि हम ईश्वरको तस्वीरमें उतार देते हैं तो रसिक बिहारी कहते हैं कि बहुत-से बड़े-बड़े कलाकार यह अभिमान लेकर बैठे कि हम ईश्वरकी तस्वीर खीचेंगे, लेकिन हुआ क्या ? 'भए न केते जगतके चतुर चितेरे कूर'—बड़े-बड़े चतुर चित्रकार भी बेवकूफ बन गये, ईश्वरकी तस्वीर किसीसे नहीं उतरी।

तो विज्ञान उन्हीं वस्तुओंको दिखा सकता है जो हम अपनी इन्द्रियोंसे देख सकते हैं। मशीनकी सहायतासे आप किसी शब्दको लाख गुना अधिक या लाख गुना सूक्ष्म सुन सकते हैं, परन्तु सुनेंगे तो कानसे ही सुनेंगे। क्योंकि शब्द कानका ही विषय है। इसलिए नाकसे सूँघेंगे तो गन्ध ही सूँघेंगे, त्वचासे छूयेंगे तो स्पर्श ही छूयेंगे, किन्तु वह भी पूर्ण नहीं, बिल्कुल अधूरा अधूरा। इसलिए यदि परमेश्वरके मार्गमें चलना है तो जबतक वह मिलता नहीं, तब तक उसकी खोज जारी रहनी चाहिए। जब मिल जाता है तो अनुभव-स्वरूप ही हो जाता है, आत्मा और परमात्मामें अन्तर नहीं रहता। एक बात आप ध्यानमें रख लो कि यदि परमात्मा हमसे अलग होगा तो चेतन नहीं होगा। चेतन हमेशा द्रष्टामें होता है, जाननेवालेमें होता है, हमसे भिन्न ईश्वरमें जो चेतना होगी वह हमारी मानी हुई होगी, अवस्तु होगी। हमसे अलग

होनेपर ईश्वर बेहोश हो जायेगा—अचेतन हो जायेगा। यदि हम ईश्वरसे अलग होंगे तो उसी तरह हमारी पूर्णता कट जायेगी। हम परिच्छिन्न हो जायेंगे। जैसे तलवारकी चोटसे कोई चीज कट जाती है, वैसे ही ईश्वरसे अलग होनेपर आत्मा परिच्छिन्न हो जाता है। ईश्वर हमसे अलग होकर बेहोश है और हम उससे अलग होकर घायलकी तरह तड़फड़ा रहे हैं, दुःखी हैं, परिच्छिन्न हैं। इसलिए जबतक हमारा और परमेश्वरका मेल नहीं होगा, हम मिलेंगे नहीं, तबतक न तो परमेश्वर होशमें आयेगा और न हमारी पीड़ा मिटेगी। चेतनता आत्मस्वरूप होती है, अन्यमें कभी होती नहीं। यह जीव है, यह ईश्वर है, यह जगत् है इसको जाहिर करनेके लिए, आत्मचैतन्यकी आत्म-वस्तुको जाननेके लिए हमारे ज्ञानकी प्रधानता होती है और परोक्ष वस्तुको जाननेके लिए श्रद्धा की। क्योंकि जो वस्तु परोक्ष है, आँखोंसे ओझल है, कभी देखी हुई नहीं है, अनमिला साजन है, अनदेखा मार्ग है, उसके लिए श्रद्धाकी, रुचिकी, लगनकी आवश्यकता पड़ती है। श्रद्धाको, रुचिको, लगनको, खोजको, उत्सुकताको, व्याकुलताको और उत्कण्ठाको भक्ति कहते हैं।

'क्रीयतां क्रीयताम्'—सौदा करो, सौदा करो—खरीदो-खरीदो। क्या खरीदें महाराज? 'कृष्ण भक्तिरसभाविता मतिः'—श्रीकृष्णके भक्तिरसमें डूबी हुई बुद्धिको खरीदो। जिस किसी भी कीमतपर मिले खरीदो। किससे खरीदें, किस दुकानसे खरीदें? अरे, दुकानका विचार मत करो, जहाँ मिल जाये वहींसे खरीद लो 'अन्त्यादपि परं धर्मम्'—(२.२३८) मनुजीने कहा कि परम धर्म यदि अन्त्यजसे मिले तो वहाँसे भी ले लेना चाहिए। महाराज, यह परम धर्म अन्त्यजको कहाँसे मिला? बोले कि उसने पूर्वजन्ममें बड़ी भारी साधना की थी, वह किसी प्रतिबन्धके कारण अन्त्यज योनिमें आगया है, किन्तु परमधर्म मिलना बड़ा मुश्किल है। इसलिए वह ब्राह्मणसे, विद्वान्‌से, साधुसे नहीं मिलता हो और अन्त्यजसे मिलता हो तो खरीद लो। किस कीमतपर मिलेगा महाराज? अरे भाई, उसकी कोई कीमत नहीं है, वह दुर्लभ है। 'जन्मकोटिसुकृतैर्नलभ्यते'--यदि तुम उसको कीमत देकर खरीदना चाहोगे तो अपना सर्वस्व या संसारकी सारी सम्पदा देनेपर भी, उसको नहीं प्राप्त कर सकते। हाँ यदि उसके लिए तुम्हारे मनमें रुचि है, लगन

है, उत्सुकता है, लालसा है, उत्कण्ठा है, व्याकुलता है तो उसको अवश्य प्राप्त कर सकते हैं—'तत्रमूल्यमपि लौल्यमेकलम्।'

अब आप देखो गीता कहती है कि शरीरका स्वास्थ्य भी ठीक रहना चाहिए, नहीं तो कोई साधन नहीं बनेगा। स्वस्थ शरीरके लिए चरित्र-का शुद्ध होना आवश्यक है और चरित्र-शुद्धिके लिए संयमी होना अनिवार्य है। इसलिए यह ध्यानमें रखो कि इन्द्रियाँ मनमाने ढंगसे संसारमें विचरण न करें, नियन्त्रित रीतिसे, मर्यादामें रहकर ही अपने विषयका उपभोग करें। 'मर्यै मर्त्यैर्हि मनुष्यैः आदीयते इति मर्यादा'—मनुष्य-जातिके लिए परम आवश्यक है कि वह एक मर्यादामें रहकर ही अपना सारा काम करे। मनुष्यकी वासनाका अन्त नहीं है। यदि प्रत्येक व्यक्ति चाहे कि उसकी वासना पूरी हो जाये तो वह सम्भव नहीं है। मनुष्यकी वासना साम्राज्य, स्वाराज्य, सार्वभौमत्व प्राप्त करनेकी होती है। जब दो व्यक्तियोंकी वासना आपसमें टकराती है तब उनमें वैमनस्य होता है, संघर्ष होता है, युद्ध होता है। इसलिए यदि कोई अपनी सारी वासनाओंको पूर्ण करके संसारमें सुखी होना चाहेगा तो नहीं होगा।

तो मनुष्य जीवनमें एक मर्यादा होनी चाहिए। मर्यादा माने एक सीमा और वह भी धर्मके अनुसार। किसीने एक महात्मासे पूछा कि महाराज हम चाहे जो खायें, इसमें धर्मका, शास्त्रका क्या बिगड़ता है? महात्मा बोले कि हम ऐसी चीज तुम्हें खानेको दे सकते हैं जिसको तुम मनाकर दोगे कि हम नहीं खायेंगे। दुनियामें ऐसी बहुत चीजें हैं, जिनको देखते ही तुम नाक-भौंह सिकोड़ लोगे और कहोगे—नहीं, नहीं, नहीं, यह खानेका नहीं है। जब एक जगह जाकर तुम मना करोगे ही तब पहलेसे ही सोच-विचार कर लेना कि यह खानेका नहीं है, यह भोगनेका नहीं है, यह करनेका नहीं है, यह बोलनेका नहीं है और यह इकट्ठा करनेका नहीं है। अपने जीवनमें चार मर्यादा बना लो—

१. वाणीपर संयम—यह बात बोलनेकी नहीं है।

२. कर्मेन्द्रियोंपर संयम—यह काम करनेका नहीं है।

३. संग्रहपर संयम—यह चीज हमें इकट्ठी नहीं करनी है, लेनी नहीं है।

४. भोगपर संयम—हमें इतना ही चाहिए इससे अधिक नहीं चाहिए।

इन मर्यादाओंकी जीवनमें आवश्यकता है। विना मर्यादाका जीवन जड़तामें बिखर जाता है। उससे कोई भी महत्त्वपूर्ण काम नहीं हो सकता। धर्मका रहस्य वही जानता है, जिसका शरीर स्वस्थ है, चरित्र पवित्र है, जिसकी इन्द्रियोंमें संयम है, जिसके मनमें सबके प्रति सद्भाव है और जो किसीका बुरा न चाहे—

यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकम्।
कर्मणा मनसा वाचा स धर्मं वेद जाजले॥
(शान्ति० २६२.१६)

महामना मालवीयजीने जाजलि-उपाख्यानका संग्रह किया था। अद्भुत उपाख्यान है वह। उसमें कहा गया है कि धर्मका रहस्य वही जानता है, जिसके मनमें दूसरेके पापी होनेका कभी ख्याल भी नहीं होता, जो कर्म मन और वाणीसे किसीको पापी नहीं समझता। जब पापाकार वृत्ति होती है, तब पापाकार वृत्तिका जो आश्रय है, आश्रय-चिन्तन है, वही भीतर चैतन्य भी होता है। अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य विषयावच्छिन्न चैतन्यसे एक हो जाता है। जिस समय हम पापीको देखते हैं, उस समय हमारा अन्तःकरण भी पापमय होता है और हम भी पापी होते हैं। जो अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य है वही पापाकार वृत्ति—विषयावच्छिन्न चैतन्य है। पाप देखनेपर हम पापीसे बिल्कुल एक हो जाते हैं। इसलिए अपने मनमें सबके प्रति सद्भाव हो और बुद्धिमें विचार हो। हम जो कुछ भी काम करें विवेकसे करें—

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृतेणु हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदा॥
(किरातार्जुनीय २.३०)

कोई भी काम एकाएक नहीं कर देना चाहिए। जो विचारपूर्वक काम करता है, उसके पास सम्पत्ति स्वयं आकर वरमाला पहनाती है। क्योंकि सम्पत्ति भी गुणोंपर लुभा जाती है।

एक बात और। मैं कल आपको सुना रहा था कि 'अहंकार-

विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते'—जब मनुष्यकी बुद्धि अहंकारके कारण विमूढ हो जाती है, कहीं अटक जाती है, तब वह अपने कर्तापनका अभिमान करता है। आप बहुत बढ़िया-बढ़िया काम कीजिये। आपको सौ बरस, उससे भी अधिक जीनेका हक है—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः'। लेकिन जरा यह तो सोचिये कि आप जो इतने वर्षोंतक जीते रहे इसमें आपने क्या-क्या उत्तम काम किया? ईश्वरकी कृपासे, ईश्वरकी प्रेरणासे कोई बढ़िया काम हुआ, कि नहीं हुआ। यदि अबतक आपने कोई बढ़िया काम नहीं किया और सौ बरसतक जीना चाहते हैं तो कम-से-कम यह तो सोचिये कि अगले वर्षोंमें बहुत बढ़िया काम करेंगे। परन्तु ऐसा सोचते समय ईश्वरकी शक्तिको मत भूलिये, अन्यथा आप अहंकार-विमूढात्मा हो जायेंगे। यही गीताका सिद्धान्त है।

जैसे अर्जुनने श्रीकृष्णके मुँहसे गीता सुनी, वैसे ही सञ्जयने भी श्रीकृष्णके मुँहसे गीता सुनी। बीचमें एक पर्दा था। लेकिन श्रीकृष्णके वचन सञ्जयके कानोंमें पड़ते गये। अद्भुत है! लोग समझते हैं कि एक कारखाना होगा, उसमें टी० वी० तैयार होगी, सैकड़ों तार उसमें जोड़े जायेंगे, बिजलीका संचार होगा, तब वह आवाज और दृश्यको ग्रहण कर सकेगा। आप सोचो तो सही जब एक खास तरहकी मशीन दूरके शब्द और रूपको ग्रहण करके सुना-दिखा सकती है, तब क्या आपके भीतर चेतनासे भरपूर नस-नाड़ियोंका विन्यास दूरका शब्द, रूप नहीं सुना दिखा सकता? क्या हम अपने हृदय और मस्तिष्कके ताने-बानेको इस योग्य नहीं बना सकते कि दूरके शब्द, रूपको सुन-देख लें? यदि बाहरके जड़ पदार्थोंसे टी० वी० बनायी जा सकती है तो अपने हृदय मस्तिष्कके, अन्तःकरणके विन्यासको इस योग्य नहीं बनाया जा सकता कि वह शब्द रूपका ग्रहण कर सके? दूरदर्शन मशीनके तारोंकी तरह क्या हमारी अन्तर् नाड़ियोंमें शब्द, रूप ग्रहण करनेकी योग्यता नहीं है? यदि नहीं है तब सञ्जयपर व्यासजीने ऐसा शक्तिपात कैसे किया कि वह इतनी दूर बैठे-बैठे गीता सुन सका और उसके वक्ता श्रीकृष्णको देख सका—'व्यासप्रसादाच्छ्रुतवान्'। सञ्जयको भगवान्के विराट्का दर्शन हुआ, तभी वह कह उठा—'तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः'।

सञ्जय युद्धभूमिमें श्रीकृष्णार्जुन संवादको सुनकर एक निश्चयपर पहुँच गया। इधर अर्जुन भी निश्चयपर पहुँच गया। श्रीकृष्णके दोनों

श्रोता एक निश्चयपर पहुँच गये। तीसरे पात्र धृतराष्ट्रने सञ्जयके मुँहसे गीता तो सुनी परन्तु उसको कोई निश्चय नहीं हुआ। गीतामें धृतराष्ट्रका एक ही श्लोक है, जिसमें उसका प्रश्न है—'किमकुर्वत सञ्जयः'। परन्तु गीता सुननेके बाद धृतराष्ट्रके मनमें क्या प्रतिक्रिया हुई, वह किस निश्चयपर पहुँचा इसका कोई उल्लेख नहीं है। क्या धृतराष्ट्रको भी ज्ञान हो गया? नहीं, इसका कुछ पता नहीं, यही मानना पड़ेगा कि उसको ज्ञान नहीं हुआ। क्यों नहीं हुआ? इसलिए कि उसने मोह-ममतासे अन्धा होकर संसारको पकड़ रखा है। यही उसके नामका अर्थ है। धृत माने पकड़ा हुआ और राष्ट्र माने संसार। उसने दुनियाको इतने ज़ोरसे, इतनी आसक्तिसे, इतना मोहग्रस्त होकर पकड़ रखा है कि उसको कितना भी उपदेश मिले, साक्षात् भगवान्‌का उपदेश मिले या जीवनमुक्त महापुरुष सञ्जयके मुखसे मिले, धृतराष्ट्रपर प्रभाव पड़नेवाला नहीं।

सञ्जय कौन है? 'सम्यक् जयति'—जिसने भली-भाँति इन्द्रियों और मनपर विजय प्राप्त कर रखा है। उस सञ्जयके मुखसे गीता श्रवण करनेपर भी धृतराष्ट्रके मोहकी निवृत्ति नहीं हुई। जो मोह-ममता छोड़कर तत्त्वको ग्रहण करनेके लिए उद्यत होता है उसकी समझमें गीता आती है। धृतराष्ट्रकी मनःस्थिति तो ऐसी थी कि जब कोई उसको समझाता था, तब वह उत्तर देता था कि जो आप कहते हैं, वही मैं भी कहता हूँ, परन्तु अपने पुत्र-पौत्रोंके प्रति, परिवारके प्रति, धन-दौलतके प्रति, राज्यके प्रति मेरी इतनी ममता है कि मैं आपकी बात चाहनेपर भी नहीं मान पाता। इसीलिए कहते हैं कि धृतराष्ट्रपर गीताका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। किन्तु सञ्जयने क्या निश्चय किया, यह देखो—

> यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
> तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

सञ्जय कहता है कि श्रीकृष्णार्जुन-सम्वाद सुनकर मैं एक निश्चयपर पहुँच गया हूँ। 'मतिर्मम'—मेरा ऐसा निश्चय है कि गीता पौरुषका ग्रन्थ है। गीता आलसी बनानेवाला, निकम्मा बनानेवाला, कामनाके जालमें फँसानेवाला अथवा अहंकार-विमूढ़ बनानेवाला ग्रन्थ नहीं है। जो लोग मोह-ममतामें फँसे हैं, जिनका व्यक्तिगत स्वार्थ है, जातिगत स्वार्थ है, दलगत स्वार्थ है, जिन्होंने अपने स्वार्थको परिच्छिन्न बना दिया है,

विराट्से अपना सम्बन्ध काट दिया है, उनका पौरुष भी कट गया है, ईश्वर-विश्वास भी खण्डित हो गया है।

आप जो कुछ करते हैं, उसको ईश्वरके रूपमें, भगवान्के रूपमे अनुभव करते हैं या नहीं? आपकी कामनाओंका कोई ईश्वर है या नहीं? यह एक प्रश्न है। इसका उत्तर है कि आपके मनमें पौरुषकी प्रेरणा देनेवाला ईश्वर है। पहले वही उकसाता है। उसके बाद भी उसको निभानेवाला तथा उसका फल देनेवाला ईश्वर ही है। इसलिए आप कोई भी काम करें तो देखें कि इसका प्रेरक आपकी वासना है या परमेश्वर है? इसका निर्वाहक संसारी प्राणी है, देवी-देवता है या परमेश्वर है? इसके फलदाता आपके जड़ कर्म हैं, कोई राजा-रईस है, कोई देवी-देवता है या साक्षात् परमेश्वर है? जब आप इन प्रश्नोंपर विचार करेंगे तो देखेंगे कि आपके कर्मोंके प्रारम्भमें परमेश्वर है, कर्मके बीचमें परमेश्वर है और कर्मके अन्तमें परमेश्वर है। इसीका नाम होगा 'यत्र योगेश्वरः कृष्णः'। कृष्ण कहनेका अभिप्राय यह है कि यदि आप ठीक ढंगसे यह नाम धारण करनेवाले हैं, तो भगवान् आपको अपनी ओर आकर्षित कर लेंगे। कृष्ण माने चुम्बक होता है। न मालूम हो तो आप मालूम कर लें। मालूम हो तब तो कुछ कहनेकी बात ही नहीं। जो अपनी ओर खींचता है उसका नाम होता है कृष्ण। जा शुष्क और कठोर पड़े हुए हृदयके क्षेत्रको, खेतको जोतकर, उपदेशका बीज बोने लायक बना देता है, उसका नाम कृष्ण है।

कर्षति इति कृष्णः, कृषति इति कृष्णः।

अब आप देखो, वह चुम्बक आपको अपनी ओर खींच रहा है, आपके हृदमें प्रीति जगा रहा है। वह आपको ही नहीं, समग्र विश्व-सृष्टिको अपनी ओर खींचनेवाला चुम्बक है। वह स्वयं गीतामें कहते हैं—'मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।' अर्थात् संसारके सब प्राणी मेरी ओर खिंच रहे हैं। इस खींचनेवालेका नाम है कृष्ण। आप इस कृष्णको देखो।

अब आप 'यत्र पार्थो धनुर्धरः'पर ध्यान दो। पार्थ माने पृथाका कुन्तीका पुत्र श्रीकृष्णका फुफेरा भाई। पण्डित लोग पार्थका ऐसा अर्थ भी करते हैं—'पः परमेश्वरः, अर्थः प्रयोजनम् यस्य।' परमेश्वर ही जिसके जीवनके प्रयोजन हैं। पाणिनीय व्याकरणवाले कहते हैं कि

'अर्जनात् अर्जुनः' जो अर्जन करे, ज्ञानार्जन करे, धनार्जन करे, दिग्विजय करे उसका नाम अर्जुन। महाभारतके व्याख्याकार नीलकण्ठजी बोलते हैं—'ऋजुत्वात् अर्जुनः' जो ऋजु है, सरल है उसका नाम अर्जुन है।

उस अर्जुनने श्रीकृष्णको अपने कर्तव्यका स्वामी बनाया है। इसलिए श्रीकृष्ण उसको प्रेरणा दे रहे हैं कि लड़ो—'तस्माद्युध्यस्व भारत।' यह भी कह रहे हैं कि 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' और 'योगक्षेमं वहाम्यहम्।' इस प्रकार श्रीकृष्ण निर्वाह भी कर रहे हैं और फल भी दे रहे हैं अर्जुनको। और भी देखो—

युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव, निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।

'अर्जुन तुम युद्ध करो, तुम्हारी विजय निश्चित है। मैंने पहले ही तुम्हारे दुश्मनोंको मार दिया है। 'तस्मात् त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व'— इसलिए तुम केवल मेरे मारे हुओंको मारो, तुमको यश मिलेगा।' अर्जुन श्रीकृष्णका सखा है, नरका अवतार है, इन्द्रका अंश है, पाण्डव है, जीव है, उसके अनेक रूप हैं। ऐसे अर्जुनको कैसा होना चाहिए? 'धनुर्धरः' कर्म-परायण होना चाहिए। इसलिए आप भी अपने कर्तव्य-कर्मका परित्याग मत करो। जैसे अर्जुनके हाथोंमें धनुषबाण है वैसे ही तुम्हारे द्वारा भी कर्तव्यकर्मका पालन होते रहना चाहिए।

अब एक रहस्यकी बात सुनाता हूँ। रहस्य माने जो सबको मालूम नहीं, किसीको मालूम है किसीको नहीं। यह जो अर्जुनका, जीवका, नरका शरीर है इसमें दो तरहकी चीजें हैं, एक तो जो मालूम कराती हैं और एक जो कर्म कराती हैं। चलनेमें काम देता है पाँव और देखनेमें काम देती है आँख, तो आँख है ज्ञान-प्रधान और पाँव है कर्म-प्रधान। हाथ किसी चीजको पकड़कर लाता है, छातीसे सटा लेता है, मुँहमें ग्रास डाल लेता है। तो हाथ कर्म है और स्पर्श तथा रसास्वादन ज्ञान है। इस तरह मनुष्यका जीवन ज्ञान-कर्म-उभयात्मक है। इसमें कर्म भी है और साधन भी है—जैसे हाथसे पकड़ना, जीभसे बोलना और स्वाद लेना, कानसे सुनना, त्वचासे छूना, आँखसे देखना, पाँवसे चलना आदि। करने और जाननेके लिए कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय, दोनों तरहके उपकरण, औजार मनुष्यके शरीरमें मिले हुए हैं। मनुष्यका

जो व्यावहारिक जीवन है, उसमें कर्म और ज्ञानका समुच्चय है। व्यावहारिक जीवनमें यदि कोई ज्ञान-ज्ञान बोलता है तो वह नशेमें आ गया है, वह अपने जीवनको नहीं देखता, ठोस पदार्थको नहीं देखता और यदि कोई जीवनमें कर्म-ही-कर्म देखता है तो वह मशीन हो गया है, यन्त्र हो गया है। जहाँ कर्म और ज्ञानका समन्वय है वहाँ मनुष्यका जीवन बिल्कुल ठीक रहता है।

अतः आप अपना कर्तव्य कर्म कीजिये, अपनी उपासना कीजिये, अपना योग कीजिये, अपना श्रवण-मनन-निदिध्यासन कीजिये और धनुर्धारी होकर रहिये—'यत्र पार्थो धनुर्धरः' जीवको कैसा होना चाहिए कि, धनुर्धरः—अपना जो कर्तव्य कर्मरूप, भक्तिभावरूप, योगाभ्यासरूप श्रवण-मनन-निदिध्यासन-रूप धनुष-बाण है, उसको धारण करके बिल्कुल तैयार रहे। ईश्वरका आश्रय हो और जीवका पौरुष, दोनोंका समन्वय-समुच्चय चाहिए।

यह ईश्वर और जीवमें शाश्वत मतभेद है। ईश्वर कहता है कि तुम पौरुष करोगे तब मिलूँगा और जीव कहता है कि तुम कृपा करोगे तभी मैं मिल सकूँगा, मेरे साधनमें कोई बल नहीं। जब ईश्वर अपनेमें कृपाका आरोप करे तो उसमें भी कृपालुताका अहंभाव हो जायेगा और जीव यदि अपनी साधनाका बल धारण करे तो उसमें भी साधनाका अभिमान हो जायगा। इसलिए ईश्वर तो अपनेको कृपालु नहीं मानता, भक्त उसको कृपालु मानता है और भक्त अपनेको पौरुषवाला नहीं मानता, ईश्वर उसको पौरुषवाला मानता है, बनाता है। इसलिए यह जीवन ज्ञान और कर्मका, ज्ञान और भक्तिका, ज्ञान और योगाभ्यासका, ज्ञान और श्रवण-मनन-निदिध्यासनका समन्वय है। इसलिए दोनों एक साथ चलें और अन्तमें लक्ष्यका वेधन करें—

अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्। मुण्डक २.२.४

तो भगवान्‌की ओर चलनेका उपाय यह है कि हम निकम्मे भी न हों और भगवान्‌की कृपाका अनुभव भी करते चलें। शिष्यने कहा—'गुरुजी, कृपा आपकी।' गुरुने कहा—'नहीं बेटा, साधन तुम्हारा।' कृपालुताका अभिमान गुरुमें नहीं और अपने पौरुषका अभिमान शिष्यमें नहीं। यदि जीव पौरुषका अभिमान करेगा तो मारा जायगा और यदि

भगवान् कृपालुताका अभिमान करेगा तो उसका व्यक्तित्व बन जायगा, व्यक्तित्ववाला ईश्वर हो जायगा। इसलिए परमेश्वरके मार्गमें चलनेके लिए सञ्जयकी दृष्टि चाहिए।

'तत्र श्रीर्विजयो भूतिः' जहाँ ऐसी दृष्टि होती है, वहाँ आती हैं भगवती श्री। जीवनमें एक रौनक आजाती है। मुखपर एक विशेष प्रभा आजाती है। स्वयं लक्ष्मीजी विद्या बनकर, सम्पत्ति बनकर हृदयमें निवास करती हैं। माँ आती है, प्रमा आती है, शोभा आती है, लक्ष्मी आती है। काम, क्रोध आदि शत्रुओंपर विजय होती है, वैभवकी प्राप्ति होती है। 'ध्रुवा नीतिः'—वहाँ ध्रुव अर्थात् शाश्वत नीति आकर रहती है।

तो सञ्जयने समग्र गीताका श्रवण करके यह निश्चय किया कि जीवको अपने पौरुषसे कभी च्युत नहीं होना चाहिए और प्रेरणा, निर्वाह तथा फल—इन तीनोंको ईश्वरकी ओरसे आता हुआ देखना चाहिए। आपको भी कर्म करते समय अपने ऊपर ऐसी ही अन्तर्दृष्टि रखनी चाहिए। भगवान् भक्तसे क्या अपेक्षा रखते हैं, आप गीतामें देखिये—

मत्कर्मकृत् मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥

भगवान्‌की पहली शर्त है—'मत्कर्मकृत्' अर्थात् मेरे लिए कर्म करो। इसपर विचार करनेके पहले मैं आपको एक उदाहरण देना चाहता हूँ। कुछ दिन पहले मैं एक शहरमें गया। वहाँके मेयर स्टेशनपर आये। हम एक साथ मोटरमें बैठे तो मैंने पूछा कि आपके नगरका क्या हाल-चाल है? काम-काज कैसा चल रहा है? मेयर बोले कि महाराज क्या बताऊँ? हमारे यहाँ जितने भी मेम्बर हैं, सब अपने-अपने मुहल्ले तक ही सीमित रहते हैं। कहते हैं कि हमारी गलीका पनाला ठीक हो जाना चाहिए, हमारी गलीमें नल लग जाना चाहिए। पूरे शहरकी भलाईकी दृष्टिसे कभी कोई बात करता ही नहीं। लेकिन भाई यह समस्या केवल उस नगर-निगम तक ही सीमित नहीं। आप भी देखिये कि आप जो कर्म करते हैं, वह किसलिए करते हैं? अपने घर-घरौंदेके लिए या सारे नगरके लिए या सारे प्रान्तके लिए या सारे राष्ट्रके लिए या सम्पूर्ण विश्वके लिए?

तो, जब भगवान् कहते हैं कि 'मत्कर्मकृत्' तो इसका अर्थ हुआ ईश्वरमें सर्वरूप। इसको अर्जुनने पहचान लिया और तभी उसने विराट् रूपके दर्शन किये। विराट् रूप देखनेका यही मतलब होता है कि दृष्टि व्यापक हो जाये। अर्जुनको भगवान्ने भी विराट् रूप देखनेके लिए दिव्य दृष्टि दे दी। एक बार उत्तङ्कने भी देखा। उत्तङ्कको भ्रम था, वे श्रीकृष्णके ऊपर बड़े क्रोधमें आगये। उनके क्रोधका निवारण करनेके लिए भगवान्ने उनको विराट् रूप दिखा दिया। कौरव भी उनको बाँधना चाहते थे, इसीलिए उनको विराट् रूप दिखाया और अन्धे धृतराष्ट्रको भी आँख दे दी कि तुम भी देखलो हमारा विराट् रूप। भगवान्ने यशोदा मैयाको भी दो बार विराट् रूप दिखाया, लेकिन वहाँ तो मैयाका वात्सल्य था और भगवान् स्वयं उस वात्सल्यरसका आस्वादन कर रहे थे।

तो जब आप भगवान्के विराट् रूपपर दृष्टि डालेंगे, तब आपके कर्मका दृष्टिकोण बदल जायेगा। गीता आपके कर्मके दृष्टिकोणको बदलती है। आप व्यक्तिगत सुख-स्वार्थके लिए नहीं, समग्र विराट्के सुखके लिए, शान्तिके लिए, स्वार्थके लिए काम करो। इसका अर्थ हुआ कि आप काम करते समय इस बातका ध्यान रखो कि जो सबकी अन्तरात्मा परमात्मा है, उसकी प्रसन्नताके लिए हम काम कर रहे हैं; केवल अपने अन्तःकरणके सुख-स्वार्थके लिए नहीं। यदि कहो कि हम यह कैसे देख सकते हैं कि दुनियामें हमारे कर्मसे किसीका नुकसान या किसीका अहित तो नहीं हो रहा है? आप यह देखिये ही मत, आप तो यह देखिये कि कर्म करते समय आपके मनमें किसीको नुकसान पहुँचानेकी नीयत तो नहीं है। माना कि आप सारी दुनियाको नहीं देख सकते, लेकिन आप अपने अन्तःकरणको तो देख ही सकते हैं। यह तो अनुभव कर ही सकते हैं कि आप नर हैं और आपके हृदयमें नारायणका निवास है। आपको यह बात पहले भी बतायी जा चुकी है कि 'नरस्य इदं नारम् हृदयं, तदेव अयनं यस्य असौ नारायणः'—नरके हृदयका नाम है नार और नारमें अर्थात् नरके हृदयमें जो निवास करता है, उसका नाम होता है नारायण। इसलिए आप अपने हृदयमें रहनेवाले नारायणकी ओर देखिये और कर्म करते समय यह सोचिये कि कहीं वे नाराज तो नहीं हो रहे हैं। इस प्रसङ्गमें मनुजीने मनुस्मृतिमें बहुत बढ़िया लिखा है—

यमो वैवस्वतो देवो यस्तवैष हृदि स्थितः।
तेन चेद् अविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून्॥ (८.९२)

बाबा, तुम्हारे हृदयमें भगवान् बैठे हुए हैं। तुम जब अपनी नजरमें अपराधी बन जाते हो और कहते हो कि हाँ, हमने हिंसा की, चोरी की, अनाचार-व्यभिचार किया, बेईमानी की और ऐसा करके खुश होते हो, तो अपने आत्माके साथ एक विवाद ठान लेते हो। यदि आत्माके साथ तुम्हारा मतभेद नहीं है तो गङ्गा-यमुना और कुरुक्षेत्र नहानेकी कोई जरूरत नहीं है। यदि तुम अपनी नजरमें अपनेको नीचा गिरा रहे हो तो दुनिया तुमको चाहे जितना ऊँचा समझे और कहे कि तुम बड़ी ऊँची कुर्सीपर बैठे हो, तो तुमको कोई नहीं उठा सकता। इस सम्बन्धमें मनुजीने बहुत बढ़िया कहा है—

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मनः।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत्॥ (४.१६१)

कर्म करते समय देखो कि क्या ईश्वर तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हैं? ईमानदारीसे इसकी जाँच करो कि क्या तुम अपना काम करके प्रसन्न हो? यदि तुम्हारी नजरमें तुम्हारा काम बिल्कुल ठीक है तो तुम्हें प्रसाद मिलेगा, प्रसन्नता मिलेगी और तुम्हारे अन्तःकरणमें बैठा हुआ परमेश्वर भी प्रसन्न होगा। ईश्वरने अपनी प्रसन्नताके लिए कोई कुटिया नहीं बनायी, कोई घर नहीं बनाया, कोई लोक नहीं बनाया। उसने तो तुम्हारे अन्तःकरणको ही अपना निवासस्थान बना रखा है। इसलिए जब तुम प्रसन्न होते हो तब वह वहीं प्रसन्न होता है और जब तुम ग्लानि करते हो तो उसको भी ग्लानि भोगनी पड़ती है।

इसलिए अपने कर्मका, कर्तव्यका निश्चय करते समय सर्वात्मा भगवान्के वचन 'मत्कर्मकृत्'का ध्यान रखो। मतलब यह कि तुम ईश्वरके लिए कर्म करो और ईश्वरकी भक्ति करो। तुम्हारे हृदयमें ईश्वरकी भक्ति आते ही उसमें अनन्त ज्ञानका प्रकाश हो जायेगा, तुम्हारी बुद्धि ऐसी स्वच्छ और निर्मल हो जायेगी कि तुम्हें सब कुछ अपने आप ही सूझने लग जायेगा।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

: ६ :

'एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतम्'—एक ही शास्त्र है गीता, जिसका देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने गान किया है। इसमें सारे शास्त्र भरे हुए हैं—'सर्वशास्त्रमयी गीता। भगवान्ने आनन्दमें, उल्लासमें, अपने मित्रके हितभावमें भरकर लोगोंके कल्याणके लिए यह गीता गायी। भगवान्को तो कोई वहाना चाहिए कि जिससे वे अपने हृदयकी करुणाको, ज्ञानको, प्रेमको लोगोंके ऊपर बरस दें। जैसे गाय बछड़ेको निमित्त बनाकर दूध देती है और वह दूध केवल बछड़ेके लिए ही नहीं होता, सबके लिए होता है, वैसे ही भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको निमित्त बनाकर केवल अर्जुनके लिए ही नहीं, सबके हितके लिए गीताका उपदेश किया। कौषीतकी उपनिषद् ( ३.१ )में इस भावका वाक्य आता है कि

'यदेव हिततमं तदेव मे ब्रूहि'—जो हिततम है, वही हमको बताइये। वही हिततम भाव भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनके प्रति प्रकट करते हैं।

देखो, वेदान्ती लोग जो ज्ञान-भक्तिका समन्वय करते हैं, उसका प्रकार थोड़ा दूसरा होता है। आत्मा ब्रह्म है, उसको न जानना अज्ञान है। ज्ञानके साथ पहले कर्मयोगका, फिर भक्तियोगका और फिर अष्टाङ्ग योगका समन्वय होता है। वहाँ कर्म, भक्ति और योग द्वारा शुद्ध अन्तःकरणमें ही तत्त्वज्ञानका प्रकाश होता है। वेदान्तका उपदेश, जो सचमुच तत्त्वको जानना चाहता है, उसके लिए होता है। परन्तु ऐसे जिज्ञासुओंकी संख्या बहुत थोड़ी होती है। इसलिए हम लोगोंके व्यवहारमें भक्ति और ज्ञानके समन्वयका अर्थ दूसरा होता है। यहाँ भक्ति और ज्ञानके समन्वयका तात्पर्य है बुद्धि और मनका व्यवहारमें समन्वय। मनमें भक्ति रहती है और बुद्धिमें ज्ञान रहता है।

देखो, हमारा जो जीवन है, वह थोड़ा समझनेकी वस्तु है। यह एक ज्वलन्त प्रश्न है कि हमारा मन और हमारी बुद्धि दोनों मिले रहते हैं या दोनोंमें लड़ाई रहती है? यदि दोनों मिले रहते हैं तो बुद्धि मनके साथ मिलती है या मन बुद्धिके साथ मिलता है? इसका उत्तर एक उदाहरणसे मिल जायेगा। एक सज्जन इस बातके लिए दुःख प्रकट कर रहे थे कि हमारे घरमें रोज हमारी पत्नीसे लड़ाई होती है। इसपर दूसरे सज्जनने कहा कि हमारा व्याह हुए पच्चीस बरस हो गये, लेकिन आजतक हमारी पत्नीसे लड़ाई नहीं हुई। अब पहले सज्जनने पूछा कि भाई, तुम्हारे पास ऐसी क्या युक्ति है? दूसरे सज्जन बोले कि पत्नी जो कहती है, वह मैं मान लेता हूँ।

अब इस उदाहरणको पृष्ठभूमि बनाकर अपने जीवनमें देखें कि पहले आपका मन करता है और फिर उसके पीछे आपकी बुद्धि चलती है या पहले आपकी बुद्धि चलती है और फिर उसके पीछे आपका मन चलता

है ? दोनोंमें समन्वय अर्थात् मेल-मिलाप होना आवश्यक है। भागवतमें एक कथा आती है। एक राजाने अपने शत्रुपर विजय प्राप्त की और उसकी लड़की लेकर जब महलमें पहुँचा तो रानीने पूछा कि अरे ओ कपटी ! मेरी जगहपर यह कौन लड़की बैठी है ? राजा बोला कि यह तुम्हारी पुत्रवधू है। रानी बोली कि हमारे तो कोई पुत्र ही नहीं है तो पुत्रवधू कहाँसे होगी ? राजाने कहा कि आगे हमारा जो पुत्र होगा, उसके साथ विवाह करेंगे इसका। इसपर टीकाकार लिखते हैं कि सृष्टिमें इतना बड़ा पत्नीभक्त और कोई नहीं हुआ है। देवताओंने आपसमें कहा कि, 'भाई देखो कोई पत्नीभक्त हो तो ऐसा हो। आओ, इसकी बात पूरी कर दें।' अब रानीको पुत्र हो गया, वह जवान भी बन गया और दोनोंकी शादी भी हो गयी। यह कथा भागवतके नवम स्कन्धमें शैव्याके प्रसंगकी है।

इसलिए आप अपने मनमें देखें कि आपके जीवनमें कौन आगे है और कौन पीछे है ? जब विवाहमें भाँवरें पड़ती हैं तब अग्निको सात परिक्रमाएँ होती हैं। उनमें चार परिक्रमाओंमें वधू आगे-आगे चलती है, और तीन परिक्रमाओंमें वर आगे-आगे चलता है। इस तरह सातमें-से चार वधूको अगवानीमें होती हैं और तीन वरकी अगवानीमें। परिक्रमाओंकी संख्या वधूकी ही अधिक रहती हैं। बहुमत उसीका रहता है।

इधर हमारे जीवनमें क्या होता है ? हम कहीं बाजारमें जाते हैं तो आँखें देखती हैं कि अमुक स्त्री बहुत सुन्दर-सुन्दर वस्त्र पहने हुए जा रही है, अमुककी मोटर बहुत अच्छी है, अमुककी घड़ी बहुत अच्छी है। आँखोंकी क्रिया पूरी होनेपर मनमें इच्छा होती है कि ये चीजें हमको भी मिलनी चाहिए। लेकिन मिले कैसे ? पैसा होगा तो खरीद लेंगे, न हो तो कहींसे चोरी-बेइमानीसे पैसा पैदा करेंगे और जैसे-तैसे इनको खरीदेंगे। इस प्रकार आगे-आगे हमारी इन्द्रियाँ चलती हैं,

इन्द्रियोंके पीछे मन चलता है और मनके पीछे बुद्धि चलती है। फिर मनुष्य कहाँ पहुँच जाता है? गीताका कहना है—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥

इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्यकी प्रज्ञा मनमें चली जाती है, मन इन्द्रियोंमें चला जाता है और इन्द्रियाँ खड्डेमें गिर जाती हैं।

तो, समन्वयकी प्रक्रिया यह है कि आपका आचरण बुद्धिसंगत हो। पहले आपके मनमें ज्ञान हो, ज्ञानके अनुसार संकल्प हो और संकल्पके अनुसार क्रिया हो। पहले समझ लीजिये, समझनेके बाद यह देखिये कि आप जो चाहते हैं, वह चाहने योग्य है, पाने योग्य है या छोड़ने योग्य है। बुद्धिसे पहले निश्चय कर लीजिये, छोड़ना हो तो छोड़ दीजिये, पाने लायक हो तो उसे पानेका संकल्प कीजिये और संकल्पके बाद उसको पानेका प्रयत्न कीजिये। 'जानाति, इच्छति, करोति'—यह हमारे न्यायशास्त्रकी प्रक्रिया है, शैली है, ढंग है कि पहले हमारी बुद्धि कहे, हमारा ज्ञान कहे कि यह ठीक है, फिर उसके लिए इच्छा हो और इच्छाके अनुसार प्रयत्न हो। जब इस बातको भूल जाते हैं, इन्द्रियोंकी आँखोंसे चलते हैं, बुद्धिकी आँखसे नहीं चलते तब इन्द्रियाँ तो अन्धी हैं ही, मनुष्यको पतनके गहरे गर्तमें गिरा देती हैं।

यह बात आपको बतायी जा चुकी है कि गीताके कथनानुसार आपके इन्द्रिय, मन और बुद्धि—इन तीनोंमें कामका निवास होता है—

इन्द्रियाणि मनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनाम्॥

मान लो कि किसी आदमीके पास बहुत अच्छा रथ हो, बहुत अच्छे घोड़े हों, बहुत अच्छी बागडोर हो और वह समझता हो कि ऐसे बढ़िया

रथपर अच्छा सारथि भी हो और वह समझता हो कि ऐसे बढ़िया रथपर सवार होकर अपने शत्रुपर अवश्य विजय प्राप्त कर लेगा, लेकिन यदि रथ और उसका सारथि उसके वशमें न हों तो क्या होगा ? कहा जाता है कि जब औरंगजेबको पहली बार हाथीपर बैठाया गया तब उसने कहा कि इसकी लगाम हमारे हाथमें दे दो। लेकिन पीलवानके यह बतानेपर कि जहाँपनाह हाथीके लगाम नहीं लगायी जाती, यह अंकुशसे चलता है, औरंगजेबको तसल्ली नहीं हुई और वह हाथीसे कूद पड़ा, यह कहता हुआ कि जिस हाथीकी लगाम अपने हाथमें नहीं है, उसपर क्या बैठना ?

होता यह है कि हमारा कामरूप शत्रु हमारे शरीररूप रथको, हमारे मनरूप घोड़ोंको, हमारे सारथिरूप बुद्धिको अपने वशमें कर लेता है और उसके परिणामस्वरूप हम अपने गन्तव्य तक पहुँचनेमें असफल रह जाते हैं। इसलिए हमें यह देखते रहना चाहिए कि हम अपनी इन्द्रियोंको कहीं जानेसे रोक पाते हैं या नहीं ? अपने मनको किसी संकल्पसे मुक्त कर पाते हैं या नहीं ? आपकी बुद्धि आपकी इन्द्रियोंकी माँग और आपके मनकी आसक्तिसे बचकर जीवनके तथ्योंका, सत्योंका विवेचन कर पाती है या नहीं ?

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥
नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥

आप सुख-शन्ति प्राप्त करना चाहते हो तो आपके जीवनकी शैली ऐसी होनी चाहिए कि बुद्धि आगे हो और आसक्ति पीछे हो। 'विधेयात्मा'— मन हमारा आज्ञाकारी होना चाहिए और इन्द्रियोंपर हमारा नियन्त्रण होना चाहिए। हमने श्री हरिबाबाजी महाराजको देखा कि वे प्रतिदिन ठीक समयपर टहलनेके लिए निकलते। निकलते समय एक हाथ छातीपर रख लेते और मीलों टहलनेके बाद जब लौटते तो उनका हाथ

जहाँ-का-तहाँ होता। आँखोंपर इतना नियन्त्रण कि रास्तेमें दाहिने-बाँये नहीं देखते और जो आदमी आगे-आगे चलता, उसके पीछे-पीछे चलते जाते। इसप्रकार हमारे मनको आज्ञाकारी होना चाहिए, हमें मनका आज्ञाकारी नहीं होना चाहिए।

समन्वय सम् और अन्वयकी सन्धिसे बना है। सम् माने सम्यक्, भली भाँति और अन्वय माने अनुगति, अनुसरण। अन्वयमें भी दो शब्द हैं—अनु और अय। अनु माने पीछे और अय माने चलना। मतलब यह कि हमारे मनमें सम्यक् अनुगतित्व होना चाहिए। आनुगत्य होना चाहिए बुद्धिके पीछे।

असलमें हमारा मनके प्रति बहुत पक्षपात है और इसीलिए इसने हमारे जीवनको बहुत दुःखी कर रखा है। हम जानते हैं कि सत्य बोलना उचित है, धर्म है, कर्तव्य है, अन्तःकरणका शोधक है और परमात्माको प्रसन्न करनेवाला है। हमारी बुद्धि यह बात खूब समझती है किन्तु फिर भी हम असत्य बोलते हैं—इसका कारण क्या है ? यही कारण है कि हमारा मन हमारी बुद्धिका साथ नहीं देता। वह कहता है—निस्सन्देह सत्य ही धर्म है, सत्य ही सन्मार्ग है, सत्यसे ही अन्तःकरण शुद्ध होता है और सत्यसे ही परमात्मा प्रसन्न होता है, लेकिन यहाँ यदि हम सत्य बोलेंगे तो भोगकी प्राप्ति करानेवाला पैसा नहीं मिलेगा, हमारे भोगमें रुकावट डालनेवाला दुश्मन नहीं मरेगा, हमारे सुखमें बाधा पड़ जायेगी। इस तरह हमें मन देता है सुखकी लालच और फिर हम बुद्धिका साथ छोड़कर मनकी ओर चल पड़ते हैं। हमारी बुद्धिको मालूम है कि सुख ब्रह्मचर्यमें है, पर जब हमारा मन कहता है कि यहाँ ब्रह्मचर्य-भङ्ग करनेसे सुख होगा तब हम ब्रह्मचर्य-भङ्ग कर देते है। हम जानते हैं कि ईमानदारी बढ़िया चीज है, परन्तु जब मन कहता है कि यहाँ बेइमानी करनेसे सुख मिलेगा तब हम बेइमानीके पक्षमें हो जाते हैं। इससे सिद्ध है कि हमारे मनमें सत्यका पक्षपात कम है और सुखका पक्षपात ज्यादा है अर्थात् हम अपनी जानकारीका तिरस्कार करते हैं और अपने मनकी आसक्तिका आदर करते हैं। हम ज्ञानके पक्षमें नहीं जाते, सुखके पक्षमें चले जाते हैं।

हमारे जीवनमें एक होती है वासना और दूसरा होता है विचार।

हमें देखना चाहिए कि हमारा जीवन वासनाके पक्षमें चल रहा है या विचारके पक्षमें चल रहा है ? इन दोनोंमें झगड़ा नहीं होना चाहिए। विचारके अनुसार ही जीवन चलाना चाहिए। जबतक हमारा सुख हमें बेइमानीकी ओर, व्यभिचारकी ओर, हिंसाकी ओर, झूठकी ओर खींचेगा, तबतक हमारी बुद्धि डावांडोल होती रहेगी। हम अपने आदरणीयकी, गुरुकी, शास्त्रकी और समुदायकी अवज्ञा करके मनमाना काम करते हैं, बुरे काम करते हैं। इसका कारण यही है कि हम मनके वशमें हो गये हैं और हमारी बुद्धिका, ज्ञानका तिरस्कार हो गया है। इसलिए हमारे जीवनमें विचार और मनका समन्वय होना चाहिए।

यदि आप अपने ज्ञान-देवताका आदर करेंगे तो इनका स्वभाव ऐसा है कि ये आपको समयपर रोशनी देंगे, प्रकाश देगें और बतायेंगे कि यह ठीक है, यह गलत है। लेकिन इनके बार-बार बतानेपर भी यदि आप बार-बार इनकी बात नहीं मानेंगे तो अपने तिरस्कारका अनुभव करेंगे और फिर आपको सच्चा रास्ता बताना बन्द कर देंगे। फिर तो आप आसक्तिके रास्तेमें भटक जायेंगे। इसीलिए आपका मन आपकी बुद्धिके, आपके ज्ञानके अनुसार चलना चाहिए।

इसका उपाय यही है कि पहले आप बुद्धिसे भगवान्‌के स्वरूपको समझें और मनसे उनके प्रति प्रेम करें, बुद्धिसे धर्मको समझें और फिर मनसे श्रद्धापूर्वक उसका अनुष्ठान करें, बुद्धिसे समाधिको समझें फिर अभ्यासके द्वारा समाधि उत्पन्न करें और बुद्धिसे ब्रह्म एवं आत्माका ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करें और फिर उसमें निष्ठावान् हो जायें। विचारके बिना, ज्ञानके बिना हमारी जो अन्धाधुन्ध प्रवृत्ति है, वह दुःख देनेवाली है।

एक बात और है और वह यह कि बुद्धिका भी माप है। पर उससे आप देख सकते हो कि आपकी बुद्धि सही है या गलत। मुझे बचपनमें एक महापुरुषने बताया था—तुम यह देखो कि तुम्हारी बुद्धि किसका पक्ष ले रही है ? पौरुषका या आलस्यका ? अनाचारका या सदाचारका ? यदि तुम्हारी बुद्धि आलस्यके पक्षमें जा रही है तो तमोगुणी हो जायगी, अनाचारके पक्षमें जा रही है तो तुमको धोखा देगी। आलस्यमें कभी सत्यका साक्षात्कार नहीं होता, अनाचारमें कभी सच्चा

पुरुष नहीं मिल सकता। इसलिए अपने मनको ज्ञानके अनुसार चलानेका अभ्यास करो।

आपने महान् दार्शनिक प्लेटोका नाम सुना होगा। उनके गुरु थे सेकरेटीज उनको हमलोग सुकरात बोलते हैं। उनका ऐसा विचार था कि यदि मनुष्यको ठीक-ठीक ज्ञान हो जाय तो वह आसक्तिके कारण गलत रास्तेपर नहीं जा सकता। उन्होंने इसका एक दृष्टान्त दिया है। किसी आदमीके सामने बढ़िया भोजन बनाकर परस दिया गया। उसकी जीभमें पानी भर आया, भोज्य पदार्थोंकी सजावट देखकर खुश हो गया और वह समझने लगा कि यह भोजन हमारे स्वास्थ्यके लिए भी बहुत बढ़िया है। इतनेमें उसका पुत्र दौड़ता हुआ आया और बोला कि पिताजी भोजन मत कीजिये, इसमें जहर मिला हुआ है। यह सुनते ही उस आदमीका हाथ रुक गया। अभी क्षणभर पहले ही उसकी जीभ कह रही थी कि भोजन करो, नाक कह रही थी कि उसमें बहुत सुगन्ध है, आँख कह रही थी कि देखनेमें भी बहुत बढ़िया है और बुद्धि कह रही थी कि इसको खाकर हम स्वस्थ हो जायेंगे। लेकिन एक बच्चेके यह जानकारी देते ही कि इसमें विष है, उसका हाथ अपने-आप रुक गया। इसलिए जहाँ हम ज्ञानके विरुद्ध आचरण करते हैं, वहाँ हमारा ज्ञान कच्चा है। यदि हमारा ज्ञान सच्चा हो तो हम उसके विपरीत कभी आचरण नहीं कर सकते हैं।

कुछ ऐसी बातें हैं, जो हमारी बुद्धिमें बाधक या साधक होती हैं। बाधक बातें हमारी बुद्धिको नाशकी ओर ले जानेवाली होती है और साधक बातें हमारी बुद्धिको उत्तम दिशाकी ओर ले जाती हैं डाँवाडोल नहीं होने देती।

अब देखिये बाधक बातें क्या हैं और साधक बातें क्या हैं? पहले बाधक बातोंको देखिये—

> ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
> सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
> क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः।
> स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥

गीताने ऐसी आठ बातें बतायी हैं, जो हमारी बुद्धिको भ्रष्ट तो

करती ही हैं, हमारा भी सत्यानाश कर देती हैं। पहले हम जान-वूझकर विषय-भोगोंका चिन्तन करते हैं। फिर जिसका ध्यान करते हैं, वह चीज हमारे पास आजाती है या हम उसके पास पहुँच जाते हैं। 'ध्यानिकं सर्वमेवैतत्' ( मनु० ६.८२ ) धनीके पास धन कब आयेगा ? जब वह धनका ध्यान करेगा। आजकल बम्बई आदि नगरोंमें जब सबेरे-सबेरे फोनकी घंटी बजती है, तब क्या सुनाई पड़ता है ? यही कि थारी के धारणा है जी ? उनकी ध्यान-धारणा धनमें होती है। वे धनकी धारणा करते हैं, धनका ध्यान करते हैं, फिर धन उनके पास आता है।

'ध्यायतो विषयान् पुंसः'—जब हम जान-वूझकर संसारके विषय-भोगोंका ध्यान और उनकी धारणा करते हैं तो या तो हम खिंचकर उनके पास पहुँच जाते हैं या वे हमारे पास आजाते हैं। इसमें बलवत्ताकी बात प्रधान होती है, विषय-भोग बली होगा तो आपको खींच लेगा या आप बली होंगे तो विषयभोगोंसे अपनेको खींच लेंगे—बचा लेंगे।

'सङ्गस्तेषूपजायते'—जब विषयोंका सङ्ग प्राप्त होता है तब यह कामना होती है कि यह हमारा हो जाये, हम इसका भोग करें और यदि एक बार कामना पूरी हो जाये तो और-और कामनाएँ उत्पन्न होती हैं, जिनका नाम लोभ है। लोभ कामनाके अन्तर्गत ही है। 'कामात्क्रोधोऽभिजायते'—यदि कामना या लोभमें विघ्न पड़ जाये तो क्रोध आता है। 'क्रोधाद्भवति संमोहः'—जब क्रोध आता है तब मनुष्यको सम्मोह हो जाता है और वह अपना कर्तव्य भूल जाता है। 'सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः'—जब कर्तव्य भूल जाता है तब इस समय क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए, यह याद नहीं आता। 'स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशः'—जब याद नहीं रहता तब उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है, अपनी जगहसे च्युत हो जाती है। जहाँ बुद्धिको रहना चाहिए, वहाँ नहीं रहती। और अन्तमें, 'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति'—जब बुद्धिका नाश हो जाता है, तब मनुष्यका विनाश हो जाता है।

अब देखो, जहाँ बुद्धि नहीं है, वहाँ क्या है ? बुद्धिकी उपाधिसे ही मनुष्य-मनुष्य कहलाता है। बुद्धिमान् होनेपर ही मनुष्य अपनेको अन्य प्राणियोंसे श्रेष्ठ कह सकता है। मनुष्य-जैसी बुद्धि अन्य किसी भी प्राणीमें

नहीं हैं। पशु-पक्षियोंको देखो, वे हजारों-लाखों साल पहले जैसे रहते थे, वैसे ही आज भी रहते हैं। जैसे पहले घोंसले बनाते थे, वैसे ही आज भी बनाते हैं, जैसा पहले भोजन करते थे, वैसा ही आज भी करते हैं। लेकिन मनुष्यने अपनी बुद्धिमत्ताके कारण कितनी प्रगति कर ली? कपड़ेकी मशीनें लग गयीं, रेलगाड़ियाँ बन गयीं, मोटर बन गयीं, हवाई-जहाज बन गये। अभी न जाने और क्या-क्या आविष्कार होंगे? क्योंकि अपनी प्रतिभाके कारण नये-नये आविष्कार करनेमें समर्थ हैं।

आपको आश्चर्य होगा उन सम्भावनाओंपर, जिनको वास्तविक बनानेके लिए वैज्ञानिक प्रयत्नशील हैं। कहा जाता है कि शरीरके किसी दूसरे हिस्सेमें भी आँख बनायी जा सकती है; शरीरमें जहाँ कहीं भी नेत्रेन्द्रियकी ज्योति जगा दी जा सकती है। इसीतरह सुननेके लिए कान, और साँस लेनेके लिए नाक भी दूसरी जगह बनायी जा सकती है। भोजनको तो डाक्टर लोग नसोंके द्वारा भेज देते हैं। आगे चलकर एक ऐसा स्थायी छिद्र बनाया जा सकता है, जिसमें भोजन डालने पर पचता हुआ शरीरमें चला जायेगा। मनुष्य तो अभी अपने अविष्कार-कौशलसे केवल चन्द्रमापर गया है, आगे चलकर शुक्र और मंगलपर भी जानेकी तैयारी कर रहा है। उसने मिनटोंमें ही सारे संसारका संहार कर देनेके साधन तैयार कर लिये हैं।

आपने ध्यान दिया है कि आपके होठोंपर जो मुस्कान है और आँखोंमें जो प्यार है, वह अन्य किसी प्राणीमें है? आपमें सत्का उद्रेक कर्मकी शक्ति है, चित्का उद्रेक बुद्धिकी शक्ति है और आनन्दका उद्रेक आनन्दकी शक्ति है। आपका यह हास-परिहास, अट्टहास, यह हसन-विहसन-प्रहसन इस संसारमें आपके सिवाय अन्य किसी प्राणीमें है? यह सब आपकी बुद्धिका चमत्कार है। बुद्धि ही मनुष्यकी विशेष पूँजी है।

उस बुद्धिको जब हम खो बैठते हैं तब क्या होता है? हमारे कर्म भी बिगड़ जाते हैं और हमारे आनन्दमें भी बाधा होती है। बुद्धिकी उपाधिसे ही हमारे कर्म अच्छी तरह सम्पन्न होते हैं और बुद्धिकी उपाधिसे हमारे आनन्दका उद्रेक होता है। जब हम ज्ञान खो बैठेंगे तो प्रेम किससे करेंगे? गधे और गायके प्रेमका विवेक कैसे करेंगे। वेश्या और सत्पुरुषके प्रेमका विवेक कैसे करेंगे? फिर चोरी और दानमें

फर्क कैसे हो सकेगा ? इसलिए गीता कहती है कि 'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति'—बुद्धिका नाश हो जानेपर मनुष्यका विनाश निश्चित है।

हम आपको यह बता चुके हैं कि गीतामें बुद्धिका जो इतना आदर है संसारके सब सम्प्रदायोंसे विलक्षण है। दुनियामें कौन मजहब है, जो मनुष्यकी बुद्धिका इतना अधिक सम्मान करता हो ? दूसरे सम्प्रदाय या मजहबवाले कहते हैं कि देखो हमारे अनुसार चलो, चाहे तुम्हारी समझमें आये या न आये, नहीं तो तुम कुफ्र करोगे, काफिर करार दे दिये जाओगे; किन्तु गीता कहती है कि बाबा, किसी भी हालतमें अपनी बुद्धि मत खोना—'बुद्धौ शरणमन्विच्छ'। यदि बुद्धिकी शरण लोगे तो पाप और पुण्य दोनोंसे मुक्त हो जाओगे। तुमको बाँधता पाप भी है और पुण्य भी है। पाप नरककी ओर ले जाता है और पुण्य स्वर्गकी ओर ले जाता है। दोनों तुम्हें बाँधकर ले जाते हैं। इसलिए गीता कहती है कि :

'बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते'—बुद्धियुक्त होनेपर तुम इसी जीवनमें पाप और पुण्य दोनोंसे छूट जाओगे। 'कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः'—यदि तुम्हें सच्ची बुद्धि प्राप्त हो जाय तो तुम सुख-दुःख दोनोंसे मुक्त हो सकते हो। यदि तुम्हें बुद्धिकी प्राप्ति हो जाये तो यहीं समाधि लग जायेगी। यदि तुम्हें स्थिर बुद्धिकी प्राप्ति हो जाये तो परमात्माकी प्राप्ति हो जायेगी। यह है गीताका बुद्धिके प्रति समादर-सम्मान, जो अन्यत्र कहीं भी देखनेको नहीं मिलता।

अब देखो, गीताकी एक दूसरी बात। वह केवल डराती ही नहीं, आश्वासन भी देती है। एक ओर जहाँ यह कहती है कि—'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति' वहीं दूसरी ओर यह भी कहती है कि 'कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति' इसका तात्पर्य आप विनोदकी वाणीमें समझिये—मानो भगवान्‌ने कहा, अर्जुनने उत्तर दिया कि सुनाओ। भगवान् बोले कि मैं यह कह रहा हूँ कि तुम एक प्रतिज्ञा कर लो—'प्रतिजानीहि माने' 'प्रतिज्ञायस्व' अर्जुन बोले कि प्रतिज्ञा मुझसे क्यों करवाते हो, तुम्हीं कर लो ना ! भगवान् बोले कि 'बाबा ! मैं प्रतिज्ञा तो कर लूँगा लेकिन आज तुम्हारे सामने प्रतिज्ञा करनेसे क्या, परसों-तरसों अपनी प्रतिज्ञा तोड़ने-वाला हूँ। कल जब भीष्म पितामह तुमसे युद्ध करेंगे और तुम्हारे ऊपर बाणोंका घनघोर प्रहार करेंगे, तब मैं अपनी प्रतिज्ञा तोड़कर तुम्हारी

रक्षाके लिए चक्र उठाऊँगा। ऐसा मुझे भीष्मको इस प्रतिज्ञाकी रक्षाके लिए करना पड़ेगा—

आजु जो हरिहिं न शस्त्र गहाऊँ।
तौ लाजौं गंगा जननीको शान्तनु सुत न कहाऊँ।

भीष्मकी यह प्रतिज्ञा तो अटल होगी, उसके सामने मेरी प्रतिज्ञा टूट जायेगी। इसलिए आज यदि मैं तुमसे कोई प्रतिज्ञा कर लूँ तो परसों-नरसों प्रतिज्ञा टूटनेपर लोग कहने लगेंगे कि ये तो प्रतिज्ञाके पक्के नहीं हैं, झूठे हैं, प्रतिज्ञा करके तोड़ देते हैं। अतः तुम्हीं प्रतिज्ञा करो। अर्जुनने पूछा कि अच्छा, क्या प्रतिज्ञा करूँ महाराज? भगवान् बोले कि अपने मुँहसे बोलो—'न मद्भक्तः प्रणश्यति'—जो मेरा भक्त होगा, उसका नाश कभी नहीं होगा।

तो यह भगवान्‌की ही नहीं, भक्तकी भी प्रतिज्ञा है। भगवान् अपनी बात काट सकते हैं, परन्तु भक्तकी बात कभी नहीं काटते। भगवान् अपने अपराधको क्षमा कर देते हैं, परन्तु भक्तके अपराधको कभी क्षमा नहीं करते—

जो अपराध भक्त कर करई,
रामरोष पावक सो जरई।

अब जब यह निश्चित हो गया कि बुद्धि होनेपर नाश नहीं होता और बुद्धिनाश होनेपर सर्वनाश हो जाता है। तब उस सर्वनाशसे बचानेवाली दूसरी वस्तु कौन है? भक्ति है। सर्वनाशसे बुद्धि बचाती है, उसी तरह जिस तरह भक्ति भी बचाती है। एक बात आप नोट कर लीजिये और कभी मत भूलिये कि जब आपका ईश्वरसे मतभेद होता है, ईश्वर चाहता है कुछ, और आप चाहते हैं कुछ, तभी आपको कष्ट होता है। यदि आपकी राय ईश्वरकी रायमें मिल गयी, आपने बोल दिया कि 'जो थारी राय सो म्हारी राय'—प्रभो जो तुम्हारी इच्छा है, वह पूरी हो, तो आपको कभी दुःख नहीं होगा। यदि आपकी मति ईश्वरकी मतिसे मिली होगी आपका ईश्वरके साथ मतभेद नहीं होगा तो आपके सामने दुःखका क्या काम है?

अब आप देखिये कि ईश्वरके साथ आपका मतभेद क्या है? यह समग्र विश्व प्रभुका विराट् रूप है और इसमें उन्हींकी बुद्धि काम कर

रही है। जब आपकी बुद्धि सबकी भलाईके लिए, सबके हितके लिए, किसीको भी दुःख न पहुँचे इस दृष्टिसे काम करेगी समझिये कि वह ईश्वरसे मिली हुई है। विभीषणकी शरणागतिमें यही बात है—

'सुख स्वारथ परिहरि करिहऊँ सोइ जेहि साहिबहिं सुहाऊँगो'—मैं अपना सुख छोड़कर, अपना स्वार्थ छोड़कर वह काम करूँगा, जिससे कि अपने साहबको, अपने मालिकको, अपने रामको अच्छा लगूँ।

इस तरह जब ईश्वरकी मतिसे आपकी मति मिली हुई है, आपकी मतिमें अहंकार नहीं है, उसका भगवान्से कोई भेद नहीं है, आपकी मतिका फल भी भगवदिच्छाके विपरीत नहीं है—फल भगवान्का दिया हुआ है, बुद्धि भगवान्की दी हुई है, अहंकार भी भगवान्का नियम्य है, तब भक्ति और ज्ञानका, मन और बुद्धिका समन्वय हो जायेगा।

ज्ञान साक्षात् भगवान् है और भक्ति ज्ञानकी अनुसारिणी ज्ञानानुसारिणी वृत्ति है। कश्मीरी शैवोंने प्रश्न उठाया है कि आत्मा तो ज्ञान-स्वरूप है, भक्ति क्या है? इसका उत्तर उन्होंने दिया है कि थिरकते हुए ज्ञानका, उल्लसित ज्ञानका नाम भक्ति है। जब हमारा ज्ञान लहराता है, जब हमारा ज्ञान थिरकता है, जब हमारा ज्ञान नाचता है, जब हमारा ज्ञान रसमें परिप्लुत, रससे भरा हुआ होता है तो उस रस भरे ज्ञानका नाम भक्ति है। जहाँ ज्ञान और प्रीति, जानकारी और प्रेम, दोनों एक हो जाते हैं वहाँ ज्ञानमें भक्ति मिल गयी। भक्तिमें ज्ञान मिल गया और दोनों एक हो गये; ज्ञान भक्तिका समन्वय हो गया।

यहाँ मैं आपको सविषय ज्ञानके साथ भक्तिका समन्वय सुना रहा हूँ। मैंने पहले बता दिया है कि वेदान्तियोंके समन्वयका ढंग दूसरा है। वह समन्वय परमार्थ-बोधके लिए है और यह जो ज्ञान-भक्तिका समन्वय है, हमारी व्यावहारिक सिद्धिके लिए है। व्यवहारमें यदि मन और ज्ञान अलग-अलग होंगे तो आपका ब्लडप्रैशर बढ़ेगा। जब हमारी जानकारी तो कुछ और है, लेकिन हम चाहते कुछ और हैं—करते कुछ और हैं तो हमारी जानकारी और क्रियामें परस्पर विरोध हो जाता है। जो काम विचारसे सिद्ध नहीं, विचारसे शुद्ध नहीं, वह काम यदि हम करते हैं और उसके लिए संकल्प करते हैं तो संकल्प और विचार

दोनों आपसमें भिड़ जाते हैं। जब वे लड़ जाते हैं तो उनके संघर्षसे मनपर इतना बोझ पड़ता है कि वह बेचारा उसको आत्मसात् करनेके लिए जल्दी-जल्दी करने लगता है।

मुझे एक डाक्टर बता रहे थे कि मनुष्यको जब सर्दी लगने लगती है, वह ठिठुरने लगता है तो उसके शरीरमें कँपकपी होने लगती है, उसके दांत कटकटाने लगते हैं। ऐसा इसलिए होता है कि कम्पन होनेसे शरीरमें गर्मी पैदा हो जाये और सर्दी मिट जाय। उसके विचारसे सर्दी दूर करनेके लिए शरीरका कम्पन आवश्यक है। कँपकपी एक प्रकारका शारीरिक व्यायाम ही है। यह बात कितनी ठीक है, यह तो डाक्टर जाने। मैं आपको यह बताना चाहता हूँ कि आपके भीतर जो ज्ञान और संकल्पकी लड़ाई है, उसको रोकिये, अन्यथा वे अपनी खुराकके बिना आपको ही घायल कर देंगे। जब दो आदमी लड़ रहे होते हैं और बीचमें कोई चला जाता है तो उनके हथियार चाहे वे लाठी हों अथवा गोलियां हों, मध्यस्थको लग जाती हैं। विचार और संकल्पको खुराक ज्ञान और भक्ति ही है। इसीसे वे दोनों एक होते हैं।

अब आपको एक छोटी-सी बात और सुनाते हैं। सम्भव है कभी आपकी सुनी हुई भी होगी। आत्मा या परमात्माको सत् बोलते हैं। गीतामें भी सत् शब्दका बहुत प्रयोग है—

अमृतञ्चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।
नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। इत्यादि
न सत् तन्नासदुच्यते।

सत्का अर्थ है अस्ति। आपका आत्मा है और रहना चाहता है। अब आपका धर्म क्या हुआ? यही हुआ कि आप सबके रहनेमें मदद कीजिये और स्वयं भी अपने जीवनको बनाये रखिये। आप ऐसा काम कीजिये, जिससे आपका जीवन दीर्घायु रहे, और दूसरा भी स्वस्थ रहे और दीर्घायु होवे। आप न तो स्वयं मरनेका विचार कीजिये और न दूसरेको मरने दीजिये। अपनी ओरसे भरपूर प्रयत्न कीजिये कि दूसरा मरने न पाये। सद्भावमें-से चार धर्म निकलते हैं—एक जीते रहिये, दूसरा जिलाइये, तीसरा मरनेकी कल्पना मत कीजिये और चौथा दूसरेके मरनेमें हेतु मत बनिये। यदि आप सत् हैं तो ये चार बातें

आपके जीवनमें होनी चाहिए। जीवनके लिए जो भी आवश्यक है—खानेके लिए अन्न चाहिए, पहननेके लिए वस्त्र चाहिए, रहनेके लिए मकान चाहिए, पीनेके लिए पानी चाहिए और स्वस्थ रहनेके लिए दवा चाहिए—उसकी व्यवस्था कीजिये; अपने लिए भी और दूसरोंके लिए भी। यह सद्भाव है।

दूसरा चिद्भाव है। उसका अर्थ है ज्ञान, जो आपके जीवनमें है। इसमें-से भी चार निकलते हैं धर्म। एक आप स्वयं अपनी मूर्खता मिटाइये, दूसरा दूसरोंको मूर्ख मत बनाइये, तीसरा अपना ज्ञान बढ़ाइये और चौथा दूसरोंका ज्ञान बढ़ाइये। ज्ञान-वर्द्धनके लिए विद्यालय होने चाहिए, सत्सङ्ग होने चाहिए, प्रवचन होने चाहिए, पत्र-पत्रिकाओंका प्रकाशन होना चाहिए। ऐसे-ऐसे काम होने चाहिए, जिनसे ज्ञान तो बढ़े ही, दूसरोंका भी ज्ञान बढ़े। यह धर्म है। हमारा धर्म अवैज्ञानिक नहीं है। हमारे धर्मका दार्शनिक पक्ष भी है।

तीसरा है आनन्द भाव। इसमें-से भी चार धर्म निकलते है—एक आप स्वयं सुखी रहिये, दूसरा औरोंको सुखी कीजिये, तीसरा सुखके लिए अपेक्षित सामग्री जुटाइये और चौथा औरोंके लिए भी जुटाइये। अपने तथा दूसरोंके सुखके लिए लौकिक सम्पदा चाहिए—अर्थ चाहिए, काम चाहिए, भोग चाहिए। लेकिन चाहिए न्यायानुकूल। मनुष्यको नृत्य-संगीत और अभिनय सब जानना चाहिए। बाँसुरी बजा लीजिये, सितार बजा लीजिये, वीणा बजा लीजिये। नृत्य-संगीत सीख लीजिये, अभिनयकी कला सीख लीजिये। इससे आपको भी मजा आयेगा, दूसरोंको भी मजा आयेगा। ये सब क्रियाएँ आनन्दकी हेतु हैं। आप स्वयं दुःखी मत होइये दूसरेको दुःखी मत कीजिये और स्वयं सुखी रहिये और दूसरोंको सुखी कीजिये। यही आनन्द भाव है।

किन्तु आप सद्भाव, चिद्भाव और आनन्दभाव इन तीनोंको अलग मत समझिये। ये तीन नहीं हैं, एक ही हैं। इनके अद्वय रूपमें-से यह धर्म निकलता है कि मिलकर रहिये और मिलाकर रखिये। यह अद्वैत धर्म है और सबके लिए आवश्यक है। भले ही आजकल न जातिका मेल है, न मजहबका मेल है, न प्रान्तका मेल है और न राष्ट्रका मेल है। पार्टीकी बात तो कुछ पूछिये ही नहीं। उनपर दल-बदलुओंका

साम्राज्य है, जो सुबह एक दलमें तो शामको किसी दूसरे दलमें। लेकिन सबका हित इसीमें है कि मिलकर रहिये और मिलाकर रखिये। न तो स्वयं फूटिये और न दूसरोंको फोड़िये। यह केवल लोक-व्यवहारकी दृष्टिसे, दार्शनिक दृष्टिसे, वेदान्तकी दृष्टिसे, शास्त्र-पुराणकी दृष्टिसे ही नहीं, यह सच्चिदानन्द अद्वय तत्त्व है। उसके भीतरसे हमारे जीवनके लिए धर्म निकलता है।

पहली बात यह है कि आप मनमें बुद्धिको और बुद्धिमें मनको लगाकर रखिये। चाहे जितनी भी प्रेरणाएँ आपके जीवनमें आवें, मन-बुद्धिका विलगाव नहीं होना चाहिए।

दूसरी बात है कि आपकी बुद्धि शुद्ध है या नहीं, यह देखते रहिये। गीताके अनुसार बुद्धिको शुद्ध रखनेके लिए छः बातें हमारे जीवनमें रहनी चाहिए। पहले बता चुके हैं कि आठ बातें हैं बुद्धि-नाशक। अब बताते हैं कि छः बातें बुद्धि-वर्धक हैं। देखिये कि वे कौन-सी बातें हैं जिनसे बुद्धिका वर्द्धन होता है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

: ७ :

अम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्।

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको सभी प्रकारकी सफलताओंके लिए बुद्धिका उपयोग-प्रयोग अनिवार्य बताते हैं और उनकी ऐसी कृपा कि वह बुद्धि भी वे स्वयं देते हैं—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।

सांख्यबुद्धि भी बुद्धि है, योगबुद्धि भी बुद्धि है। अर्जुनने एक बार श्रीकृष्णपर आक्षेप भी किया कि, 'बुद्धिं मोहयसीव मे'—आप क्या मेरी बुद्धिको हिप्नोटाईज कर रहे हैं—सम्मोहित कर रहे हो? हमको तो निश्चय बुद्धि चाहिए, सम्मोहन नहीं चाहिए। लेकिन इसमें नासमझी अर्जुनकी ही थी, श्रीकृष्णकी नहीं। वे तो कहते हैं कि 'बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि'। अर्जुन, यदि तुम्हें बुद्धि ठीक मिल जाये तो

तुम्हारा कर्मबन्धन छूट जायेगा। इसलिए—'मय्यर्पित-मनोबुद्धिः'—तुम अपने मन और बुद्धिको मुझमें अर्पित कर दो, तुम्हारा काम बन जायेगा और भी कहा कि—

बुद्धया विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।

बुद्धिसे ही ज्ञान योगकी सिद्धि होती।

अब प्रश्न उठता है कि वह बुद्धि कैसी होनी चाहिए, जिससे हमें व्यवहारमें सफलता मिले और परमार्थमें भी दृढ़ स्थिति ? भगवान्‌ने बुद्धिको भी दो भागोंमें बाँटकर एककी प्रशंसा की है और दूसरीका निन्दा की है—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥

एक बुद्धि होती है निश्चयात्मक और दूसरी बुद्धि होती है अनिश्चयात्मक अर्थात् संशयात्मक। जो दृढ़ निश्चया बुद्धि है, वह सर्वत्र सफलता देती है। दृढ़ निश्चयाका अर्थ है कि बुद्धिमें जो निश्चय हो, वह दृढ़ हो, डाँवाडोल न हो। जीवनमें सफलता कब प्राप्त होती है ? 'युवा आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः ( तै० उप० २.८.१ )।' जब उत्साह हो मनमें, आशा हो सफलताकी और दृढ़ता हो अपने निश्चयपर। दृढ़ बुद्धि हुए बिना जीवनमें कोई सफलता नहीं आती। लेकिन यह दृढ़ता कहाँसे आये। इसके लिए भगवान्‌ने छह बातें बतायी हैं।

किसी भी वस्तुके बारेमें विचार करनेके लिए एकाग्रताकी अनिवार्य आवश्यकता है। हम जिस चीजके बारेमें भी सोचें, पूरी तरह सोचें। वह जैसी मालूम पड़ रही है, वहाँसे लेकर ब्रह्मपर्यन्त हमारे चिन्तनकी अवगति होनी चाहिए। हम जो एक तृण देख रहा है, उसकी गति परमात्मा-पर्यन्त कैसे है, ऐसा समझनेकी हमारी पैनी बुद्धि होनी चाहिए। तृण देखनेपर हमें यह बोध होना चाहिए कि उसमे पञ्चभूतोंके साथ-साथ परमात्मा भरपूर है। बुद्धि जब किसी वस्तुको अधूरे रूपमें देखती है, तब उसमें गलती हो जाती है। इसलिए हमारी बुद्धिको चाहिए कि वह उस वस्तुको पूर्णता-पर्यन्त देख ले। इस प्रकार देखना तभी होगा, जब वह एकाग्र होगी। एकाग्रताके लिए एक तो अनेक

वस्तुओंकी ओरसे बुद्धि हटकर अपने लक्ष्यमें स्थिर हो और दूसरे रूखी-सूखी-भूखी बुद्धि न हो, तृप्त बुद्धि हो।

एक सज्जन कहीं जा रहे थे। जब सध्न्यावन्दन करनेका समय हुआ तो उन्होंने अपनी पोटली अलग रख दी और स्वयं ध्यान करने वैठ गये। उनकी आँखें बन्द हो गयी, सिद्धासन वँध गया, पीठकी रीढ़ सीधी हो गयी, लेकिन बीचमें पोटलीका ख्याल आगया—वह सुरक्षित है या उसे कोई उठा ले गया। उन्होंने आँख खोलकर पोटली देख ली। फिर आँख बन्द किया तो पोटलीकी याद आयी और उन्होंने आँख खोलकर पोटली देख ली। अब आप ही बताइये, उनका मन एकाग्र कैसे होगा। उनकी इष्ट देवता तो पोटली बनी वैठी है, जो बाहर है। उसमें हजारों रुपये रखे हुए हैं और वे चाहते हैं कि पोटली भी सुरक्षित रहे और उनका मन भी एकाग्र हो जाये! यह कैसे होगा?

दूसरा उदाहरण और देखिये। किसी सज्जनके कोई प्रिय व्यक्ति आनेवाले थे। वे कभी घरमें बैठें और कभी दरवाजेपर निकलकर देखें कि आये या नहीं? बार-बार घरमें वैठने और दरवाजेपर निकलने-वालेका मन कैसे एकाग्र होगा?

इसलिए एकाग्रताके लिए बुद्धिको बाहरकी ओरसे हटकर भीतर बैठना चाहिए और भीतर भी यदि वह प्यासी-प्यासी रहेगी, उसमें तृष्णा बनी रहेगी, तृप्ति नहीं रहेगी तब भी वह वहाँ एकाग्र नहीं हो सकेगी।

इसलिए भगवान्‌ने स्थितप्रज्ञताके लिए पहले श्लोकमें दो बातें बतायीं। पहली बात यह बतायी कि बाहरका तो आकर्षण न हो।

'सर्वान्मनोगतान् कामान् प्रजहाति' और भीतर अतृप्ति न हो—'आत्मन्येवात्मना तुष्टः।' मनकी एकाग्रताके लिए एक तो चाहिए बाहरी त्याग और दूसरे चाहिए अन्तर्का रस। तभी वुद्धि एकाग्र होती है और प्रज्ञा स्थिर हो जाती है।

यदि कहो कि अभी जो बात बतायी गयी, वह तो समाधि लगानेकी है। हम चले तो बुद्धि स्थिर करनेके लिए, परन्तु आँख बन्दकर, बाहरका छोड़कर अन्दरका स्वाद लेने लगे तो व्यवहार कैसे चलेगा?

वह तो छूट ही जायेगा ! नहीं भाई ! व्यवहार नहीं छटेगा । वह भी एकाग्रतासे ही होना चाहिए । सारी जिन्दगी गुफामें बैठनेके लिए नहीं होती । भगवान्‌ने पाँव दिया है चलनेके लिए, हाथ दिया है काम करनेके लिए, और जीभ दिया है बोलनेके लिए । इसलिए तुम गुफामें बैठकर इनको बिल्कुल निकम्मा कैसे कर सकते हो ?

देखो, एक महात्माके पास कोई सत्सङ्गी सज्जन गये । उनके मनमें यह प्रश्न था कि हम व्यवहारका काम करें या भजन ही भजन करें । वे फूलोंका गुलदस्ता लेकर महात्माके पास गये । जब उन्होंने महात्माके हाथमें गुलदस्ता दिया तो महात्मा उसको एकटक देखने लगे और पाँच-दस मिनट तक देखते रहे । अब उस सज्जनसे नहीं रहा गया, उन्होंने कहा कि, महाराज, जरा मेरी ओर भी तो देखिये । आप तो गुलदस्ता देखनेमें लग गये । महात्माने कहा कि अच्छा भाई, इसको फेंक देता हूँ और अब तुमको देखता हूँ । सज्जन बोले कि नहीं-नहीं महाराज, मैं बड़े प्रेमसे कई जगह ढूँढकर यह गुलदस्ताको ले आया हूँ । महात्मा बोले कि फिर मैं क्या करूँ ? सज्जनने कहा कि थोड़ा उसको देखिये और थोड़ा मुझे देखिये । महात्माने कहा कि बस, तुम्हारे प्रश्नका यही उत्तर है । यह संसार ईश्वरका सजाया हुआ गुलदस्ता है, इसकी ओरसे बिल्कुल अन्धा नहीं हो जाना, इसकी ओरसे आँख नहीं बन्द कर लेना और देनेवालेको भी मत भूल जाना । 'आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन'—होता यह है कि लोग गुलदस्ता देखनेमें लग जाते हैं, लानेवालेको या देनेवाले ईश्वरको नहीं देखते । लेकिन देनेवालेको इतना देखने लग जाय कि उसके गुलदस्तेका अनादर हो जाय, यह भी नहीं होना चाहिए । इसलिए लेनेवालेको भी देखो और गुलदस्तेको भी देखो । यही व्यवहारकी रीति है ।

यह अनुभवकी बात है कि यदि हम थोड़ी देरके लिए भी निष्काम होकर, आत्मतृप्त होकर, एकाग्र होकर बैठते हैं, भजन करते हैं तो उससे हमारे जीवनमें शक्तिका आविर्भाव होता है । बड़ी भारी ताकत उससे मिलती है । लेकिन जब व्यवहारमें उतरते हैं तब बुद्धिको डावांडोल करनेवाले बहुत सारे पदार्थ हमारे सामने आ जाते हैं । अथर्ववेदमें कहा गया है—'देवस्य पश्य काव्यम्' यह संसार भगवान्‌को

कविता है, इसको देखो, 'न ममार न जीर्यति' ( १०.८.३२ ) यह अमर है, अजर है।

भगवान् ऐसी कविता क्यों करते हैं ? इसलिए करते हैं कि वे अकेले रहते हैं। अपनी बोरियत मिटानेके लिए कुछ-न-कुछ रचनाएँ करते रहते हैं और उनके बहुत-सारे नाम भी रख लेते हैं—'नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते'। यह तैत्तिरीय आरण्यक ( ३.१२.७ )का मन्त्र है। भगवान् स्वयं तो नाम रखते हैं और गाते भी रहते हैं। काव्य और संगीत दोनोंका आनन्द लेते हैं। भगवान्‌की कवितामें सारे रस होते हैं। कहीं शृङ्गार होता है, कहीं रौद्र होता है, कहीं हास्य होता है तो कहीं करुण होता है। भगवान्‌की रसमयी दृष्टि इस सृष्टिपर सभी रसोंकी वर्षा कर रही है।

मैं आपको अपने अनुभवकी बात सुनाता हूँ। एक बार हम लोग मैसूर गये और वहाँ हमने महराजकी चित्रशाला देखी। अब जैसा चित्र, वैसा उसका प्रभाव। शान्तरसका चित्र देखकर मन एकाग्र हो जाता था, शृङ्गाररसका चित्र देखकर मनमें ललित भावका उदय होता था, वीभत्सरसका चित्र देखकर आँखोंमें आँसू आ जाते थे और हास्यरसका चित्र देखकर हँसी आ जाती थी। जब हम चित्रशालासे बाहर निकले तो मनमें आया कि आज तो वड़ा आनन्द आया।

तो, यह भगवान्‌की जो सृष्टि है, सर्वरसमयी चित्रशाला है। यह देखकर आनन्द लेनेके लिए है, घबड़ानेके लिए नहीं है। जीवन्मुक्त पुरुषोंको ऐसी बुद्धि, ऐसी प्रज्ञा प्राप्त है कि वे सब दशाओंमें आनन्दमग्न रहते हैं। किन्तु जब वे व्यवहारमें उतरते हैं तो उनको सभी रस, सभी तरहके चित्र देखनेको मिलते हैं।

काशीमें एक भारतमाताका मन्दिर है। बचपनमें जब हम लोग उसको देखने जाते थे तब उस समयके पराधीन भारतका दर्शन करके हमें वड़ा दुःख होता था कि हाय-हाय, हमारा देश ऐसा पराधीन हो रहा है। फिर जब यह देखते थे कि भविष्यमें जब भारत स्वाधीन होगा तो कैसा होगा। तो, यह सृष्टि भगवान्‌की चित्रशाला है। इसको देखते हुए ऐसे चलना चाहिए, ऐसे व्यवहार करना चाहिए कि बुद्धि ठीक रहे, बिगड़ने न पावे। भगवान्‌ने समाधिस्थ स्थितप्रज्ञका वर्णन

करते हुए बताया कि एक तो मनमें एकाग्रता हो, दूसरे मन निष्काम हो और तीसरे आत्मतृप्ति हो तब तुम्हारी बुद्धि नहीं बिगड़ेगी।

अब आप व्यवहारमें कैसे रहें, यह बताते हैं। इसमें ज्ञान और जीवनका, ज्ञान और कर्मका, ज्ञान और प्रीतिका भक्तिका समन्वय देखो—

> दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
> वीतराग भयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥

बुद्धि स्थिर है। लेकिन आया दुःख। यह दुःख ऐसा है कि सबपर आता ही रहता है। सृष्टिमें ऐसा कोई नहीं हुआ, जिसपर दुःख न पड़ा हो। राजा नलके जीवनमें कितना बड़ा दुःख आया? वे सर्वहारा हो गये। उन्हें पत्नीका वस्त्र फाड़ना पड़ा, चोरीसे भागना पड़ा, नौकरी करनी पड़ी। श्रीरामचन्द्रका वनवास हुआ। युधिष्ठिरको जङ्गल-जङ्गल भटकना पड़ा। इतना ही नहीं, सारा इतिहास सत्पुरुषोंके दुःखोंसे भरा पड़ा है। परन्तु बुद्धिका काम यह है कि दुःखपर दुःख भले ही आवें, वे तुमको उद्विग्न न कर सकें।

बात यह है कि जब हम गलत जगहसे सुख लेने लगते हैं तो गलतीका परिणाम भोगना ही पड़ता है। हम सुख लेते हैं चार जगहोंसे—या तो हम विषयोंका भोग करके सुखी होते हैं, या उनका संग्रह करके सुखी होते हैं और या हमको आगे विषय मिलेंगे, ऐसी कल्पना करके सुखी होते हैं, या किसी चीजकी आदत डालकर सुखी होते हैं।

लेकिन विषय-भोग तो ऐसे हैं जो कभी मिलते हैं, कभी नहीं मिलते, कभी बिछुड़ जाते हैं और कभी उनको भोगनेकी शक्ति अथवा रुचि नहीं रहती। इसलिए विषय-भोगी हमेशा सुखी कैसे रह सकता है? जवानीके बाद बुढ़ापा आता ही है, स्वस्थ शरीरमें भी रोग आते ही हैं, मृत्यु रास्ता देखती ही रहती है। जब हम विषय-भोगमें अपना सुख रख देंगे तो दुःख आना अनिवार्य हो जायेगा। संग्रहमें भी सुख नहीं है, वह पराधीन है। कभी संग्रह करते बने, कभी न बने, कभी अपना ही मित्र धोखा दे जाये, कभी सरकार ही ले ले, कभी चोर ले

जाये, कभी असावधानी हो जाये। अगर संग्रहमें सुख रखोगे तो वह जायेगा। तुम जो यह कल्पना करते हो कि संग्रहसे आगे सुख होनेवाला है तो आगेके क्षणका क्या पता? ऐसा भी हो सकता है कि तुम रहो और वह रहे अथवा तुम भी न रहो तथा वह भी न रहे और, जो तुम आदत डाल लेते हो, इसमें भी सुख कहाँ है? आदत तो तकलीफ ही देती है। पराधीन ही बनाती है।

इसीसे पण्डित लोग कहते हैं कि अपने सुखको ऐसी जगहपर मत रखो, जहाँ दुःख ही आता है और दुःखके आनेपर उद्विग्न मत होओ। भीष्मपितामहको बाणपर बाण, तीरपर तीर लगे और वे शर-शैयापर सो गये। फिर भी युधिष्ठिरको धर्मोपदेश कर रहे हैं, श्रीकृष्णका दर्शन कर रहे हैं और उन्हें अद्वैतका अनुभव हो रहा है। एक ओर बाणकी शैया, दूसरी ओर युधिष्ठिरको धर्मोपदेश, तीसरी ओर श्रीकृष्णका दर्शन और चौथी ओर आत्मानुभूति। इस प्रकार यदि अनुद्वेग हो, बुद्धि दृढ़ हो तो मनुष्य जङ्गलमें भी मङ्गल मना सकता है।

यह मत समझो कि जीवनमें दुःख आयेगा ही नहीं। दुःख तो सुखका अन्त है और सुख भी दुःखका अन्त है—

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतयान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगाविप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम्॥
(अश्वमेध ४४.१९)

तुम जो कुछ इकट्ठा करोगे, वह एक दिन छीज जायेगा। जो ऊँचाई-पर उठेगा, वह एक दिन गिरेगा, जितने संयोग हैं, उनमें एक दिन वियोग आयेगा और यह जीवन एक दिन मृत्युके किनारे पहुँच जायेगा। इसलिए दुनियामें जो आने-जानेवाली चीजें हैं इसके ऊपर अपने जीवनको आश्रित मत करो। तुम तो उसको पकड़कर रखो जहाँ बाँधे हुए हो। यह बात छान्दोग्य उपनिषद् (६.८.२)में आती है—

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं-दिशं पतित्वा
अन्यत्रायतनमलब्ध्वा स्वबन्धनमेवोपाश्रयत।

हमारे प्राण बाहर जाकर फिर लौट आते हैं, आँखें बाहर जाकर फिर लौट आती हैं, जीभ बोलकर फिर चुप हो जाती है, मन बाहर

जाकर फिर लौट आता है। क्यों ? इसलिए कि हमारा जीवन कहीं बँधा हुआ है। इसलिए जहाँ यह बँधा हुआ है, वहाँ सत्यको ढूँढो।

अब आपको एक दर्शनशास्त्रकी बात सुनाते हैं। दुःखके निमित्त न जाने कहाँ-कहाँसे आते हैं। कोई कहता है कि पूर्व कर्मका फल है, कोई कहता है प्रकृतिका स्वभाव है, कोई कहता है ईश्वरका दिया हुआ है, कोई कहता है अचानक ही आ जाता है। लेकिन निमित्त वास्तवमें कहाँसे आता है, यह अज्ञात है—

अदर्शनादापतिताः पुनश्चादर्शनं गताः।

वैद्य लोग किसी रोगके सम्बन्धमें कहते हैं कि यह कफ-वात-पित्तके विकारसे आया है अथवा खान-पानके असंयमसे आया है। दूसरे लोग प्रारब्धको, रोगको, भूतप्रेतको या ईश्वरको ही निमित्त—कारण बता देते हैं। इस प्रकार अज्ञात पदार्थके सम्बन्धमें अनेक कल्पनाएँ होती हैं। यही बात दुःखके सम्बन्धमें भी है। वह कहाँसे आ जाता है, इसका किसीको पता नहीं चलता।

दुःखके निमित्त प्रारब्धादि होंगे, परन्तु हमारा मन जो दुःखाकार हो जाता है, वह थोड़ी-सी ममता और मोहके कारण ही होता है। जिससे ममता होगी, मोह होगा, सम्बन्ध होगा, उसके जाने या बिछुड़नेपर दुःख होगा, किन्तु जिससे कोई ममता-मोह नहीं होगा उसके जाने या आनेका कोई प्रभाव मनपर नहीं पड़ेगा।

एक बात और है। बाहरके निमित्त तो आते हो जाते रहते हैं उनको आप रोक नहीं सकते हैं और अपने मनमें जैसी आदत डाल रखी है, जैसा अभ्यास बना रखा है, वह भी सुख-दुःखका कारण होता है। जिनको मूर्ति तोड़नेका संस्कार डाल दिया जाता है वे मूर्ति तोड़नेपर खुश होते हैं और जिनको मूर्तिपूजाका संस्कार पड़ा हुआ है वे मूर्ति तोड़नेसे बहुत दुःखी होते हैं। यदि आपके दुश्मनके घरमें कोई दुःख आजाये तो वह आपको दुःख नहीं मालूम पड़ता, लेकिन किसी मित्रके घरमें दुःख आजाये तो उसकी अनुभूति होती है। असलमें दुःख-सुखका जो अनुभव है यह मानसिक सरचना है। दुःख-सुख बनते हैं मनसे, परन्तु दुःख-सुखका जो अभिमान है कि मैं दुःखी हूँ, मैं सुखी हूँ—यह बनता है बेवकूफीसे। बेवकूफी बोलना शायद

असंसदीय होगा। इसलिए हम उसको संसदीय बनाकर यदि बोलते हैं कि यह सुख-दुःखका अभिमान ठीक-ठीक न आने होनेसे होता है। कभी-कभी हम बीते हुए दुःखके कारण भी दुःखी होते हैं। अरे भाई, वह आया और बीत गया, अब है कहाँ जो उसके कारण दुःखी हो रहे हो? इसी तरह हम आगे आनेवाले दुःखको कल्पनाके कारण भी दुःखी हो जाते हैं। लेकिन वह तो अभी आया ही नहीं, उसके लिए दुःखी क्यों होते हो? कभी-कभी जो दुःख बीतता जा रहा है, उसको भी पकड़कर लोग बैठ जाते हैं।

तो दुःखीपनेका अभिमान भ्रम है, नासमझी है, प्रज्ञापराध है। चरकमें लिखा है कि कई रोग प्रज्ञापराधसे भी होते हैं। प्रज्ञापराधजन्य रोग माने वह रोग जो हमारी नासमझीसे हो गया। इसलिए बुद्धि ठीक रखनी है तो दुःखके चक्करमें मत पड़ो। इस प्रकार विचार करो कि दुःख पञ्चभूतका है, पञ्चभूतमें है, प्रकृतिका है, प्रकृतिमें है, कालके वेगसे आया है, चला जायेगा। उसके बारेमें सोचनेकी हमारे मनकी आदत पड़ गयी है, जो ठीक नहीं है या इस दुःखको देनेवाला, भेजनेवाला हमारा यार है, प्यारा है, यह उसीका भेजा हुआ है। अपना दोस्त कभी चोटी पकड़कर खींच ले या कभी चिकोटी काट ले तो क्या हम बुरा मानते हैं? जरा देखो तो दुःख देनेवाला कौन है?

किसीने सुनाया था कि एक दम्पती पानीके जहाजमें कहीं जा रहे थे। हुआ यह कि समुद्रमें बड़ा भारी तूफान आगया। डूबनेकी नौबत आगयी। सब लोग घबड़ाकर हाहाकार करने लगे। कोई इधर दौड़े, कोई उधर दौड़े। यात्री दम्पतीके जो पतिदेव थे, वे बड़ी शान्तिसे अपने स्थानपर बैठकर कुछ लिख रहे थे। पत्नी बोली कि अरे, तुम क्या करते हो, देखते नहीं, कितना भारी तूफान आरहा है, हमारा जहाज डूबने जा रहा है, सत्यानाश हो रहा है और तुम बैठकर लिखनेमें मस्त हो। यह सुनकर पतिदेवने अपने कोटमें-से पिस्तौल निकाली और उसको अपनी पत्नीकी छातीपर लगा दिया; फिर बोले कि अब बताओ कैसा लगता है? पत्नी बोली कि लगेगा कैसा? पिस्तौल तुम्हारे हाथोंमें है, यह अपने-आप थोड़े ही चलेगी। तुम मेरे प्रियतम, पति हो, मुझे तुम्हारे ऊपर पूरा विश्वास है कि तुम मुझे मारोगे नहीं। पतिने कहा कि बस, यही इस तूफानके बारेमें समझो। जिसके हाथमें यह तूफान है,

वह हमारा पति है, प्रियतम है, परमेश्वर है, हमको उसके ऊपर पूरा विश्वास है, उससे हमारा अनिष्ट नहीं होगा।

महात्मा लोग तो दुःखकी बातको हँसीकी बात बना देते हैं। एक बार हम लोग स्वामी प्रेमपुरीजीके साथ मोटरमें कहीं जा रहे थे। पीछेसे एक मोटर आयी और सड़कपर पड़े हुए गन्दे पानीको उछालती हुई आगे बढ़ गयी। गन्दा पानी हमारी मोटरकी खुली हुई खिड़कीके रास्ते भीतर आगया। हम सब भींग गये और हमारे मुँहमें भी पानी चला गया। हमारे ड्राइवरको क्रोध आगया और उसने कहा कि हम इसको मजा चखाते हैं। लेकिन प्रेमपुरीजी महाराज बोले कि ना-ना ऐसा मत करो। हमने गङ्गाजल वहुत पीया है, भगवान्‌का चरणामृत भी बहुत पीया है लेकिन मोटरका चरणामृत तो आज ही मिला है। इसपर हम सब हँस पड़े। बात गुस्से की थी, लेकिन स्वामीजीने उसको हँसीका निमित्त बना दिया। इसलिए मनुष्यको ऐसा अभ्यास करना चाहिए कि वह बड़े-से-बड़े दुःखोंको भी हँसीके रूपमें परिणत कर दें, मजाकका माध्यम बना दे।

देखो, दुनियामें दुःख आता कैसे है? उसका प्रवेश कहाँसे होता है? लोग अपने मन और बुद्धिको तो अपना मन और बुद्धि समझते हैं, लेकिन दूसरेके मन और बुद्धिको मशीन समझते हैं। मन उनका हो, संकल्प उनका हो, इच्छा उनकी हो और उनकी इच्छानुसार चले दूसरा। यह कैसे हो सकता है? क्योंकि दूसरा पत्थरका, लोहेका अथवा लकड़ीका बना औजार तो है नहीं; उसके अन्दर भी मन है। फिर भी वह उनके मनके अनुसार नहीं चलता तो उनको दुःख हो जाता है। लोगोंकी मानसिक स्थिति तो यह है कि वे ईश्वरसे भी मनचाही करनेकी ही अपेक्षा करते हैं। वे यह समझते हैं कि ईश्वरमें उनकी जैसी बुद्धि नहीं है, इसलिए वह उनकी सलाहके अनुसार ही उनका काम करता जाये। ऐसे लोगोंको बहुत दुःख भोगना पड़ता है। इसलिए मनुष्यको चाहिए कि वह दूसरेका मन भी देखें और परस्पर मेल-मिलाप करके व्यवहार करें।

वृन्दावनकी बात है। एक सज्जन बिहारीजीके दर्शन करने गये। वे बोले कि हे बिहारीजी, हमको बेटा चाहिए। इसका क्या अर्थ हुआ? यही अर्थ हुआ कि बिहारीजी अज्ञानी हैं, उनको मालूम नहीं कि उस

सज्जनको बेटा नहीं है। अब बिहारीजो तो कुछ बोले नहीं। सज्जनने सोचा कि विहारीजो ने सुन तो लिया ही होगा। वे बड़े दयालु हैं, जरूर हमारी प्रार्थना पूरी करेंगे। फिर बोले कि महाराज एक बरसके भीतर ही देना। इस तरह सज्जनने बिहारी जीको टाइम भी दे दिया, उनके ऊपर नहीं छोड़ा। फिर कहा कि आपकी कृपासे जो बेटा हो, सुन्दर हो, वह स्वस्थ हो, दीर्घजीवी हो, आज्ञाकारी हो। अब यदि बिहारीजा उस सज्जनसे कहें कि भाई, तुम ईश्वरसे बात कर रहे हो या नौकरसे ? तुमको तो भगवान् नहीं चाहिए, भगवान्के रूपमें एक अच्छा सा नौकर चाहिए, जो तुम्हारी इच्छानुसार काम करे, तुम्हारी आज्ञाका पालन करता रहे, तो क्या यह ठाक नहीं है ? ऐसे लोग ईश्वरसे, माँसे, बापसे, बड़ोंसे अथवा छोटोंसे भी यही चाहते हैं कि जो उनके मनमें आया, वही हो। लेकिन जब उनकी मनचाही नहीं होती तो उनको दुःख भोगना पड़ता है, वे दुःखो होते हैं।

अब यदि कहो कि भगवान् दुःख ही दुःख क्यों देते हैं ? तो इसका उत्तर है कि भगवान् दुःख ही दुःख नहीं देते, सुख भी देते हैं। लेकिन इसको बुद्धि और प्रीतिके, ज्ञान और भक्तिके समन्वयसे ही समझा जा सकता है, अनुभव किया जा सकता है।

अब देखो, एक विचारकी बात। असलमें हमारे हृदयमें एक ही आकाश है—जिसको बोलते हैं 'ख'—कं ब्रह्म, खं ब्रह्म ( छान्दोग्य ४.१०.५ ) 'खादति सर्वम्'—जो मिट्टी, पानी, हवा, आग आदि सबको खा जाये, उसका नाम होता है ख। शून्यको 'ख' बोलते हैं, जो हमारा हृदयाकाश है। यह 'ख' सुखमें भी है और दुःखमें भी है। जब आत्मामें कभी तूफान आजाये, बादल आजाये, गर्मी पड़ जाये तो वह हो गया दुःख और जब चाँदनी रात छिटके, शीतल मन्द सुगन्ध वायु बहे, सुखद वातावरण हो तो वह हो गया सुख। 'ख' के साथ 'सु' लग गया तो सुख हो गया और 'दु' लग गया तो दुःख हो गया। इसीलिए आप इसमें 'सु' या 'दु' को मत देखो, हृदयाकाश देखो—'दुखेष्वनुद्विग्नमनाः।

अब देखो, सुख क्या है ? जिसको देखकर अनुकूल वेदनाका उदय होता है, उसको सुख बोलते हैं—'अनुकूलवेदनीयम् सुखम्'। यह न्याय-

वैशेषिककी परिभाषा है। भक्तिदर्शनमें इसको ऐसा बोलते हैं कि अपने प्रियतमका जो मिलन है, स्मरण है, स्फूर्ति है, वही सुख है। भक्तोंका सबसे वड़ा सुख यही है। मनुजी कहते हैं कि जहाँ हम आत्मवश हैं, स्वाधीन हैं, वहाँ सुख है–'सर्वम् आत्मवशं सुखम्।' वेदान्ती लोग सुखकी परिभाषा करते हुए कहते हैं कि सुख वह है जिसको हम किसी औरके लिए नहीं, केवल सुखके लिए चाहते हैं। यदि हम दूसरेको देनेके लिए सुख चाहते हैं तो इसलिए चाहते हैं कि दूसरेको सुख देनेसे हम सुखी होते हैं। अन्ततोगत्वा सुख आत्मनिष्ठ ही होता है। बाजारमें क्यों जाते हो? वस्तु खरीदनेके लिए! वस्तु खरीदनेसे क्या होगा? अपने मित्रको देंगे। मित्रको क्यों देते हो? उससे हमको सुख होता है। सुख और किसीके लिए नहीं होता, सुखकी अन्तिम गति आत्मा है। इसलिए वेदान्ती लोग मानते हैं कि अपना आत्मा ही सुखस्वरूप है—

सुखमस्य आत्मनो रूपम्।

यह तो ठीक है, पर संसारमें भी तो सुखपर सुख, सुखपर सुख आता रहता है। जैसे धनका मिलना सुख है, घरमें रहना सुख है, इत्यादि। जब यक्षने युधिष्ठिरसे पूछा था कि आनन्द क्या है, तो युधिष्ठरने यही उत्तर दिया था—

पञ्चमेऽहनि षष्ठे वा शाकं पचति स्वे गृहे।
अनृणी चाप्रवासी च स वारिचर मोदते॥
(वनपर्व ३१३.११५)

आनन्द इसीमें है कि अपने ऊपर किसीका कर्ज न हो और पराये घरमें रहना न पड़ रहा हो—भले ही खानेके लिए पाँचवे-छठे दिन साग-सब्जी मिले। दूसरे शब्दोंमें, रहनेके लिए अपना घर हो और अपने जिम्मे किसोकी देनदारी न हो तो रूखा-सूखा या साग-सब्जी खाकर भी सुखी रह सकता है। इस स्वाधीनताको, इस स्वातन्त्र्यको युधिष्ठिरने सबसे बड़ा सुख बताया है।

पर संसारी सुख तो आते-जाते रहते हैं—यह आया और वह गया। ऐसी स्थितिमें सुखी कैसे रहा जाये? ऐसे रहा जाये कि इन सुखोंको आने दो, आनेसे रोको मत, लेकिन यह स्पृहा मत करो कि ये हमारे घरमें, हमारे पास बने रहें। क्योंकि दुनियाकी कोई ऐसी

चीज नहीं है, जो सदा-सर्वदा बनी रहेगी। बुद्धिको ठीक रखनेके लिए यही उपाय है कि दुःखसे लड़ाई मत करो, क्योंकि जो दुःख आया है, वह चला जायेगा और सुखको भी पकड़कर रखनेकी कोशिश मत करो, क्योंकि वह भी तुम्हारे घरमें नहीं रहेगा। औरोंके घरमें भी तो जायेगा—सुखेषु विगतस्पृहः।

ऐसी बात ग्रहण करनेके लिए तीन बुद्धि चाहिए—'वीतराग-भय-क्रोधः'। जो सुख देनेवाला है उससे राग मत करो, आगे यह नहीं रहेगा, इसका भय भी मत करो और जो उसमें बाधा डालें, उसपर क्रोध भी मत करो। जब क्रोध आनेवाला हो तो सावधान हो जाओ। जब खूनमें गर्मी आने लगे, आँखें लाल होने लगे और जीभसे कुछ अण्ट-सण्ट निकलनेवाला हो तो समझ जाओ कि क्रोध आनेवाला है। पहलेसे ही तय करके रखो कि यदि एक क्रोधमें कुछ बोल देंगे तो उतने दिन नमक नहीं खायेंगे, इतने दिन शक्कर नहीं खायेंगे और इतने दिन चाय नहीं पीयँगे। इसलिए जब क्रोध आनेवाला होगा तब याद आयेगी नमक, शक्कर और चाय-पान। जब इसकी याद आने लगेगी तो जिसपर क्रोध है, वह आँखोंसे ओझल हो जायेगा। क्रोधका कारण उपस्थित होनेपर समझो कि वह काम ईश्वरकी प्रेरणासे हुआ है महाभूतका स्वभाव है। उस समय मौन हो जाओ और एकाध घण्टे तक मत बोलो। एकान्तमें चले जाओ, थोड़ा रो लो। यह कभी उचित मत समझो कि क्रोध तो आया तुमको और दुःख पहुँचाना चाहते हो दूसरेको।

तो, जब आप अपने जीवनको ऐसा नियन्त्रित बनायेंगे, तब आपकी बुद्धि स्थिर होगी। जिसके जीवनमें कोई नियम नहीं, कोई मर्यादा नहीं, उसकी बुद्धिमें भी कोई बल नहीं। जो नियमका, मर्यादाका पालन करता है, कोई व्रत ग्रहण करता है और कष्ट सहकर भी उसको पूरा करता है, उसके जीवनमें बलका उदय होता है।

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः—आत्मदेव बलहीनको नहीं मिलते। मनुष्यको आत्मबल चाहिए, बुद्धिबल चाहिए, मनोबल चाहिए, चरित्र-बल चाहिए। बुद्धिको स्थिर रखनेके लिए आवश्यक है कि आपका मन डावाँडोल न हो जाये, थोड़ा-सा प्रलोभन देखकर विचलित न हो

जाये और थोड़ा-सा प्रतिकूल निमित्त देखकर आगबबूला न हो जाये। बुद्धिको ठीक रखिये।

यदि आपकी बुद्धिमें स्थिरता न हो तो आप भगवान्‌से प्रेम करके उनको क्या निहाल करेंगे? एक सज्जनके ऊपर किसी मुकदमेका संकट आया था। उनको किसीने बताया कि तुम भगवान्‌की अमुक पूजा करो, मानता मानो तो तुम्हारा काम पूरा हो जायेगा। सज्जनने वैसा ही किया और उनका काम पूरा हो गया। जब सामनेवालेने हाईकोटमें अपील कर दी तो दूसरी बार भी उन्होंने पूजा-पत्री की। लेकिन उसमें वे हार गये। अब तो उन्होंने भगवान्‌की मूर्ति उठाकर फेंक दी। उनको भगवान्‌पर गुस्सा आगया। ऐसे और भी कई लोगोंको हम जानते हैं जो फ्रेममें मढ़े गये भगवान्‌के चित्रको तोड़ देते हैं, भोग लगाना बन्द कर देते हैं, पूजा-पाठ खत्म कर देते हैं—इसलिए कि भगवान्‌ने उनके मनका क्यों नहीं किया; लेकिन जीवकी यह हिमाकत ही है कि वह भगवान्‌पर इस प्रकारका गुस्सा करे। उन सज्जनको ब्राह्मणोंने समझाया कि भगवान् तो सबपर कृपा करते हैं, आप सर्वोच्च अदालतमें अपील कीजिये, हमें विश्वास है कि सफलता मिलेगी। सज्जनने ब्राह्मणोंकी बात मान ली, अनुष्ठान बैठाया, अपील की और जीत गये। फिर तो उन्होंने बड़ा भारी उत्सव किया।

लेकिन जो बुद्धि अपनी जीतके साथ जुड़ी हुई है, वह जब हारती है तो डाँवाडोल हो जाती है और जब जीत होती है तब फूल जाती है। उसमें कभी शोध हो जाता है और कभी वह सुखण्डी हो जाती है। ऐसी बुद्धि कभी स्थिर नहीं होती।

इसलिए आप इस बातको बराबर ध्यानमें रखो कि यदि आपको अपने जीवनमें भगवान्‌से प्रेम करना है, अपने प्यारेको प्रसन्न रखना है, अपने व्यापारको सफल बनाना है तो उन सभीके लिए स्थिर बुद्धिका प्रयोग अनिवार्य है। बिना स्थिर बुद्धिके कोई काम बनता नहीं है। डाँवाडोल बुद्धि तो बने-बनाये कामको बिगाड़ देती है। जीवनमें सर्वत्र बुद्धि और कर्मका समन्वय है, बुद्धि और भक्तिका समन्वय है, बुद्धि और योगका समन्वय है, बुद्धि और ब्रह्मज्ञानका समन्वय है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

: ८ :

आइये, गीतामें भक्ति तथा ज्ञानके समन्वयपर और विचार करें। यह हम कह चुके हैं कि समन्वयके लिए दोनोंके ज्ञानकी आवश्यकता होती है—सामान्य ज्ञानकी भी और विशेष ज्ञानकी भी। दोनोंकी अपनी-अपनी अपूर्वता होती है। एकसे दूसरा यथार्थ नहीं होता है। दोनों अपना-अपना काम करते हैं और अन्तमें फल एक ही निकलता है। 'सम्यक् अन्वय'—एकके पीछे दूसरा चलता है। भक्तिके पीछे ज्ञान चले, ज्ञानके पीछे भक्ति चले और दोनों मिलकर एक काम करें, तब उनका समन्वय होता है।

अब पुनः भक्तिकी बात लेते हैं। अर्जुनका श्रीकृष्णके साथ शारीरिक नाता भी है। अर्जुन श्रीकृष्णके बूआका बेटा भी है—कुन्तीका पुत्र है और बहन सुभद्राका पति होनेके कारण बहनोई भी है। यह शारीरिक सम्बन्ध भी प्रीतिका हेतु होता है। यदि हम भी भगवान्‌के साथ कोई सम्बन्ध स्थापित कर लें तो उसमें ऐसा रस आयेगा, वह ऐसा मधुमय होगा कि संसारके दूसरे सम्बन्ध छूट जायेंगे।

'हरि सों जोरि सबनि सों तोरयो'—भगवान्‌के साथ नाता जोड़ लो, उसमें इतना आनन्द है कि उसके सामने संसारका आनन्द फीका

पड़ जायेगा। अर्जुन श्रीकृष्णसे कहते हैं कि हमारा तुमसे शारीरिक सम्बन्ध है, मिलना-जुलना है, बातचीत हैं और ऐसी मित्रता है कि मैं कभी-कभी गाली-गलौज भी कर बैठता हूँ—

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात् प्रणयेन वापि॥

अर्जुन हे कृष्ण, हे यादव, हे सखा कहकर श्रीकृष्णको सम्बोधित करते हैं। भगवान्‌के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लेना भक्ति है। जैसे माता-पिताके प्रति भक्ति होती है, मित्रके प्रति प्रेम होता है और छोटे के प्रति स्नेह होता है वैसे ही भगवान्‌के साथ एक सम्बन्ध जोड़ना चाहिए।

अब देखो कि प्रेम बढ़ता कैसे है? शास्त्रमें यह प्रश्न उठाया गया है कि प्रेमके आलम्बन विभाव तो मित्र-मित्र होते हैं, प्रेयसी-प्रियतम होते हैं या माता-पुत्र होते हैं। लेकिन प्रेमका उद्दीपन विभाव क्या है? उद्दीपन माने उकसाना, जैसे टिमटिमाते हुए दीपककी बत्तीको इसलिए उकसा दिया जाता है कि वह और प्रज्वलित हो जाये, वैसे ही उद्दीपन विभावका अर्थ है प्रेमको उद्दीप करनेवाला। वह वस्तु क्या है, जिससे प्रेम बढ़ता है?

प्रीति-सन्दर्भमें उसका निश्चय किया हुआ है कि विनयके प्रति प्रेम बढ़ता है, शालीनके प्रति प्रेम बढ़ता है और प्रेमीके प्रति प्रेम बढ़ता है। जो हमसे प्रेम करता है, उसके प्रति हमारा प्रेम बढ़ता है, अभिमानीके प्रति प्रेम नहीं बढ़ता है। जैसे गंगाजीका स्वभाव पहाड़ पर से नीचे उतरनेका है वैसे ही प्रेमका स्वभाव नीचे बहनेका है। जिसमें विनय होगी, उसके प्रति तो प्रेम होगा, लेकिन जो अपना बड़प्पन दिखायेगा उसके प्रति प्रेमका उदय नहीं होगा। इससे सिद्ध होता है कि प्रेमका उद्दीपन विभाव प्रेम ही है। महाभारतमें एक बहुत छोटी-सी कथा आती है कि एक बार अग्नि देवताको घी-बूरा आदिकी हवन-सामग्री ग्रहण करते-करते अजीर्ण हो गया। देवताओंके वैद्य अश्विनी-कुमारने बताया कि अब आप वानस्पत्यका अर्थात् जडी-बूटी और फल-फूलका सेवन कीजिये। किसी जंगलको जलाइये, तब आपका अजीर्ण दूर हो जायेगा। अग्नि देवताने खाण्डव वनको जलानेका

निश्चय किया। लेकिन जब वे खाण्डव वनको जलानेके लिए गये तो उसमें निवास करनेवाले बड़े-बड़े भयंकर प्राणियोंने उनको रोका कि आप हमारे आश्रय-स्थलको कैसे जला सकते हैं? श्रीकृष्ण और अर्जुन अग्निदेवताको सहायता करनेके लिए पहुँचे—वहाँ भी श्रीकृष्ण सारथि थे और अर्जुन रथी। इन्द्रने कहा कि देखो अर्जुन, इस खाण्डव वनमें हमारा एक मित्र सर्प रहता है, इन्द्र अर्जुनके पिता हैं और अर्जुन इन्द्रांश है। इसलिए अर्जुनने अपने पिताकी आज्ञा मानकर सर्पकी रक्षा की। इन्द्र बड़े ही प्रसन्न हुए और उन्होंने श्रीकृष्णसे कहा कि तुमने अर्जुनके द्वारा हमारे मित्रकी रक्षा करवा दी, इसलिए मैं तुमपर प्रसन्न हूँ, तुम वर माँगो। श्रीकृष्णने यह नहीं कहा कि तू एक छोटे-से स्वर्गका राजा और कहाँ मैं अनन्तकोटि ब्रह्माण्डका एकछत्र सम्राट्, तू मुझे क्या वर देगा? वे बोले कि हाँ-हाँ महाराज, आप देवता हैं, मैं मनुष्य हूँ। आप अवश्य वर दीजिये। लेकिन यही वर दीजिये कि अर्जुनके साथ मेरी मैत्री सदा बनी रहे, कभी टूटे नहीं।

इस प्रसंगमें एक लौकिक बात है। यदि किसीसे अपनी मैत्री हो और उस मैत्री सम्बन्धको मित्रके पिताका भी अनुमोदन प्राप्त हो जाये तो फिर मित्रतामें कोई बाधा नहीं होती। श्रीकृष्णने अर्जुनसे मैत्री रखनेका वरदान माँगा, इसका प्रभाव अर्जुनपर यह पड़ा कि उसका श्रीकृष्णके प्रति अगाध विश्वास हो गया। मैत्रीके मूलमें विश्वास आवश्यक है। यदि विश्वास टूट जाय तो न मित्र-मित्रमें, न पति-पत्नीमें और न माता-पुत्रमें प्रेम रहेगा। विश्वास ही प्रेमका मूल है। प्रेम विश्वाससे पैदा होता है, विनयकी ओर चलता है और प्रेम देखकर बढ़ता है। यह प्रेमका स्वभाव है।

देखो, अर्जुनसे श्रीकृष्णका कितना प्रेम है। अर्जुनका भी श्रीकृष्ण-पर कितना विश्वास है। आपको वह प्रसंग याद होगा कि जब अर्जुन श्रीकृष्णको युद्धके लिए आमन्त्रित करने गये तो वहाँ दुर्योधन पहलेसे ही उपस्थित थे। श्रीकृष्ण सो रहे थे और दुर्योधन उनके सिरहानेकी ओर बैठे थे। दुर्योधन को युधिष्ठिर सुयोधन बोलते थे। यह धर्मात्माकी दृष्टि है। दुर्योधन श्रीकृष्णके सिरहाने इस अहंकारके कारण बैठे थे कि मैं राजा हूँ, मेरे लिए यही उपयुक्त स्थान है। लेकिन जब अर्जुन आये तो वे अपने विनयके कारण श्रीकृष्णके पाँवोंकी ओर

बैठ गये। जब श्रीकृष्णकी आँख खुली तो पाँवोंकी ओर गयी और उन्होंने अर्जुनको उधर बैठे देखा। श्रीकृष्ण झट उठ गये और उन्होंने अर्जुनको हृदयसे लगा लिया। फिर पूछा कि अर्जुन, कैसे आये ? अर्जुन बोले कि युद्ध शुरु होनेवाला है, उसमें आपकी सहायता लेने आया हूँ। इतनेमें दुर्योधन बोल उठे कि मैं अर्जुनके आनेके पहलेसे आकर बैठा हूँ और मेरे आनेका उद्देश्य भी यही है कि युद्धमें मुझे तुम्हारी सहायता प्राप्त हो। श्रीकृष्ण बोले कि ठीक है भाई, तुम पहले आये परन्तु मैंने अर्जुनको पहले देखा इसलिए उससे बात शुरू कर दी। अब तो कुछ अर्जुनकी और कुछ तुम्हारी सहायता करनी चाहिए। श्रीकृष्णने अपनी सहायताको दो हिस्सोंमें बाँट दिया—एक ओर अपनी बहुत बड़ी नारायणी सेना कर दी और दूसरी ओर स्वयं अकेले और वह भी निरायुध हो गये। फिर बोले कि भाई अर्जुन, तुम छोटे हो, इसलिए माँग लो, दोनोंमें से तुम्हें क्या चाहिए ? यहाँ अर्जुनका विनय और विश्वास दोनों प्रकट हुए, बोले कि हमको तो सेना नहीं, कृष्ण चाहिए। सेना हमारी रक्षा नहीं कर सकती, श्रीकृष्ण हमारी रक्षा कर सकते हैं। इस घटनासे श्रीकृष्णकी प्रीति गयी अर्जुनपर और अर्जुनकी प्रीति गयी श्रीकृष्णपर। इसलिए श्रीकृष्णने कई बार कहा कि—'भक्तोऽसि मे सखा चेति, इष्टोऽसि मे दृढमिति'—अर्जुन, तुम मेरे भक्त हो, सखा हो।

यदि अर्जुनके चित्तमें श्रीकृष्णके प्रति भक्ति न होती तो वे उनका गीताका ज्ञान नहीं देते। यह बात उन्होंने गीतामें कई बार कही है कि मैं जो बता रहा हूँ, वह भक्तके लिए है। तेरहवें अध्यायमें जहाँ वे क्षेत्रज्ञका, प्रकृति, पुरुषका वर्णन करते हैं, वहाँ कहते हैं कि—'मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते' मेरा भक्त इसको जानता है और जानकर मेरा स्वरूप हो जाता है। भक्त वह है जो भगवान्‌को अपने नन्हें-से हृदयमें बैठा लेता है। कहाँ हृदयकी छोटी-सी कोठरी और कहाँ उसमें बैठनेवाले अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंके मालिक विराट् भगवान्। यह भक्तके अन्तःकरणकी विशेषता है कि भगवान् उसमें बैठ लेते हैं।

अब ज्ञानकी बात देखो। जो अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य है, वही श्रीकृष्णाकारावच्छिन्न चैतन्य है। जबतक प्रमाता प्रमेयसे एक नहीं होता, तबतक ज्ञान नहीं होता। विषय-ज्ञानमें भी यही पद्धति है। जब

घड़ा आपके मनमें आजायेगा तब आपका और घड़ेका, दोनोंका चेतन एक हो जायेगा और तभी ज्ञान होगा। ऐसे समझ लो कि ये जो स्वामीजी आपके सामने बैठे हैं, इनको मैंने आँखके द्वारा हृदयमें बैठा लिया। अब क्या हमारे हृदयमें बैठे हुए स्वामीजीका जीवचैतन्य अलग है और इनको देखनेवाला, अपने दिलमें बैठानेवाला जो मैं हूँ, उसका जीव-चैतन्य अलग है ? नहीं, जो देखनेवालेका चेतन है, वही दीखनेवालेका चेतन है। इसलिए जबतक स्थायी-भावावच्छिन्न चैतन्यकी आलम्बन-भावावच्छिन्न चैतन्यसे एकता नहीं होगी, तबतक रसकी अनुभूति नहीं हो सकती। यह रसकी शास्त्रीय प्रक्रिया है। जब हम किसीसे एक हो जाते हैं तब उसका मजा हमको मिलता है। इसको दिलसे दिल मिलना बोलते हैं और कहते हैं कि हमारा दिल और हमारे प्यारेका दिल दोनोंका एक है। जब भगवान्का भक्त यह विज्ञान प्राप्त करता है तब वह भगवत्स्वरूप हो जाता है।

इदन्ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यम्॥

देखो, अर्जुनका विनय, अर्जुनका विश्वास और अर्जुनका वरण। उसने एक अक्षौहिणी बलवती नारायणी सेनाका परित्याग किया और एकाकी अस्त्र-शस्त्ररहित, निहत्थे श्रीकृष्णका वरण किया। 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्य : ( क० उप० १.२.२३ ) इस प्रकार जो भगवान्का वरण करता है, उसीको भगवान् मिलते हैं।

भगवान् भी अपने भक्तों के लिए कितने छोटे हो जाते हैं ? कहाँ निर्गुण, निराकार, निर्विकार, निर्धर्मक, निर्विशेष अद्वितीय परमात्मा और कहाँ उतरकर आया मायामें ? मायासे भी उतरकर आया विराट् स्थूल समष्टिमें, वहाँसे उतरकर आया एक ब्रह्माण्डमें और ब्रह्माण्डमें-से उतरकर आया भारतवर्षमें। उसको अपने भक्तके लिए अपनी बृहत्ताका, अपने बड़प्पनका ध्यान छूट गया। यह भगवान्का अनुग्रह नहीं तो और क्या है ?

लोग भगवान्के इस अनुग्रहका आस्वादन इसलिए नहीं कर पाते कि वे छोटी-छोटी बातोंमें अटककर सच्चे धर्मको भूल जाते हैं। छोटी चीजमें अटक गये। आजकल मजहबने सच्चे धर्मको तिरस्कृत कर

दिया है। भाषाने ज्ञानका अनादर कर दिया है। हम इतने भाषा-निष्ठ हो गये हैं कि यदि दूसरी भाषामें ज्ञान मिलता हो तो उसका अनादर करते हैं। लेकिन ऐसा करके हम ज्ञानका ही अनादर करते हैं। ज्ञान बड़ी चीज है, भाषा छोटी चीज है। मानवता बड़ी चीज है, जाति छोटी चीज है। धर्म बड़ी चीज है, मजहब छोटी चीज है। राजनीति बड़ी चीज है, पार्टी तो बिलकुल तुच्छ वस्तु है। कहाँ राष्ट्रका विशाल हित, कहाँ राष्ट्रीयता और अनन्तर राष्ट्रीयताकी उदार नीति तथा कहाँ दल-दलमें फँसा नेता! तो यह छोटी-सी दलबन्दी! दलबन्दी भी नहीं, व्यक्तिवाद। पार्टी हित नहीं, अपना हित। इस प्रकार हम जितने-जितने छोटे होते जाते हैं उतना ही उतना हमारा बड़प्पन छूटता जाता है और हम कूप-मण्डूक बन जाते हैं।

लेकिन हमारे भगवान् कितने दयालु हैं। जब वे देखते हैं कि हमारा भक्त कुएँमें गिरा है तो कुएँमें ही पहुँचकर उसको अपने हृदयसे लगा लेते हैं। देखो तो सही, भगवान् बूआके लड़के बने, साले बने, मित्र बने और फिर रथके सारथि तक बन गये। यदि भगवान् भक्तकी समान सत्तामें नहीं आयेंगे तो उद्धार कैसे होगा? भक्ति-सिद्धान्तमें यह बात नहीं मानी जाती कि जहाँ हम हैं, वहाँ भगवान् नहीं आयेंगे। हमको ही भगवान्‌के पास पहुँचना होगा और तभी हमारा उद्धार होगा। हमारे पास तो भगवान्‌के पहुँचनेकी शक्ति नहीं है, साधना ही नहीं है। भक्ति ही भगवान्‌को भक्तके पास ले आती है और अनन्तसे सान्त और अनादिसे सादि बनाती है। यह भक्तिकी ही करामात है कि भगवान् बापसे बेटा बन जाते हैं, रिश्तेदार-नातेदार बन जाते हैं, मित्र बन जाते हैं, सेवक बन जाते हैं। जिसके सङ्कल्पमें समग्र विश्व है, उसको लाकर अपने हृदयमें बैठानेवाली भक्ति ही है। भक्ति ही भगवान्‌के पास पहुँचाती है, भक्ति ही भगवान्‌को खींच लेती है और भक्ति ही भगवान्‌का दर्शन कराती है। भक्तको ही भगवान् ज्ञानका उपदेश करते हैं।

अब अर्जुनकी भक्ति देखो। वे कहते हैं कि 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' मैं तुम्हारा शिष्य हूँ, तुम्हारी शरणमें आया हूँ और प्रपन्न हूँ अर्थात् तुम्हारे पाँव पकड़ता हूँ। पाँवका तलवा नीचे होता है और पञ्जा ऊपर होता है। उसीको संस्कृतमें प्रपद बोलते हैं। प्रपद माने पदका प्रकृष्ट अंश, पाँवका ऊपरी हिस्सा। प्रपद्ये माने पकड़ लेना।

अर्जुन कहते हैं कि मैंने अब तुम्हारे पाँव पकड़ लिये हैं श्रीकृष्ण! तुम मुझे ज्ञानका उपदेश करो।

यहाँ देखो; अर्जुनमें पहले श्रीकृष्णके प्रति भक्ति हुई और फिर प्रपत्ति हुई। यह प्रपत्ति अथवा शरणागति भी दो तरहकी होती है—एकको बोलते हैं मर्कट-शरणागति और दूसरीको बोलते हैं मार्जार-शरणागति। मर्कट-शरणागतिको ऐसे समझो कि बन्दरका बच्चा अपनी माँको दोनों हाथोंसे पकड़े रहता है। वह कितनी भी उछले-कूदे, इधर जाये-उधर जाये, कितनी भी चञ्चलता करे पर उसका बच्चा उसको बराबर पकड़े रखता है, छोड़ता नहीं। मार्जार-शरणागति उसको कहते हैं कि बिल्लीका बच्चा अपने आपको अपनी माँके भरोसे छोड़ देता है। उसकी माँ उसको अपने मुँहसे उठाती है और चाहे जहाँ उठाकर रख देती है। जिन दाँतोंसे वह चूहोंको चबा जाती है, उन्हीं दाँतोंसे पकड़कर वह अपने बच्चेको उठाती है और उसे जरा भी चोट नहीं आती। जैसे बिल्लीका बच्चा अपनी माँपर अपनेको छोड़ देता है, वैसे ही भगवान्‌के प्रति अपनेको समर्पित कर देना मार्जार-शरणागति है और जैसे बन्दरका बच्चा अपनी माँको पकड़कर रखता है, वैसे ही भगवान्‌को पकड़ना मर्कट-शरणागति है और अपनेको भगवान्‌के ऊपर छोड़ देना मार्जार-शरणागति है। इसे रामानुज-सम्प्रदायमें दृप्त-शरणागति और आर्त-शरणागति बोलते हैं। हम पकड़े हुए हैं—यह दृप्त शरणागति है और हम तो पकड़ नहीं सकते, भगवान् हमको पकड़े हुए हैं—यह आर्त-शरणागति है। इसमें विश्वासकी पराकाष्ठा है। जिसकी हमें शरण लेनी है, वह सर्वज्ञ होना चाहिए, शक्तिशाली होना चाहिए और दयालु होना चाहिए। तभी उसकी शरण ग्रहण की जाती है।

अर्जुन प्रपन्न हैं भगवान्‌के और भगवान् प्रपन्न-पारिजात हैं। जो उनकी शरणमें आवें, उसके लिए कल्पवृक्ष हैं। भगवान् भक्तको अपने पास पहुँचानेमें भी मदद करते हैं और पहुँचनेपर उसके सारे काम बना देते हैं।

संसारमें तीन तरह के भक्त होते हैं। एक तो वे होते हैं जो भक्ति करते हैं भगवान्‌की और उनसे माँगते हैं संसार—हमको बेटा दे दो,

धन दे दो, हमारा व्याह करा दो, हमारी जीत करा दो आदि-आदि। दूसरे वे होते हैं, जो भक्ति करते हैं भगवान्‌की और उनसे माँगते हैं भगवान्‌को। उनका ख्याल होता है कि हम भगवान्‌की पूजा करते हैं, इतना ध्यान करते हैं, इतनी भक्ति करते हैं, साढ़े तीन करोड़ भगवन्नाम जपते हैं, उसके बदलेमें भगवान् हमें मिल जायें। लेकिन क्या भगवान्‌का मिलना साधारण बात है? यदि त्रिलोकीकी त्रैकालिक सम्पत्ति भी तराजूके पलड़ेपर रख दी जाय तो वह भगवान्‌की कीमतकी बराबरी नहीं कर सकती। तीसरी तरहके भक्त केवल भजन करते हैं। वे न तो भक्तिके बदले भगवान्‌से संसार माँगते हैं और न भगवान्‌को माँगते हैं। वे कहते हैं कि भगवान् हमारी भक्तिसे नहीं, अपनी करुणासे, अपनी कृपासे मिलते हैं। जब भगवान् यह देखते हैं कि हम उनके लिए व्याकुल हैं, उत्सुक हैं, उनसे प्रेम करते हैं, तो वे स्वयं आकर हमसे मिलते हैं। इसप्रकार एक जगह साधन है भगवान् और साध्य है संसार, दूसरी जगह साधन है अपनी भक्ति और साध्य हैं भगवान् और तीसरी जगह भगवान् ही साधन हैं, भगवान् ही साध्य हैं। शरणागत भक्त यह कहता है—

बुद्धिर्विकुण्ठिता नाथ समाप्ता मम युक्तयः।
नान्यत् किंचित्तु जानामि त्वमेव शरणं मम॥

हे नाथ, मेरी बुद्धि कुण्ठित हो गयी, सारी युक्तियाँ समाप्त हो गयीं, अब मुझे अपने किसी साधनका भरोसा नहीं है। अब तो बस आपका आश्रय है, आपकी ही शरण है। इसलिए—'त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये' मैं आपके चरणोंमें शरणागत हूँ।

गीताके प्रारम्भमें अर्जुनकी प्रपत्ति है—वह श्रीकृष्णके प्रपन्न हुआ और उसके पाँव पकड़ लिये। किन्तु गीता के अन्तमें अर्जुनकी शरणागति है। स्वयं भगवान्‌ने कहा है: 'मामेकं शरणं व्रज'—एकमात्र मेरी शरणमें आजाओ।

जबतक ईश्वरकी भक्ति चित्तमें नहीं आयेगी, तब तक संसारकी भक्ति बनी रहेगी। आप यह मत समझना कि आपका अन्तःकरण संसारकी भक्तिसे मुक्त है। आप जन्म-जन्मसे, अनादिकालसे संसारमें रहते आये हैं और संसारमें प्रीति करते रहे हैं। धनसे प्रीति है, कुर्सीसे

प्रीति है और सगे-सम्बन्धियोंसे प्रीति है। हृदयमें आसक्ति तो संसारके प्रति है और ज्ञानकी बड़ी-बड़ी बातें करते हैं। लेकिन गीध और चील चाहे जितना ऊँचा उड़ें, उनकी नजर तो धीरतीपर पड़े मांसके टुकड़ोंपर ही रहती है। परन्तु जब भगवान्से प्रीति हो जाती है, तब संसारके प्रति जो आसक्ति है, आकंषण है, वह नहीं होता। गीतामें यह बात स्पष्ट है कि ज्ञान भगवान्के भक्तको ही होता है।

एक बात और, कई लोग भक्तिसे परहेज करते हैं। यह परहेज शब्द भी संस्कृतका ही है। 'परिजिहासा, परिजिहीर्षा'—अर्थात् त्याग करनेकी इच्छा और परहेज माने छोड़नेकी इच्छा। कितना साम्य है। जो लोग भक्तिसे परहेज करते हैं और ज्ञान चाहते हैं उनको ज्ञानके बैठनेकी जगह बनानी पड़ती है। जब हम अपने घरमें किसी बड़ेको बुलाते हैं तो उनके लिए कमरेको साफ करना पड़ता है, बैठनेके लिए कुर्सी देनी पड़ती है, रोशनी करनी पड़ती है, पंखेकी व्यवस्था करनी पड़ती है, और उसको भोजन देना पड़ता है। फिर जब हम ज्ञान-परमेश्वरको अपने हृदयमें बुलाना चाहते हैं तो क्या कूड़े-करकटमें बुलायेंगे, जहाँ कुछ भी रोशनी नहीं है वहाँ बुलायेंगे ? जहाँ साँस लेनेके लिए जगह नहीं है, वहाँ बुलायेंगे ? मुसाफिर-खाने में बुलायेंगे ? हमारा दिल तो एक खासा मुसाफिरखाना हो गया है। उसमें दस आते हैं, दस जाते हैं, उसीमें चाहते हो कि भगवान् भी आजायँ ? नहीं-नहीं, भगवान्के बैठनेके लिए जगह बनानी पड़ेगी।

लेकिन जगह कौन बनायेगा ? भक्ति देवी बनायेंगी। जब भक्ति देवी आती हैं, तब भगवान्के लिए सब व्यवस्था कर लेती हैं। उनको पता होता है कि ज्ञान भगवान् किस रास्तेसे आयेंगे ? क्या खायेंगे-पीयेंगे ?

एक बार मुझे किसीने कहीं बुलाया था। जगह क्या थी, मुझे आश्चर्य हुआ, जब उस प्रेमीने बताया कि मैं रातभर इस कमरेमें रहकर यह देख चुका हूँ कि कहाँ पानी रखनेमें सुविधा रहेगी, कहाँसे बाथरूम जाना ठीक रहेगा और किधरसे भोजनके लिए जानेमें आसानी रहेगी, यह सब हमने पहले समझ लिया है। आपकी सुविधाकी दृष्टिसे ही हमने ऐसा किया।

जब भक्ति देवी हृदयमें आती हैं, तब अकेले नहीं आती, वे

निर्विषयक नहीं होतीं। भक्तिके पेटमें कुछ न कुछ रहता ही है। जाति-भक्तिमें जाति होती है, समाज-भक्तिमें समाज होता है, देश-भक्तिमें देश होता है; परन्तु भगवद्गीतामें केवल भगवान् होते हैं, भगवद्गीता केवल भगवद्विषयक होती है।

अब देखो, भगवान् आपसे परोक्ष हैं कि अपरोक्ष? आपको भगवान्का दर्शन होता है या नहीं? भगवान् हैं क्या? इन प्रश्नोंपर विचार करो। आत्मा अपरोक्ष है। इसलिए उसका विवेक होता है—यह आत्मा है, यह अनात्मा है। मैं यह नहीं हूँ, इससे न्यारा हूँ—इस विचारका नाम होता है विवेक। 'विचिर पृथग्भावे'—जिससे तुम मिल गये हो, उससे अपनेको अलग करो। लेकिन परमेश्वरके बारेमें ऐसा ख्याल नहीं है कि वे अपरोक्ष हैं। यही ख्याल है कि वे परोक्ष हैं, आँखोंसे ओझल हैं।

इसलिए उनके विवेकमें सूखा विवेक नहीं चलेगा। यदि परमात्माको संसारसे अलग करना है तो सूखे विवेकसे काम नहीं चलेगा, उसके लिए तो श्रद्धा-सहित विवेक चाहिए। जो परोक्ष तत्पदार्थ है, तत्-पदका वाच्यार्थ है, कहाँ परमात्मा है और क्या परमात्मा है—यह ज्ञान प्रीतिके बिना सम्भव होगा ही नहीं। प्रीतिविशिष्ट विवेकको ही भक्ति कहते हैं और प्रमाण-विशिष्ट प्रमाण-मूलक विवेक केवल विवेक कहलाता है। अपनेको ढूँढा जाता है केवल विवेक करके और परमात्माको ढूँढा जाता है भक्तियुक्त विवेक द्वारा। यदि भक्ति नहीं होगी तो परोक्ष वस्तुका अनुसन्धान होगा ही नहीं, यदि परोक्ष वस्तुके प्रति श्रद्धा न हो, उसके मिलनेसे कोई लाभ न हो और उसके मिलनेका कोई प्रयोजन न हो तो उसकी खोजमें कोई क्यों लगेगा?

भक्ति माने विभाग—भागो भक्तिः। भजनं भागः। यह विभाग करो कि संसार क्या है? भगवान् क्या है? संसार और भगवान्के विश्लेषणका नाम भक्ति है। परन्तु यह विश्लेषण, यह विभाग, यह विवेक, जबतक प्रेम नहीं होगा, श्रद्धा नहीं होगी तबतक नहीं होगा।

हमारे अन्तःकरणमें जो ज्ञान है, वह प्रीति विशिष्ट है अर्थात् ईश्वरका ज्ञान प्रीतिसे भरा हुआ है। साक्षीका ज्ञान प्रीतिकी अपेक्षा नहीं रखता। जब प्रीति-विशिष्ट ज्ञान होगा तो वह सविषयक हो

जायेगा। विशिष्ट ज्ञानका विषय भी विशिष्ट होगा। इसलिए हमारे हृदयमें जो भक्ति होगी, उसमें सगुण सविशेष परमेश्वर आजायेगा।

देखो, एक अन्तःकरण है और उसका प्रकाशक साक्षी है, चेतन है। यह बात मैंने वेदान्तियोंको समझानेके लिए कह दी है। यदि अन्तः-करणका साक्षी चेतन है तो उस अन्तःकरणमें जो भक्ति है और उस भक्तिमें जो भगवान् है, उसका साक्षी कौन है ? तुम्हारे अन्तःकरणका जो चेतन है, भक्त्याकार परिणत अन्तःकरणका जो भगवदाकार है, उस आकारका चेतन कौन है ? बिल्कुल एक ही है। इसलिए तत्पदार्थ और त्वं-पदार्थकी एकतामें, लक्ष्यार्थकी एकताके ज्ञानमें, यह तत्पद-वाच्यार्थ और त्वंपद-वाच्यार्थका अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य एक है। यह त्वंपद-वाच्यार्थ है, लक्ष्यार्थ है। भक्तिमें भगवदाकारसे अवच्छिन्न जो चैतन्य है, वह तत्पद-वाच्यार्थ है। दोनोंमें जो चेतनकी एकता है वह लक्ष्यार्थ है।

मतलब यह कि जो आत्माके रूपमें चेतन है, वही परमात्माके रूपमें भी चेतन है। यह अनुभव, यह ज्ञान, भक्तिसे हो जायेगा। 'भक्तिर्ज्ञानाय कल्पते'—भक्तिसे ज्ञान हो जायेगा और फिर भक्ति तथा ज्ञान दोनोंकी एकताका ज्ञान हो जायेगा। भक्ति माने श्रद्धापूर्वक भगवान्‌का अनुसन्धान। परोक्ष पदार्थका अनुसन्धान तब होगा, जब उसमें थोड़ा मजा आने लगेगा—

सुखमेव लब्ध्वा करोति नासुखं लब्ध्वा करोति।

जो ज्ञान भगवद्विषयक होता है, वह थिरकता हुआ होता है, नाचता हुआ होता है, पाँवका नूपुर बज गया, ठुड्डी हिल गयी, होंठोंपर मुस्कान आगयी, आँखोंपर प्यार आगया, पीताम्बर फहरा गया। यह सब क्या है ? ज्ञान नाच रहा है। नाचते हुए ज्ञानको, थिरकते हुए ज्ञानको, संस्कृत भाषामें 'उल्लसित ज्ञान' बोलते हैं। जैसे गङ्गाजीकी धारामें वायुके स्पर्शसे मन्द-मन्द थिरकन होती है, तरङ्ग उठती है, वैसे ही जब ज्ञान लहराता है, तब उसको भक्ति बोलते हैं। जब अपना हृदय भगवान्‌के लिए तरङ्गायमान होता है, तब उस तरङ्गायमान वृत्तिको भक्ति कहते हैं। चेतन दो नहीं होता, एक ही होता है। भगवान्‌के माहात्म्य-ज्ञानसे आती है भक्ति और भक्तिसे उत्पन्न होता है भगवत्स्व-रूपका ज्ञान, दोनों एक दूसरेके वर्द्धक हैं, पूरक हैं।

यथा यथाऽऽत्मा परिमृज्यतेऽसौ
मत्पुण्यगाथा - श्रवणाभिधानैः ।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं
चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम् ॥ श्रीमद्भा० ११.१४.२६

जैसे-जैसे अन्तःकरण शुद्ध होता जाय, वैसे-वैसे भगवान्‌के पुण्य-चरित्रका श्रवण करो और वर्णन करो। भगवान्‌के दर्शनका यही उपाय है।

शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः
स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः ।
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं
भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम् ॥ श्रीमद्भा० १.८.३६

यदि वक्ता मिल जाय तो सुनते हैं और यदि श्रोता मिल जाये तो गाते हैं। लेकिन गानेकी अपेक्षा सुनना अच्छा है। क्योंकि गानेसे कर्म होता है और कर्मसे लय होता है; श्रवणसे ज्ञान होता है और ज्ञानसे जागरण होता है। बोलना कर्मकी कोटिमें है और सुनना ज्ञानकी कोटिमें है। गायें भी तो स्वाद ले-लेकर गायें, बिना मनके नहीं गायें। जब हम भगवान्‌का स्वाद लेने लगते हैं, तब उसमें प्रवृत्ति दृढ़ हो जाती है और भगवान्‌का स्मरण होने लगता है। सुनते हैं, गाते हैं और यदि सुननेवाला या सुनानेवाला न हो तो मनसे ही गुनगुनाते हैं। इन तीन साधनोंसे भगवान्‌का स्मरण करते हैं और स्मरण करते हुए आनन्द लेते हैं—'त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकम् ।'

संसारकी बहिर्मुखताको मिटानेवाली एक बात आप ध्यानमें रख लो। प्रीति और दुःख ये दोनों तो एक साथ रह सकते हैं। अपने प्रियतमके लिए प्रीति कभी दुःखदायिनी भी हो सकती है। लेकिन प्रीति और द्वेष—ये दोनों कभी भी एक अन्तःकरणमें नहीं रह सकते। एक अन्तःकरणमें एक साथ प्रीतिका भी रस रहे और द्वेषकी आग भी जले—यह कैसे हो सकता है ? द्वेष प्रीतिका विरोधी है, परन्तु दुःख प्रीतिका विरोधी नहीं है। इसलिए भगवान्‌के लिए दुःखी होना भी प्रेम है। किन्तु दुसरेके लिए दुःखी होना प्रेम नहीं है।

प्रीति जितनी-जितनी तत्पदवाच्यार्थमें बढ़ेगी उतनी-ही-उतनी संसारकी प्रीति घटेगी और जब त्वंपदार्थका विवेक होगा तब देहादिके

साथ जो तादात्म्य है, वह छूटेगा। वहाँसे संसार हटेगा और यहाँसे देहादिका अभिमान हटेगा। भक्ति तत्पदार्थको शुद्ध करती है, विवेक त्वंपदार्थको शुद्ध करता है तथा धर्म अन्तःकरणकी उपाधिको शुद्ध करता है। तत्पदवाच्यार्थके शोधनके लिए भक्ति है, त्वंपदवाच्यार्थके शोधनके लिए विवेक है और उपाधिके शोधनके लिए धर्म है। इन तीनों बातोंका समन्वय करना हो तो कहेंगे, धर्मानुष्ठान होनेपर भक्ति आयेगी, भक्ति आनेपर भजनीयका साक्षात्कार होगा और भजनीयका साक्षात्कार होनेपर आत्मा और परमात्मा दोनोंकी एकताका बोध होगा, जो कि स्वतः सिद्ध है। इसलिए भक्ति ज्ञानके पास पहुँचा देती है।

इसी तरह भजनीय तत्त्वके माहात्म्यका ज्ञान होनेपर भक्ति आती है, फिर सम्बन्ध बनता है और सम्बन्धसे चिन्तन होने लगता है। चिन्तन-स्मरण होनेसे अन्तःकरण शुद्ध होता है और इस ज्ञानमें परिपक्वता आजाती है कि भगवान् क्या है?

पहले बताया जा चुका है कि भक्ति शब्दका एक अर्थ है भाग, विभाग होता है—'भागो भक्तिः और भञ्जनं भक्तिः।' जैसे 'रञ्जनं रक्तिः' 'अनुरञ्जनम् अनुरक्तिः' 'व्यञ्जनं व्यक्तिः' बनता है ऐसे ही 'भञ्जो आमर्दने' धातुसे 'भञ्जनं भक्तिः' बनता है। एक अर्थ यह भी है—'भजनं सेवनं, आस्वादनम्' जैसे बैल, कोई चीज पहले खा लेता है—भूसा खा लेता है, खली खा लेता है, घास चर लेता है और उसके बाद बैठकर आरामसे खाये हुएको मुँहमें लाकर पागुर करता है, चुभलाता है, उसका स्वाद लेता है, वैसे ही हम पहले पढ़ लें, बोल लें, सुन लें और फिर उस पढ़े हुएको, बोले हुएको, सुने हुएको अपने हृदयमें-से निकालकर स्मृति-पटलपर ले आयें और उसका स्वाद लें। 'भजनं नाम रसनम्'—इसका नाम होता है भक्ति। इससे संसारकी आसक्ति छूटती है, हमारे जो फँसाव हैं, बन्धन हैं वे टूटते हैं और भगवान्‌की ओर रति बढ़ती है।

'श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति'—पहले श्रद्धा होती है उसके बाद रति आती है और फिर भक्ति आजाती है।

अब देखो, भक्ति और ज्ञानका साधन क्या है? भगवान्‌ने तेरहवें अध्यायमें कहा है कि 'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी' अर्थात् अनन्य योगके द्वारा भगवान्‌की अव्यभिचारिणी भक्ति होती है। चौदहवें अध्यायमें कहते हैं कि भक्तिसे ब्रह्मभावकी प्राप्ति होती है—

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते।

अब ज्ञानमें होता क्या है, यह देखो और तत्पदार्थका भी अवलोकन करो—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

जब सब परमेश्वर है तो जो देखेंगे, वे भी परमेश्वर हैं। यहाँ देखो 'त्वं' पदार्थ—

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

अब 'असि' पदार्थ देखो—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

असि पदार्थं दोनों एक ही हैं, यह बताता है। गीताकी भक्ति कैसे ज्ञान दे देती है और ज्ञान कैसे भक्ति देता है, यह देखो—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात् परां शान्ति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया।

इसका नाम है ज्ञान और—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।

यह ज्ञान देता है भक्ति—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

: ९ :

## अम्ब त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम् ।

गीताको भगवता गीता कहिये या भगवती गीता एक ही बात है। भगवान्‌ने गान किया है इसलिए इसको भगवद्‌गीता बोलते हैं और गीता स्वयं भी भगवती है। भगवान् श्रीकृष्णने गीताके अन्तमें कुछ घोषणा की है। जैसे कोई व्यापारी अपना माल लेनेपर कमीशन देनेकी घोषणा करता है, वैसे ही भगवान् श्रीकृष्णने गीताका अध्ययन-अध्यापन करनेवालों, पढ़ने-पढ़ानेवालोंके लिए कमीशनकी घोषणा की है—

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥

श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'इति मे मतिः' मेरा दृढ़ निश्चय है कि यह

गीता मेरा और मेरे मित्र अर्जुनका 'धर्म्यं संवाद' है। इसमें कहीं भी धर्म छूटा नहीं है—'धर्मादनपेतं धर्म्यम्'। एक तो विवाद होता है और दूसरा संवाद होता है। गीता मित्र-मित्रका विवाद नहीं, गीता मित्र-मित्रका संवाद है। इसमें हम दोनोंका मत एक है, दोनोंकी राय एक है। जो मेरी राय, वही अर्जुनकी राय, हम दोनोंका मत मिल गया है। इसलिए इसका अध्ययन करो, इसको पढ़ो; यह आपके कामकी चीज है। इसका अध्ययन करनेसे आपका ज्ञान-यज्ञ होगा। जो यज्ञ होता है, वह ज्ञान नहीं होता और जो ज्ञान होता है, वह यज्ञ नहीं होता। ज्ञान बुद्धिमें होता है और यज्ञ कर्मसे होता है। इसका जो पठन-पाठन होगा, वह तो क्रिया होगी, कर्म होगा, किन्तु उससे बुद्धिमें जो भगवान् आयेंगे, वह ज्ञान-यज्ञ होगा।

तो, गीताका अध्ययन-अध्यापन एक यज्ञ है और गीता सिद्ध वस्तुका ज्ञान करानेवाला शास्त्र है। जो यज्ञ-यागादिमें रत होते हैं, उनकी ज्ञानमें रुचि नहीं होती और जो वेदान्ती हो जाते हैं, ज्ञानी हो जाते हैं, वे कर्ममें रुचि नहीं रखते। परन्तु गीता ऐसी है, जो एक साथ परमात्माका ज्ञान और यज्ञ दोनोंको हमारे जीवनमें लाती है। यज्ञमें दान-आदान होता है—ब्राह्मणको देते हैं, पहरेदारको देते हैं, सामग्री लानेवालेको देते हैं, काम करनेवालेको देते हैं। एकत्र की हुई पूँजीका चातुर्वर्ण्यमें वितरण होता है। क्रिया पवित्र होनेसे मनुष्य पवित्र होता है और उद्देश्य पवित्र होनेसे वह श्रेष्ठ स्थानको प्राप्त होता है। इसलिए श्रीकृष्णने बताया है कि—'य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।' खासकर जो हमारे भक्त हैं, उनको इसका उपदेश करना, अभिधान करना, वर्णन करना। यदि तुम अनावश्यक बातोंका वर्णन करोगे तो तुमको क्या मिलेगा? लेकिन यदि तुम हम दोनों मित्रोंका यह परम गुह्य भक्तोंको बताओगे तो 'भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः'—तुम्हारे हृदयमें भक्ति आजायेगी, तुम स्वयं भक्त हो जाओगे।

तो, भगवान्ने एक बात यह बतायी कि 'ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्याम्'—जो इसका अध्ययन करेगा, भक्तोंको सुना देगा, वह ज्ञान यज्ञके द्वारा मुझे प्रसन्न कर लेगा, उसे मेरी प्रसन्नता प्राप्त होगी, भक्ति मिलेगी और दूसरी बात भगवान्ने ऐसी बतायी जिसके बराबरकी बात कहीं अन्यत्र सुननेको कठिनतासे मिलेगी। वह बात क्या है, देखो—

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो गीताका अध्ययन कर रहा है और जो भक्तोंको गीता सुना रहा है, उससे अधिक प्यारा दुनियामें, मनुष्य जातिमें, मेरा कोई नहीं है। यह बात मैं केवल वर्त्तमानके लिए नहीं, भविष्यके लिए भी कहता हूँ कि इस पृथिवीपर गीताका अध्ययन-अध्यापन करनेवालेसे अधिक प्यारा कभी कोई होगा ही नहीं। तो जो भगवान्के इस दिव्य संगीतका, ऐसे दिव्य संगीतका जो युद्ध-भूमिमें, कर्म-भूमिमें प्रकट हुआ, स्वयं गायन करेगा और दूसरोंको भी सुनायेगा, उसे भगवान्के अनन्त प्रेमकी प्राप्ति होगी। यह ऐसा अद्भुत संगीत है, जिसमें कोई साज नहीं है—न तबला है, न सारंगी है, न वीणा है, न सितार है, यहाँतक कि भगवान्की प्रिय बाँसुरी भी नहीं है फिर भी इसकी इतनी महिमा है कि इसको सुनने-सुनाने और जीवनमें धारण करनेसे भगवान् प्रतिज्ञापूर्वक यह घोषणा करते हैं कि उससे बढ़कर मेरा प्यारा और कोई नहीं है।

प्रश्न उठता है कि गीतामें ऐसी क्या बात है ? उसको पढ़ने-पढ़ानेवाला और उसका श्रवण-मनन करने-करानेवाला भगवान्को इतना प्यारा क्यों है ? बात यह है कि वह बहुत बड़ा दान करता है, यज्ञ करता है। यज्ञमें कुछ देना और लेना दोनों होते हैं। जब हम अग्निमें आहुति डालते हैं तब वह देना हो गया और जब वेद-मन्त्रोंके उच्चारणके साथ आहुति देते समय अग्निकी जो ज्योति हमारे शरीरमें प्रविष्ट करती है, वह हमें स्वास्थ्य देती है, शुद्ध चरित्र देती है, पवित्र मन देती है और हमारी बुद्धि विकसित करती है। यज्ञमें एक चीज और होती है, उसपर आप ध्यान दें। उसके लिए कोई-न-कोई नियम ग्रहण करना पड़ता है—नियमित स्नान और सन्ध्यावन्दन करना, पवित्र वस्त्र धारण करना, यज्ञ-भूमिमें बैठना, सात्त्विक भोजन करना और शुद्ध आसनपर शयन करना आदि। इन नियमोंको धारण करनेपर अपने-आप बहुत-सी बातोंका त्याग हो जाता है और जीवनमें ऐसे आत्मबलकी वृद्धि होती है, जिससे हम किसी भी संकटका सामना कर सकते हैं। इसलिए कहा गया है कि 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'—

( कठ १.२.२३ ) जिसके जीवनमें आत्मबल नहीं है, उसको आत्मा और परमात्माका साक्षात्कार नहीं हो सकता।

हमारे श्रीउड़िया बाबाजीसे किसीने पूछा कि सिद्धि क्या होती है, बाबाजी बोले कि बरदाश्त करनेका नाम सिद्धि है। भूख सह लो तो अन्नकी सिद्धि हो जायेगी, बिना किसी सम्पदाके रह लो तो सम्पदा अपने-आप आने लगेगी। अपने संकल्पोंसे, विकल्पोंसे, संस्कारों-विकारोंसे मुक्त होकर बैठो तो आकाशमें फैले हुए बड़े-बड़े महापुरुषोंके विचार तुम्हारे हृदयमें आने लग जायेंगे। मनुष्य-जीवनका विकास सहिष्णुतासे ही होता है। 'पीडोद्भवया सिद्धया'—जितनी भी सिद्धियाँ निकलती हैं, वे सब कष्ट-सहनसे ही निकलती हैं। जो लोग बार-बार जेल गये, वे मन्त्री हो गये, राष्ट्रपति हो गये। जिन्होंने तपस्या की वे सिद्ध हो गये।

तो गीताका ज्ञान-यज्ञ है श्रवण-मनन। यह ज्ञान-यज्ञ आपके जीवनमें-से दो बातोंको निकालना चाहता है। श्रीकृष्ण गीता सुनानेके बाद पूछते हैं कि 'कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनंजय' अर्जुन, क्या तुम्हारा अज्ञान-सम्मोह नष्ट हुआ ? अज्ञान-सम्मोहका सीधा अर्थ है भूल, जो जीवनमें होती रहती है। गीता उन भूलोंको मिटा देती है। इसके अतिरिक्त वह दूसरी बात क्या मिटाना चाहती है, इसपर आप ध्यान दें—

**अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।**
**नानुशोचितुमर्हसि। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।**

श्रीकृष्ण अर्जुनसे यह नहीं कहते कि तुम अगले जन्ममें एक श्रेष्ठ पुरुष बनना। वे तो कहते हैं कि तुम इसी जीवनमें श्रेष्ठ पुरुष हो जाओ। स्वर्गमें जाकर देवता नहीं बनना, इसी जीवनमें देवता बन जाओ।

हमारे जीवनमें शोक और मोह छाये हुए हैं। शोक और मोह क्या होते हैं, यह देखिये। पहले शोकको लीजिये। जब हम अपने जीवनमें पीछे छूटी हुई अच्छाइयों अथवा बुराइयोंको याद करते हैं तब शोक होता है। शोक माने वह भूत-वृत्ति, जो हमारे वर्त्तमानको भूत लगा दे। आप लोग भूत-प्रेतकी बात सुनते होंगे। एक सज्जनकी श्रीमती तीस बरस पहले मर गयी थीं। एक दिन वे हमारे साथ भोजन

करने बैठे तो उनकी आँखोंसे झर-झर आंसू गिरने लगे। कारण पूछने पर उन्होंने बताया कि बढ़िया भोजन देखकर धर्म-पत्नीकी याद आ गयी। ऐसा ही बढ़िया भोजन वह बनाती और अपने हाथोंसे परोसती थी। इसीको बोलते हैं भूत लगना। उन सज्जनको अपनी धर्म-पत्नीका भूत लगा था, बीती हुई बात उनके वर्तमानपर छायी हुई थी। उनको वर्तमानका सुख नहीं मालूम पड़ता था, उनके वर्तमानको भूत अभिभूत कर देता था। महाभारतके अनुसार यह उत्तम पुरुषका लक्षण नहीं है।

अब जो मनुष्यको भय लगा रहता है वह क्या है? वह भविष्यद्-वृत्ति है। आगे कहीं ऐसा न हो जाये, वैसा न हो जाये। यह भी हमारा एक मानसिक दोष है। अरे भाई, यदि सचमुच भय आनेवाला है तो डरते क्यों हो, उसका सामना करनेकी तैयारी करो। यदि वह नहीं आया तो ठीक है, अन्यथा आगया तो उसका सामना करो। भयका सामना करो उसकी चिन्ता मत करो। भय ऐसी चीज है कि उसके आते ही हृदयकी धड़कन बढ़ जाती है, चिन्ता आते ही सिर में दर्द होने लगता है। जब वर्तमानपर भविष्य छा जाता है, तो इस समय हमारे पास जो कुछ भी है, वह सब दब जाता है। भविष्य हमारे वर्तमानको दबा देता है।

और मोह? मोह यह है कि वर्तमानमें हमारे पास जो कुछ है, वह बना रहे और साथ-साथ चले। जैसे हमारी उम्र चलती है, वैसे वह भी हमारे साथ चले। लेकिन महाराज चाहे जो भी उपाय करो, ये काले बाल साथ नहीं चलेंगे। ये चम-चम चमकते दाँत भी साथ नहीं देंगे, यह चमकना चेहरा भी साथ नहीं देगा, धन-दौलत तो आती-जाती रहती है, बढ़ती-घटती रहती है—यह भी साथ नहीं देगी। इसलिए जो बीत गया उसको बीत जाने दो, जो आनेवाला है उसको आने दो और जो वर्तमान है इसमें कहीं अटको मत। इससे मोह मत करो। हम आपको पहले भी बता चुके हैं कि शोक माने पाँवका पीछे फिसलना, भय माने पाँवका आगे फिसलना और मोह माने वर्तमानके दलदलमें फँस जाना। तुम इनके चक्करमें पड़ोगे तो तुम्हारी प्रगति रुक जायगी, उन्नति रुक जायगी। इसलिए तुम्हें शोक, भय और मोह तीनोंसे मुक्त होना है तथा उनसे मुक्त करनेकी सामर्थ्य केवल गीतामें है। इसीलिए कहते हैं—

यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे।
भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा॥

श्रीमद्भा १.७.७

गीता शोक-मोहभयापहा है। शोक, मोह, भय ये तीनों मानसिकरण हैं; शोक भी मनमें होता है, भय भी मनमें होता है और मोह भी मनमें होता है। इसलिए जहाँ जो चीज होती है, वहाँसे ही हटायी जाय तभी वह हटती है। यदि कहो कि पहले हम इसके कारणको हटायेंगे—जैसे किसी रोगके कारण शोक हुआ तो रोगको हटायेंगे, तो यह उपाय ठीक नहीं है। क्योंकि रोग तो एक जाता है, दूसरा आता है। जिन्दगीमें रोग आते ही जाते रहते हैं। उनके साथ शोक भी लगा ही रहेगा। इसलिए आप निमित्तको दूर करके शोकमुक्त नहीं हो सकते और निमित्तको दूर करके मोहमुक्त नहीं हो सकते तथा निमित्तको दूर करके भयमुक्त नहीं हो सकते। इनसे मुक्त तो तब होंगे जब आप अपने मनको, हृदयको, अन्तःकरणको शुद्ध बनायेंगे और उसमें भगवान्‌की भक्ति तथा ज्ञानकी स्थापना करें। देखो, यहाँ भी भक्ति-ज्ञानका समन्वय! गीता कहती है—

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः।

जो मर गया, उसके लिए शोक मत करो। क्योंकि वह तो मर ही गया और जो जिन्दा है उसके लिए भी शोक मत करो; क्योंकि वह तो जिन्दा ही है। मृतके लिए भी शोक नहीं, जीवितके लिए भी शोक नहीं। हृदयमें एक सामञ्जस्य आना चाहिए। गीताकी मुक्ति मरनेके बाद मिलनेवाली मुक्ति नहीं है, गीताका सुख मरनेके बाद मिलनेवाला सुख नहीं है, गीता तो इसी जन्ममें इसी समय आपको जीवन-मुक्ति और शाश्वत सुख प्रदान करनेके लिए आयी है। यह भगवती गीता हमारे त्राणके लिए अवतीर्ण हुई हैं। अर्जुन 'शोकसंविग्नमानसः'—शोकग्रस्त और धर्मसंमूढचेता, मूढ़ हो गया था। इतना ही नहीं, वह विराट् रूपको देखकर भयोद्विग्न भी हो गया था—'भयेन च प्रव्यथितं मनो मे'। परन्तु भगवती गीताने उसके हृदयसे शोक, मोह और भय इन तीनोंको भगा दिया। जैसा कि मैंने कहा, यह भगवती गीता मरनेके बाद हमारा अदृश्य—आँखोंसे ओझल उपकार करनेके लिए नहीं, इसी जीवनमें तत्काल कल्याण करनेके लिए आयी है। गीता हमारी माँ है और माँ

अपने बच्चेको तत्काल सुखी करना चाहती है। यह माँका स्वभाव है कि वह रोते हुए बच्चेपर तत्काल ध्यान देती है। इसलिए यह गीता माता भी रोते हुए अर्जुनको तत्काल सुखी करनेके लिए अवतीर्ण हुई।

महाभारतकी गायत्री अलग है और वेदोंकी गायत्री अलग है। 'गायनं त्रायते'—गायत्री वह है जो गानेवालेकी, जय करनेवालेकी, पाठ करनेवालेकी रक्षा करे, पालन करे। 'त्रायते'में रक्षा और पालन दोनों है। गायत्री भी पालन करती है और रक्षा करती है। अनिष्टसे बचाती है और इष्ट-दान करती है।

चारों वेदोंमें मिलनेवाली गायत्री ईश्वरका प्रत्यक्ष दर्शन कराती है। कहती है—आओ-आओ, ईश्वरका दर्शन करो। कहाँ है ईश्वर? यह रहा हमारी बुद्धिके पीछे। हमारी बुद्धि क्षण-क्षणपर बदल रही है, वृत्तिपर-वृत्ति आ-जा रही है और मैं देख रहा हूँ। परन्तु बुद्धिके और हमारे बीचमें वह कौन बैठा है, जो बुद्धिका संचालन करता है, बुद्धिको प्रेरणा देता है? बुद्धिके सामने जो कुछ है—उसकी तरफ आप ध्यान न दें। जो आपके सामने है और आपकी बुद्धिके पीछे बैठकर बुद्धिको चला रहा है उसको देखिये—'धियो यो नः प्रचोदयात्'। हाथ कंगनको आरसी क्या? ईश्वर पीछे देखनेकी वस्तु नहीं है, वह तो हमारे सामने रहकर हमारी बुद्धिको प्रेरणा दे रहा है, बुद्धिका संचालन कर रहा है। 'प्रचोदयात्'का अर्थ केवल प्रेरणा करे, ऐसा नहीं होता। उसका अर्थ 'प्रेरयति' भी होता है, माने इसी समय वह हमारी बुद्धिका संचालन कर रहा है।

दिलके आइनेमें है तस्वीरे यार,
जब जरा गर्दन झुकाई देख ली।

भगवान् हमसे दूर नहीं, वह तो हमारे दिलमें है। है न अद्भुत बात? वह मरनेके बाद, स्वर्गमें जानेके बाद, वैकुण्ठमें जानेके बाद अथवा हम मरकर मुक्त होंगे—ऐसी बात नहीं है। वह तो अभी-अभी मिलनेवाला नकद माल है।

गीता 'मा शुचः'का सन्देश लेकर आयी है। वह कहती है कि—

मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव।

अर्जुन, तुम्हें दैवी सम्पत्ति मिली है और दैवी सम्पदामें शोकके लिए स्थान नहीं है। दैवी सम्पदा तो यह है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥

अर्जुन, तुम्हारे अन्दर ये सभी सद्‌गुण हैं। दैवी सम्पदा, दिव्य सम्पत्ति, दैव सम्पत् तुम्हारे अन्दर आ चुकी है। इसलिए अब शोक मत करो।

मनुष्यका मन ऐसा है कि उसपर जो प्रभाव पड़ता है वह प्रकट हो जाता है। यदि कोई व्यक्ति कहीं बाहरसे अपमानित होकर पिटकर घरमें लौटे तो वह जैसे चिड़चिड़ाया हुआ होता है, वैसे ही जो लोग नरकसे या दुःख भोगकर आते हैं वे कुछ चिड़चिड़ाये होते हैं, सबके ऊपर बरस पड़ते है, टूट पड़ते हैं। उन्हें चोट तो लगी होती है पहाड़में, किन्तु वे घरकी कील फोड़ना चाहते हैं, घरमें आकर अपने भोगे हुए दुःखका बदला लेना चाहते हैं। ऐसे ही लोगोंके सम्बन्धमें भागवतका कहना है कि—

'मन एव मनुष्यस्य पूर्वरूपाणि शंसति।'

कोई आदमी रुईके गोदाममें-से निकल आवे तो उसके शरीरमें इसकी गन्ध आती है, वैसे ही जो संसारमें दुःखी हैं, क्रोधी हैं, कामी हैं, लोभी हैं, वे किसी गन्दी जगहसे आये हैं। अच्छाजी, अब ऐसे आदमी जायँगे कहाँ— जरा यह देखो ! वे प्रेमसे पाँव रख रहे हैं, प्रेमसे देख रहे हैं, प्रेमसे बोल रहे हैं, अपने प्रियके पास जा रहे हैं या घबराये—चिड़-चिड़ाये हुए हैं, बेमनसे जा रहे हैं, पाँव पटकते हुए जा रहे हैं और इधर-उधर देखते हुए जा रहे हैं। बुद्धके जीवनमें दस चर्याओंका वर्णन है। कामी पुरुषकी चाल कैसी होती है, क्रोधवाले पुरुषकी चाल कैसी होती है और चिन्तावाले पुरुषकी चाल कैसी होती है, इसका पता चल जाता है। इसका भी पता चल जाता है कि आगे ये मुक्त होंगे कि नहीं ? 'भविष्यगतश्च भद्रं ते तथा च न भविष्यतः'—यह भी ज्ञात हो जाता है कि अब इनका पुनर्जन्म नहीं होगा, ये लोकान्तरमें नहीं जायँगे, निर्वासन हो जायेंगे, जीवन-मुक्त हो जायेंगे।

आप दूसरोंको न देख सकें तो अपने-आपको ही देख लें, पहचान लें। आपकी वासना पूरी होती है तब आप सुखी होते हैं या वासनाकी निवृत्ति होती है तब सुखी होते हैं? यदि वासना पूरी होनेसे सुखी होते हैं तो अभी आपको संसारमें रहना है। लेकिन यदि आप वासनाकी निवृत्तिसे सुखी होते हैं तो समझिये कि आप संसारसे मुक्त होनेवाले हैं। इस प्रकार अपने-आपके या दूसरोंको देखनेपर स्थितिका पता चल जाता है।

हर्षस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्॥
स्वर्गारोहेण ५.६१

यह महाभारतकी गायत्री है। इसका अर्थ है कि हजार बार शोक-ग्रस्त होना और हजार बार भयग्रस्त होना मूढ़ पुरुषका लक्षण है। बारम्बार शोक और भय मूढ़के जीवनमें आते हैं, ज्ञानीके, समझदारके जीवनमें नहीं आते।

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने एक ओर तो यह बताया कि यदि हमारे जीवनमें सद्‌गुण आजायँ तो शोक, मोह और भयके लिए कोई स्थान नहीं रहेगा। त्वं-पदार्थकी प्रधानतासे दिव्य-दिव्य सद्‌गुणोंको धारण करनेपर हमारा जीवन शोक, मोह और भयसे मुक्त हा जायगा और दूसरी बात यह बतायी कि तत्पदवाच्यार्थ भगवान्‌की शरणमें जाओ।

इस दूसरी बातको स्पष्ट करते हुए भगवान् श्रीषण कहते हैं कि मेरे प्यारे सखा, मेरे प्यारे हृदयधन अर्जुन, सुनो! मैं तुम्हें दिलकी बात बताता हूँ, अपना हृदय तुमको देता हूँ। आज मैं तुम्हें गीताका उपदेश नहीं कर रहा हूँ, अपना हृदय दे रहा हूँ। यही मेरी पूँजी है, यही मेरा सर्वस्व है। यह मेरी छातीके भीतर छिपा हुआ है। परन्तु तुम्हें ऐसी अवस्थामें देखकर हमारा सर्वस्व अपने-आप ही प्रकट हो गया और वह मैं तुम्हें दे रहा हूँ। बस; मेरा यही कहना है कि: 'मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥' मेरी शरणमें आओ, मैं तुमको सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा।

शोकके बहुत सारे निमित्त हैं। एक निमित्त है पाप। पापसे दुःखकी उत्पत्ति होती है। मनुजीने कहा है—'आत्मा वैवस्वतो नाम'—हमारे

हृदयमें धर्मराज रहते हैं। 'तेन चेद् अविवादस्य'—यदि उनसे तुम्हारा कोई लड़ाई-झगड़ा नहीं है, विवाद नहीं है तो तुमको तीर्थयात्रा करनेकी आवश्यकता नहीं है, सब तीर्थोंका तीर्थ तुम्हारे हृदयमें है। क्योंकि हृदयमें बैठे हुए धर्मराज तुमपर सन्तुष्ट हैं।

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मनः।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत्॥

तुम आत्मतुष्टि और आत्मग्लानिपर ध्यान रखो। यदि बुरे काम करोगे तो तुमको आत्मग्लानि जरूर होगी, दुःख जरूर होगा और यदि आत्मतुष्टिसे भरकर काम करोगे तो तुम उसी समय उस सत्कर्मका फल भोगोगे। जब आत्मतुष्टि होती है तब सत्कर्म तुरन्त सुख देता है। आप स्वयं सोचो कि जब आप किसीको दुत्कार देते हो तो आपके मनमें ग्लानि होती है कि नहीं? यदि आप एक रोते हुएको हँसा दें, एक मनहूसको मुस्कान दे दें और एक दुःखीको एकबार सुखी कर दें तो यह आपका बड़ा भारी काम है। आप ही सोचें कि यदि आप जब किसी प्यासेको एक गिलास पानी पिलाते हो तो आपके मनमें सन्तोष होता है कि नहीं? आपकी यह गीता आपको इसी समय परमानन्द देनेवाली है। यह भगवती गीता आनन्द बाँटती हुई, रस बाँटती हुई, ज्ञान बाँटती हुई, जीवन बाँटती हुई सङ्गीतकी धारा प्रवाहित कर रही है। गीताका कहना है कि आपके हृदयमें ईश्वरका निवास है और ईश्वर 'पुण्यो गन्धः' है। उसके द्वारा तुम्हारे हृदयमें-से एक सौरभ, एक सुगन्ध निकलकर फैल रही है। 'रसोऽहमप्सु कौन्तेय'—ईश्वर रस है। इसलिए तुम्हारे हृदयमें-से रसकी फुहारें छूट रही हैं। ईश्वर सौन्दर्य-माधुर्यका निधान है, इसलिए तुम्हारे जीवनमें सौन्दर्य-माधुर्य प्रस्फुटित हो रहा है।

ईश्वर बड़ा कोमल है, बड़ा सुकुमार है। वह दयासे, प्रेमसे, करुणासे, वात्सल्यसे भरा हुआ है। इसलिए तुम्हारे जीवनमें भी ये सारे सद्गुण प्रकट होने चाहिए। ईश्वरमें अनन्त पौरुष है, इसलिए तुम्हारे भीतर भी एक बड़ा भारी पौरुष, एक बड़ी भारी शक्ति भरी पड़ी है; जिसके द्वारा तुम चाहो तो दुनियाको उलट-पलट सकते हो। तुम सुगन्धके, माधुर्यके, सौन्दर्यके, सौकुमार्यके, सौस्वर्यके एकमात्र

आश्रय हो। तुम्हारे जीवनसे आनन्दकी, रसकी, मधुकी गङ्गा प्रवाहित होनी चाहिए। देखो, यह मन्त्र क्या कहता है—

मधु वाता मधु क्षरन्ति सिन्धवः। ऋग्वेद १.९०.६

मधु-मधु-मधु, चारों ओर मधु-ही-मधु। तुम्हारे जीवनसे मधु-ही-मधु बिखरे। तुम दुनियाको रुलानेके लिए नहीं पैदा हुए हो, दुनियाको लड़ानेके लिए नहीं पैदा हुए हो, तुम अपने स्वार्थ और भोगकी पूर्तिके लिए नहीं पैदा हुए हो। तुम तो उस ईश्वरके अंश हो, उस ईश्वरमें-से निकले हो जो सम्पूर्ण विश्वको अपने सुखसे, आनन्दसे भर दे।

तो गीता माता इस ज्ञानका, इस जीवनका वितरण करने आयी हैं, जो सत् है, चित् है और आनन्द है। मैं पहले बाइबिलमें यह वचन पढ़ा करता था कि—'तुम सब मेरे पास आओ, मैं तुम्हें शान्ति दूँगा।' परन्तु यह वचन निकला कहाँसे है? देखिये, यह गीतामें-से निकला है—

मामेकं शरणं व्रज। त्वां सर्वपापेभ्यो अहं मोक्षयिष्यामि। मा शुचः।

यही तो है वह मूल स्रोत जिसमें-से बाइबिलका उक्त आश्वासन-वाक्य निकला है। हमारी गीता कहती है कि—भरोसा दूसरेका मत करो, एकमात्र मेरे भरोसेपर आजाओ। मैं तुम्हें सारी अविद्यासे छुड़ा दूँगा, दुःखसे छुड़ा दूँगा।

अच्छा, दुःखसे तो छुड़ा दोगे। लेकिन दुःखका कारण तो पाप है। हुआ करे, मैं उस पापसे भी छुड़ा दूँगा। केवल पापसे ही नहीं, पापका कारण कर्तृत्व है, उससे भी छुड़ा दूँगा। कर्तृत्वका कारण भोक्तृत्व है, भोगके लिए ही कर्तृत्व आता है, इसलिए उससे भी छुड़ा दूँगा। फिर कर्तृत्व और भोक्तृत्वका कारण जो अज्ञान है, उस अज्ञानको भी छुड़ा दूँगा—'सर्वपापेभ्यः मोक्षयिष्यामि।'

लौकिक अभिमानका क्या होगा? यह अभिमान तो ऐसा है जो धर्म करनेवालेको भी हो जाता है, जरूर हो जाता है। किन्तु धर्माभि-मानीको पापका अभिमान भी करना पड़ेगा। जो अपने पुण्यको प्रदर्शित करेगा, धारण करेगा और यह कहेगा कि मैंने यह पुण्य किया, उसके द्वारा जब कभी पाप होगा तो उसकी जिम्मेवारी भी उसको अपने ऊपर लेनी पड़ेगी। यहाँ एक बात कहनेमें थोड़ा सङ्कोच होता है, क्योंकि

पता नहीं कैसे-कैसे लोग बैठे हैं, लेकिन मुझे विश्वास है कि समझदारोंसे सोचनेपर अन्यथा नहीं समझेंगे। मैं एक महात्माकी कुटियापर गया तो देखा कि उसके दरवाजेपर एक श्लोक लिखा था—

सर्वागीता मयाधीता प्राप्ता दृष्टिरियं मया।
सर्वधर्मपरित्यागी सर्वपापैः प्रमुच्यते॥

इसका मतलब यह है कि—मैंने सारी गीता पढ़ ली और इस निश्चयपर पहुँचा कि यदि हम सब धर्मोंका परित्याग कर दें तो सब पापोंसे भी छूट जायँगे। यह सुनकर आप हँस लीजिये, लेकिन इसके तात्पर्यपर भी विचार कीजिये। जब श्रीकृष्ण कहते हैं कि तुम धर्म छोड़कर आओ, तो उसका अर्थ है धर्मका अभिमान छोड़कर आओ अन्यथा तुम्हें धर्मके अभिमानके साथ-साथ पापका अभिमान भी करना पड़ेगा। यदि तुम भगवान्‌को केवल मीठा-मीठा अर्पित कर दोगे अर्थात् केवल धर्म समर्पित कर दोगे तो भगवान् कहेंगे कि अरे, इसने अपने घरमें जो-जो अच्छाई थी वह सब मुझको दे दी, अब मेरा यह कर्त्तव्य है कि इसके पास जो-जो बुराई है, जो-जो दुःखदायी है उससे मैं इसे छुड़ाऊँ, अन्यथा मुझपर 'मीठा-मीठा गप्प, कड़ुवा-कड़ुआ थू'की भी लोकोक्ति चरितार्थ हो जायगी। लोग कहेंगे कि अच्छाईके अभिमानी तो भगवान् हो जाते हैं और बुराई दूर करनेके लिए जीवको कहते हैं तो, वह बेचारा कैसे दूर करेगा? इसलिए भगवान् कहते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत् तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥

तुम जो कुछ भी करते हो, वह सब—केवल अपने पुण्य ही नहीं, अपने पाप भी—मुझको दे दो। इसी तरह जो खाते हो, जो होम करते हो, जो दान करते हो और जो तपस्या करते हो, वह मुझे समर्पित कर दो। मेरे प्यारे अर्जुन, बोलो, या प्रतिज्ञा करो—

यत्करोमि यदश्नामि यज्जुहोमि ददामि यत्।
यत् तपस्यामि भगवन् तत् करोमि त्वदर्पणम्॥

श्रीमद्भागवतमें 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' उद्धवसे भगवान् कहते हैं, क्या बढ़िया अर्थ है, ।

मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे ।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो मयाऽऽत्मभूयाय च कल्पते वै ॥
श्रीमद्भा० ११.२९.३४

देखो उद्धव, मनुष्य मौतसे घिरा हुआ है 'सर्वतो मृत्युः' मनुष्यके चारो ओर मृत्यु घेरा डाले हुए है। इसलिए उसे चाहिए कि वह अपने बल-पौरुषका अभिमान छोड़कर मेरी ओर देख ले, बस केवल एक बार देख ले और निवेदितात्मा—हाथ जोड़कर मेरी आँखसे आँख मिला ले, मेरे चरण-नखपर आँख जमाकर खड़ा हो जाय। जानते हो क्या होगा ?—

सन्मुख होहिं जीव मोहि जबहीं ।
जन्म कोटि अघ नासहुँ तबहीं ॥

लेकिन अघका नाश साधारण नहीं है, कर्म-सिद्धान्तके अनुसार अघ कहते हैं—'न हन्यते भोगं विना इति अघः ।' भोगके बिना जिसका नाश न हो, उसको बोलते हैं—अघ। लेकिन अघ कबतक अटल है ? जबतक मनुष्य भगवान्‌की ओर पीठ करके और दुनियाकी ओर मुँह करके खड़ा है। इसलिए जहाँ हो वहींसे जरा घूम जाओ और मेरे सम्मुख हो जाओ। जब संसारकी मृत्युसे और अभिमानसे अपना मुँह मोड़कर यह जीव भगवान्‌की ओर देखता है, तब भगवान् कहते हैं—'विचिकीर्षितो मे'। मया विशिष्टं कर्तुम् इच्छा—'विचिकीर्षितम्'—मैं स्वयं चाहता हूँ कि उसको विशिष्ट बना दूँ। अबतक यह साधारण मनुष्य रहा है, अब यह महापुरुष हो जाय, सत्पुरुष हो जाय, इसके अन्दर मेरी विशेषताएँ प्रकट हो जायँ और जब मैं चाहता हूँ कि यह विशिष्ट हो जाय—'तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो मयाऽऽत्मभूयाय च कल्पते वै ।'—तब उसको अमृतत्वकी प्राप्ति हो जाती है और वह मुझसे एक हो जाता है।

भगवान्‌ने भागवतमें फिर कहा कि देखो मेरी बातका ज्यादा ध्यान मत करो—'आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयाऽऽदिष्टानपि स्वकान्' अर्थात्

अपने गुण-दोषोंकी ओर मत देखो, तुम तो केवल 'धर्मान् संत्यज्य सर्वान् भजतु माम'।—धर्मका अभिमान छोड़कर सर्वथा निरभिमान होकर मेरे सामने आजाओ। इतनेसे ही तुम देखोगे कि मेरी सेवा हो रही है।

देखो, भगवत्सेवामें बाधक अभिमान ही है। अभिमानी पुरुष किसीकी भी सेवा नहीं कर सकता। न प्रान्तकी सेवा कर सकता है, न राष्ट्रकी सेवा कर सकता है। न जातिकी सेवा कर सकता है और न मानवताकी सेवा कर सकता है। वह तो जो कुछ भी करेगा उसके द्वारा अपने अभिमानकी ही सेवा करेगा। इसलिए अभिमानसे छूटना अनिवार्य है। दुनियाके लोग यह चाहते हैं कि हम करेंगे तो सेवा, लेकिन करेंगे अपने अधिकारके अन्तर्गत। हमने अमुक संस्था स्थापित कर रखी है। हमारी वह संस्था बहुत बढ़िया है, लेकिन उसपर कण्ट्रोल हमारा ही रहेगा। इस धारणाके कारण बड़े-बड़े श्रद्धालु भी सेवाभ्रष्ट हो जाते हैं, अच्छी-अच्छी संस्थाएँ भी अन्तमें मार्गभ्रष्ट हो जाती हैं। अन्ततोगत्वा ऐसी संस्थाएं सार्वजनिक सेवासे विरत होकर व्यक्तिकी सेवा तक ही सीमित रह जाती हैं। तो भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवजी से फिर कहते हैं—

तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम्।
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च॥
मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम्।
याहि सर्वात्मभावेन मया स्याद्यकुतोभयः॥

अर्थात् क्या प्रवृत्ति है और क्या निवृत्ति है, यह झगड़ा न कभी निपटा है, न कभी निपटेगा, इसलिए छोड़ो इसको। क्या विधि है और क्या निषेध है इसको पूर्णरूपसे किसने जाना है? किसने साक्षात्कार किया है इसका? इसलिए इसके विवादमें मत पड़ो। तुमने जितना सुना है, जाना है और जितना सुनना-जानना बाकी है, इसको भी छोड़ दो। तुम मेरी शरणमें आओ—'मामेकमेव शरणम्'।

बाबा, बात तो तुम्हारी ठीक है पर तुम हो कहाँ कि तुम्हारी शरणमें आयें? जरा दिख तो जाओ। भगवान् बोले कि—'आत्मानं

सर्वदेहिनाम्'—जितने भी देहधारी हैं उन सबके भीतर हूँ। दीया अलग है, तेल अलग है, बत्ती अलग है; परन्तु लौमें जो आग है, अग्नि हैं, वह एक है। दीयोंके जलानेका स्थान अलग हो, समय अलग हो, वे अलग-अलग दीखें; लेकिन सबके भीतर अग्नि एक है। 'अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव'—प्रत्येक बल्बमें रोशनी अलग मालूम पड़ती है, लेकिन रोशनी एक है, बिजली एक है। यहाँतक कि प्रत्येक बल्बमें उसमें भी जो माटी, पानी, आग है, वह भी एक ही है। तो ये जो देहधारी हैं, मनुष्य हैं, जन-जन हैं, मन-मन हैं, कण-कण हैं उन सबके भीतर एक परमात्मा है। वही सबका आत्मा है, वह सबके भीतर है। इसलिए—'याहि सर्वात्मभावेन'—सबकी आत्माके रूपमें भगवान्‌को पहचानो। गीताके पन्द्रहवें अध्यायमें आया है—'स सर्व-विद्भजति मां सर्वभावेन भारत'।

भगवान्‌की सेवा कैसे होती है? सर्वभावसे होती है। भगवान्‌ने मछली बनकर, कछुआ बनकर, यहाँतक कि सूअर बनकर भी दिखा दिया कि मछली, कछुआ और सूअरसे भी कितनी सेवा होती है कि जलकी शुद्धि मछली बनकर करते हैं और सूअर बनकर पृथिवीकी गन्दगी साफ करते हैं। इसी तरह वीरता-शूरता प्रकट करनेके लिए भगवान् सिंह बन जाते हैं। देखो, भगवान्‌के विविध रूप।

लतामें भगवान् हैं, वृक्षमें भगवान् हैं, पीपलमें भगवान् हैं, तुलसीमें भगवान् हैं, धरतीमें भगवान् हैं, वेदमें भगवान् हैं, इसको कहते हैं स्थाली-पुलाक-न्याय। ये सब भगवान्‌की प्रकृति हैं, भगवान्‌का स्वभाव हैं। ऐसे भगवान्‌की शरणमें जानेका अर्थ है—सर्वत्र भगवद्भाव होना, सर्वात्मभाव होना, केवल भगवान्‌का ही दर्शन होना।

अब भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवसे कहते हैं कि तुम इस प्रकार मेरा दर्शन करके 'अकुतोभयः' हो जा—तुम्हें किसी प्रकार भय नहीं होना चाहिए। गीतामें भी भगवान् अर्जुनसे यही कहते हैं कि तुमने गीता सुनी। तुम्हारे जीवनका शोक-मोह और भय नष्ट हुआ—'कच्चिदज्ञान-सम्मोहः प्रनष्टस्ते धनंजयः।'

भगवान् यह नहीं कहते कि तुमने गीता सुन ली, अब तेरे मोहका नाश हो जायगा। इससे सिद्ध है कि गीता वायदेका सौदा नहीं है।

आप जानते हैं कि पासमें माल-मत्ता कुछ न हो तो बाजारसे वायदेका सौदा चलता है। वायदेका सौदा माने—आगे ऐसा होगा, वैसा होगा। लेकिन यहाँ तो भगवान् कहते हैं कि—अर्जुन बोलो, साफ-साफ बोलो कि तुम्हारा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया कि नहीं? और अर्जुन भी छाती ठोंककर बोलते हैं कि—हाँ, प्रभो! 'नष्टो मोहः'—मेरा मोह नष्ट हो गया है। इतना ही नहीं 'स्मृतिर्लब्धा'—मुझे तो स्मृतिकी प्राप्ति हो गयी और हमारे भी मनकी सारी उलझनें, सारी गाँठें, सारी ग्रन्थियाँ, सारी समस्याएँ सुलझ गयीं सबका समाधान हो गया—'स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः'। छन्दोग्य० ७.२६.२

यह सब कैसे हुआ अर्जुन? ऐसे हुआ कि तुम मेरे अन्तःकरणमें मुस्कुरा रहे हो, तुम मेरे ऊपर प्रसन्न हो। तुम्हारी प्रसन्नतासे ही ऐसा हुआ है। अब मेरे मनमें कोई संशय नहीं है—'स्थितोऽस्मि गतसन्देहः।' तुमने बारम्बार कहा था कि—'उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भारत' 'युद्धस्व विगत-ज्वरः'। मामनुस्मर युध्य च।' वह सफल हुआ। अब मैं इस जीवन-संघर्षके लिए, इस जीवन-युद्धके लिए तैयार हूँ। अब इस सृष्टिमें ऐसी कोई भी शक्ति नहीं है जो मुझे पराजित कर सके। अब मैं तुम्हारी आज्ञाका पालन करनेके लिए तैयार हूँ—'करिष्ये वचनं तव'। इसलिए सञ्जय कहते हैं।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥

देखो, गीता 'धर्मक्षेत्र'के 'ध'से प्रारम्भ हुई और 'मम'के 'म'से समाप्त हुई। इस प्रकार धर्मसे, भक्ति-ज्ञानके समन्वयसे सम्पुटित है। यह गीताका धर्म्यं संवाद है, धर्म्यामृत है, मनुष्यको अमर बनानेके लिए अमृत है। देवताओंके जीवनमें कोई अमृत था या नहीं हम नहीं जानते, लेकिन गीतामृत हमारे सामने है। आओ अभी पीओ और अमर हो जाओ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

•

## आभार-ज्ञापन

देवियो और सज्जनो ! आज इस मंगलमय समारोहकी समाप्ति हो रही है। हमारी प्रार्थनापर स्वामीजी यहाँ पधारे और नौ दिनोंतक भक्ति-ज्ञानकी गङ्गा बहाते रहे। इसमें जो जितना गहरा उतरा, उसको उतने ही रत्न हाथ लगे।

स्वामीजीने हमें बताया कि जब ईश्वरका ज्ञान होता है तब भक्ति होती है और जब भक्ति होती है तब ज्ञान होता है। गोस्वामी तुलसीदासजी भी यही कहते हैं—

जाने बिनु परतीति न होई। बिनु परतीति प्रीति नहिं होई॥
प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई। जिमि खगेस जलकी चिकनाई॥

इस प्रकार ज्ञान और भक्ति परस्पर प्रतिद्वन्दी नहीं, एक-दूसरेके पूरक हैं, अनुयायी हैं और इनमें आपसमें समन्वय है। इस बार स्वामीजीने विषयको इतने अच्छे रोचक ढंगसे समझाया कि भक्ति और ज्ञान दोनों ही हमारे सामने अपने अभिन्न रूपमें साकार हो गये तथा हमें उनको हृदयङ्गम करनेमें कोई कठिनाई नहीं हुई।

स्वामीजीने महाकवि कालिदासकी उक्तिका उल्लेख करते हुए बताया कि इस संसारके सुख-दुःख एक चक्केके दो हिस्से हैं, कभी कोई हिस्सा ऊपर जाता है तो कभी कोई हिस्सा नीचे चला जाता है। इसलिए हमें दुःख-सुख दोनोंसे विचलित नहीं होना चाहिए। दुःखसे घबराना नहीं चाहिए और सुखके प्रति आसक्ति नहीं होनी चाहिए। संसारकी रीतिके अनुसार जो आया है, वह चला जायगा और जो चला गया है वह आयेगा। श्रीकृष्णके शब्दोंमें तो जो आगमापायी हैं, अनित्य हैं, उन्हें सहना ही पड़ेगा।

इस सम्बन्धमें भक्त कवियोंकी जो मान्यता है, वह बड़ी ही सुन्दर है। एक भक्तका कहना है—

जो प्रभु दीनो सो बड़ी करि मानो।

और गोस्वामी तुलसीदासजी तो कहते हैं कि—

हारिये न हिम्मत बिसारिये न हरि नाम,
जाही बिधि राखे राम ताही विधि रहिये।

यदि हम भी यह दृष्टिकोण अपना लें तो हमें कभी दुःख और विघ्नका अनुभव नहीं होगा।

स्वामीजीके शब्दोंमें हमारा आत्मा ही परमात्मा है और हमें दोनोंकी एकता—अभिन्नताका बोध होना चाहिए, तभी हम अपने कर्मों द्वारा सर्वात्मा प्रभुकी सेवा कर सकेंगे।

मुझे प्रसन्नता होती है आप सबको यह सूचित करते हुए कि स्वामीजीने आगामी वर्ष इन्हीं दिनों पुनः यहाँ पधारनेका वचन दिया है। आशा है, आपने इतने दिनोंतक जो कुछ सुना है, उसे सालभर तक गुनेंगे और अगले वर्ष फिर स्वामीजीके सारगर्भित प्रवचन सुननेके लिए समय निकालेंगे। आप लोगोंने इतनी रुचि लेकर जो इस आयोजनको सफल बनाया है, उसके लिए आप सबको हमारा हार्दिक धन्यवाद है।

अन्तमें मैं स्वामीजीके प्रति अपना हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ, जिन्होंने कृपापूर्वक हम लोगोंको गीताके उपदेशोंसे लाभान्वित किया है।

—लक्ष्मीनिवास बिरला

प्रवचन : अनन्त श्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती जी महाराज

संकलन : श्रीमती सतीशबाला महेन्द्रलाल जेठी

प्रकाशक : सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट